इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए
डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के निर्देशन में प्रस्तुत शोध-प्रबंध

हिन्दी उपन्यास के चरित्र में अजनबीपन (Alienation) की भावना

प्रस्तुतकर्त्ता

विद्याशंकर राय

हिन्दी–विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

१९७८

प्राक्कथन्

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आधुनिक हिन्दी उपन्यासों को समझने-समझाने की प्रक्रिया का परिणाम है । निष्कर्षात्मक विवेचन की अपेक्षा यहाँ हिन्दी उपन्यासों के अध्ययन को गत्यात्मक रखते हुए रचनागत संदर्भों में से उभरनेवाले उन विशिष्ट संकेतों को पकड़ने का प्रयास किया गया है जो कृति की आधुनिकता से जुड़े हैं । उपन्यासों के अध्ययन की परम्परित और शास्त्रीय पद्धति से अलग हटकर किये गये इस प्रयत्न की कुछ विशेषताएँ हैं तो कुछ सीमाएँ भी । समकालीन आलोचना के संदर्भों को शोध के धरातल पर विवेचित करने की यह कुछ स्वाभाविक प्रक्रिया होगी । अजनबीपन का संदर्भ वास्तव में आधुनिक हिन्दी उपन्यास में आये मौलिक और गुणात्मक बदलाव को उसकी सम्पूर्णता में आत्मसात करने- कराने का एक विशिष्ट और विनम्र प्रयास है । आधुनिक साहित्य को सिर्फ़ परम्परित मूल्यों से नहीं जाना जा सकता । उसे समझने के लिए सामाजिक संरचनाओं की जटिलताओं तथा आर्थिक दबावों के ढाँचों को उनके समाज शास्त्रीय और राजनीतिक परिप्रेक्ष्यों में पहचानना होगा । हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा में अजनबीपन के संदर्भों की तलाश को इस दृष्टि से समझा जा सकता है । यही कारण है कि चौथे अध्याय में विवेचन का क्रम उपन्यासों के प्रकाशन के तिथि-क्रम पर आधारित है ।

उपन्यासों में विशेष रुचि होने के कारण मैंने यह विषय शोध कार्य के लिए चुना । शोध कार्य के दौरान जिन विद्वानों की कृतियों व विचारों से मेरी चिन्तन- प्रक्रिया को गति और ठोस आधार मिला उनमें डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ , डॉ० रघुवंश, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी , डॉ० बच्चन सिंह , प्रो० विजयदेव नारायण साही, प्रो० सुदीप्त

कविराज, श्री विश्वम्भर "मानव" तथा श्री दूधनाथ सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं ।

यह शोध-प्रबन्ध जिस रूप में भी प्रस्तुत हुआ है, उसका सारा श्रेय शोध-निदेशक डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी का है । उनकी विचारोत्तेजक बहसों तथा शोध-पत्रों पर की गई बहुमूल्य टिप्पणियों व उनके प्रोत्साहन से प्रस्तुत प्रबन्ध अपना आकार ग्रहण कर सका ।

मैं अपने उन अनेक मित्रों व शुभेच्छुओं का आभारी हूं जिनके सहयोग व प्रेरणा से यह कार्य संभव हो सका ।

विद्याशंकर राय

(विद्याशंकर राय)

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

१- अजनबीपन की अवधारणा : पाश्चात्य स्रोत — १ - २१

२- भारतीय संदर्भ और अजनबीपन — २२ - ४१

३- हिन्दी उपन्यास का जातीय चरित्र — ४२ - ८३

४- हिन्दी उपन्यासों में अजनबीपन का संक्रमण : — ८४ - २४५

"त्यागपत्र" (१९३७) से लेकर "लाल टीन की छत" (१९७४) तक विशिष्ट और प्रतिनिधि उपन्यासों में अजनबीपन का प्रत्यय।

(१) "त्यागपत्र" (२) शेखर : एक जीवनी (३) चांदनी के खण्डहर (४) काले फूल का पौधा (५) खाली कुर्सी की आत्मा (६) तंतुजाल (७) पत्थर युग के दो बुत (८) अजय की डायरी (९) पचपन खंभे लाल दीवारें (१०) अँधेरे बंद कमरे (११) अपने-अपने अजनबी (१२) यह पथ बंधु था (१३) वे दिन (१४) टूटती इकाइयाँ (१५) एक कटी हुई जिंदगी : एक कटा हुआ काग़ज़ (१६) लोग (१७) बैसाखियोंवाली इमारत (१८) एक पति के नोट्स (१९) रुकोगी नहीं राधिका? (२०) दूसरी बार (२१) न आनेवाला कल (२२) कुछ ज़िंदगियाँ बेमतलब (२३) अपना चेहरा (२४) यात्राएं (२५) सफ़ेद मेमने (२६) कटा हुआ आसमान (२७) मरीचिका (२८) बीमार शहर (२९) मुरदा-घर (३०) लाल टीन की छत।

५- मूल्यांकन: — २४६ - २५२

"हिन्दी उपन्यास के चरित्र में अजनबीपन की भावना

परिशिष्ट — २५३ - २५८

प्रथम अध्याय

अजनबीपन की अवधारणा : पाश्चात्य स्रोत

प्रथम अध्याय

अजनबीपन की अवधारणा : पाश्चात्य स्रोत

अजनबीपन की भावना आधुनिक समाज की एक बहुचर्चित, जटिल तथा बहुमुखी अवधारणा है। इसके अभाव में आधुनिक सामाजिक मन:स्थिति का विशिष्ट पक्ष प्रकाश में नहीं आ पाता। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आलोचनाशास्त्र आदि के क्षेत्र में विभिन्न संदर्भों में यह शब्द आजकल प्रयुक्त हो रहा है। इसकी अर्न्तगत संश्लिष्टता व जटिलता के मूल में विभिन्न शास्त्रों में अनेकानेक अर्थों में किया गया प्रयोग है।

अजनबीपन शब्द अंग्रेज़ी भाषा में व्यवहृत " एलियनेशन " (ALIENATION) का पर्याय है। " एलियनेशन " के पर्याय रूप में हिन्दी भाषा में कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं - अलगाव[1], परायापन[2], निर्वासन[3], बिलगाव, स्वत्व-अंतरण[4], एकाकीपन, बेगानापन, विरानापन, उखड़ापन, विदेशीपन आदि इत्यादि। किन्तु उपर्युक्त शब्दों की तुलना में अजनबीपन शब्द " एलियनेशन " के विभिन्न संदर्भों को बड़े सक्षम रूप से अपने भीतर समेट लेता है। इसी से प्रस्तुत शोध-प्रबंध में " एलियनेशन " के पर्याय रूप में अजनबीपन का प्रयोग सर्वत्र किया गया है

" एलियनेशन " अंग्रेज़ी भाषा के कठिनतम और विवादास्पद शब्दों में से एक है। शताब्दियों से अंग्रेज़ी भाषा में इसका प्रयोग विभिन्न संदर्भों और भिन्न-भिन्न अर्थों में होता रहा है। " कीवर्ड्स " के अनुसार इसका

१- " आधुनिक समाज में अलगाव (" एलियनेशन ") की समस्या " -
शिवदान सिंह चौहान, " आलोचना " दिसंबर, १९६६, पृ० १।

२- " आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण " -
डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, १९६९, पृ० २२३।

३- " उपन्यास : स्थिति और गति "
डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, १९७७, पृ० १८८।

४- " स्वत्व-अंतरण " (" एलियनेशन ") के बारे में " -
कपिलमुनि तिवारी, " धरातल " अंक ४, जून, १९७८, पृ० १७।

पूर्ववर्ती शब्द " एलिनैसियान " (Alienacion) मध्ययुगीन फ्रैंच का था जो लैटिन शब्द " एलिनैसियानम " (Alienationem) से निकला है । इसका व्युत्पत्ति की दृष्टि से मूल शब्द " एलिनैयर " (Alienare) है जिसका शाब्दिक अर्थ संबंध-विच्छेद अथवा संबंध में तनाव या परायेपन की अभिव्यक्ति से है । वस्तुत: यह लैटिन शब्द " एलाइनस " (Alienus) से जुड़ा है जिसका अर्थ दूसरे व्यक्ति या स्थान से संबंधित है और इसका मूल शब्द है " एलियस " (Alius) जिसका तात्पर्य है पराया या दूसरे का[५]।

१४वीं शती से अंग्रेजी भाषा में इसका प्रयोग तनावपरक कार्य या तनाव की स्थिति के लिए होता रहा है । सामान्यत: इस तनावपरक कार्य या स्थिति का संबंध ईश्वर विमुख स्थिति या किसी व्यक्ति, समूह या किसी स्वीकृत राजनीतिक सत्ता से अलगाव को घोषित करने का रहा है । १५वीं शती से इसके अर्थ में एक परिवर्तन परिलक्षित होता है । इस शब्द का प्रयोग किसी भी वस्तु के स्वामित्व परिवर्तन या हस्तांतरण के लिए होने लगता है । स्वेच्छया और वैधानिक हस्तांतरण से अलावा आगे चलकर यह शब्द अनुचित, अवांछनीय, अवैध तथा बलात् हस्तांतरण के लिए भी प्रयुक्त होने लगा और जिसका अर्थ इस प्रकार की स्थिति से था जिसमें किसी चीज़ को छीन लिया गया हो । १५वीं शती से लैटिन भाषा में इसका प्रयोग हानि, अलगाव या मानसिक शक्तियों के बिखराव और पागलपन के लिए होने लगा था ।

" इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका " के अनुसार " एलिएनेशन " से तात्पर्य सम्पत्ति के स्वामित्व-अंतरण से है ; यद्यपि इसके मनोवैज्ञानिक अर्थ का उल्लेख गौण रूप में किया गया है[६]। " इन्साइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइंसेज़ " में इसका प्रयोग सम्पत्ति के स्वामित्व-अंतरण के संदर्भ में किया है गया है[७] लेकिन

५- " कीवर्ड्स " - रैमण्ड विलियम्स फोन्टाना कम्युनिकेशंस सीरिज, तृतीय संस्करण, १९७६, पृ० २९ ।

६- " इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ", खण्ड १, १९६४, पृ० ६३३ ।

७- " इन्साइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइंसेज़ " खण्ड १, द मैकमिलन कं०, न्यूयार्क, १९६३, पृ० ६३९ ।

पूर्ववर्ती शब्द " एलिनैसियान " (Alienacion) मध्ययुगीन फ्रेंच का था जो लैटिन शब्द " एलिनैसियानम " (Alienationem) से निकला है। इसका व्युत्पत्ति की दृष्टि से मूल शब्द " एलिनेयर " (Alienare) है जिसका शाब्दिक अर्थ संबंध-विच्छेद अथवा संबंध में तनाव या परायेपन की अभिव्यक्ति से है। वस्तुत: यह लैटिन शब्द " एलाइनस " (Alienus) से जुड़ा है जिसका अर्थ दूसरे व्यक्ति या स्थान से संबंधित है और इसका मूल शब्द है " एलियस " (Alius) जिसका तात्पर्य है पराया या दूसरे का[५]।

१४वीं शती से अंग्रेज़ी भाषा में इसका प्रयोग तनावपरक कार्य या तनाव की स्थिति के लिए होता रहा है। सामान्यत: इस तनावपरक कार्य या स्थिति का संबंध ईश्वर विमुख स्थिति या किसी व्यक्ति, समूह या किसी स्वीकृत राजनीतिक सत्ता से अलगाव को घोतित करने का रहा है। १५वीं शती से इसके अर्थ में एक परिवर्तन परिलक्षित होता है। इस शब्द का प्रयोग किसी भी वस्तु के स्वामित्व परिवर्तन या हस्तांतरण के लिए होने लगता है। स्वेच्छया और वैधानिक हस्तांतरण के अलावा आगे चलकर यह शब्द अनुचित, अवांछनीय, अवैध तथा बलात् हस्तांतरण के लिए भी प्रयुक्त होने लगा और जिसका अर्थ इस प्रकार की स्थिति से था जिसमें किसी चीज़ को छीन लिया गया हो। १५वीं शती से लैटिन भाषा में इसका प्रयोग हानि, अलगाव या मानसिक शक्तियों के बिखराव और पागलपन के लिए होने लगा था।

" इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका " के अनुसार " एलियनेशन " से तात्पर्य सम्पत्ति के स्वामित्व-अंतरण से है; यद्यपि इसके मनोवैज्ञानिक अर्थ का संकेत गौण रूप में किया गया है[६]। " इन्साइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइंसेज़ " में इसका प्रयोग सम्पत्ति के स्वामित्व-अंतरण के संदर्भ में किया है गया है[७] लेकिन

५- " कीवर्ड्स " - रेमण्ड विलियम्स फोन्टाना कम्युनिकेशंस सीरिज, तृतीय संस्करण, १९७६, पृ० २९।

६- " इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ", खण्ड १,१९६४,पृ० ६३३।

७- " इन्साइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइंसेज़ " खण्ड १, द मैकमिलन कं०, न्यूयार्क, १९६३, पृ० ६३६।

" एलिएनिस्ट " के तात्पर्य को मन: चिकित्साशास्त्री के औषधीय दायरे से अलगाते हुए उसके कानूनी और समाजशास्त्रीय संदर्भों को आधुनिक सामाजिक परिवेश के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित किया गया है[८]।

" एलियनेशन " के विभिन्न अर्थों का उलझाव जर्मन और अंग्रेजी मूल शब्दों के पारस्परिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में देखने से स्पष्ट हो जाता है। हैगेल द्वारा अपनी पुस्तक " फेनामिनोलाजी ऑव माइंड " में प्रयुक्त जर्मन शब्द " एन्टाउजर्न " (Entaussern) मूलतया अंग्रेजी शब्द अलग होना, हस्तांतरण वंचित हो जाना का पर्याय है और इस संदर्भ में इसका एक अतिरिक्त किन्तु विशिष्ट अर्थ अलगाव की अभिव्यक्ति भी सामने आता है। हैगेल द्वारा प्रयुक्त दूसरा जर्मन शब्द " एन्फ्रेम्डन " व्यक्तियों की परस्पर तनावपरक स्थिति या कार्य को द्योतित करता है[९]। अंग्रेजी का " एलियनेशन " शब्द परम्परा से प्राप्त इन दोनों जर्मन शब्दों के अर्थ को ध्वनित करता है।

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने अजनबीपन (" एलियनेशन ") की चर्चा करते हुए लिखा है कि आजकल इसे हैगेलीय के बजाय मार्क्सीय तथा अस्तित्ववादी संदर्भों में प्रयुक्त किया जा रहा है जिसके दो तात्पर्य हैं (१) निर्वासन (एस्ट्रेंजमेंट) तथा (२) पदार्थीकरण (रिइफिकेशन)। पहली एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपने समाज या समूह या संप्रदाय से दूरी, अलगाव या अपनेपन के ह्रास का अनुभव करता है और दूसरी स्थिति दार्शनिक है, जिसमें व्यक्ति एक पदार्थ या वस्तु हो जाता है तथा अपनी निजता खो बैठता है[१०]।

८- " इन्साइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइंसेज़, खण्ड १, द मैकमिलन कं०, न्यूयार्क, १९६३, पृ० ६४१ ।

९- " कीवर्ड्स - रेमण्ड विलियम्स, फोन्टाना कम्युनिकेशंस सीरिज, तृतीय संस्करण १९७६, पृ० ३१ ।

१०- " आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण ", पृ० २२३ ।

आज दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों द्वारा अजनबीपन शब्द का प्रयोग आत्मविश्वास खोने, सामाजिक संबंधों से विलगाव, अकेलापन, अर्थशून्यता, चिन्तित अवस्था, परायापन, निराशा, अविश्वास आदि के संदर्भ में किया जाता है ।[११] यह शब्द ऐसा है जो कई अर्थों को ध्वनित करता है । सामान्य अर्थों में इसे अपने से या इस संसार से कट जाने के मतलब में लिया जाता है । पर इसका विशिष्ट और सूक्ष्म अर्थ परम्परागत सांस्कृतिक ढांचे में उत्पन्न गतिरोध से है । प्रौद्योगिक, धर्मनिरपेक्ष और वस्तुपरक समाज व्यक्ति के जीवन में खालीपन उभारता है । इसमें व्यक्ति की अस्मिता खो जाती है और व्यक्ति अपने को एक इकाई के रूप में नहीं अनुभव कर पाता तथा कई शक्तियां विपरीत दिशाओं में कार्य करने लगती हैं । जो कुछ घटित होता है उस पर चाहकर भी नियंत्रण नहीं हो पाता । अजनबीपन की स्थिति में व्यक्ति जितना दूसरे व्यक्तियों और वस्तुओं से दूर होता है उतना स्वयं अपने से भी । वस्तुत: अजनबीपन की भावना में दार्शनिक स्तर की पीड़ा है जिसमें व्यक्ति को चोट लगती है कि आखिर हम समाज से अलग क्यों हैं ? इसके साथ विषाद और उदासी की भावना घुली-मिली रहती है ।

आधुनिक मनुष्य प्रकृति, ईश्वर और समाज से कट गया है । संभवत: यह संसार के इतिहास में पहली बार हुआ है जब मनुष्य स्वयं अपने लिए समस्या बन गया है । आज का मनुष्य एक तरफ़ दूसरे ग्रहों पर अपना निवास बनाना चाहता है और दूसरी तरफ़ उसका अपने संसार से संबंध टूट रहा है । मनुष्य दिन प्रतिदिन इस विश्व के रहस्यों को उद्घाटित करने में लीन है । नियमत: इस प्रक्रिया में उसे इस दुनिया से और जुड़ना चाहिए किन्तु इसके ठीक विपरीत घटित होता है । सामान्य अर्थों में मनुष्य पूरे विश्व से परिचित है पर दूसरी तरफ़ वह अपने पड़ोसी से भी अपरिचित है । वर्तमान काल में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्रुत प्रसार से गांव और शहर के परम्परित ढांचे में जबर्दस्त बदलाव

११- 'मैन अलोन : एलिएनेशन इन मॉडर्न सोसायटी ', सं० एरिक और मैरी जोसेफसन, डेल पब्लिशिंग कं०, न्यूयार्क, मार्च, १९६६ ; भूमिका ।

आया है । वैज्ञानिक सभ्यता के गहरे संघात के फलस्वरूप नये-नये संबंध विकसित हुए । इन नवविकसित संबंधों से मनुष्य सही अर्थों में नहीं जुड़ पाया । पारम्परिक रिश्तों से जड़ उखड़ने से पुराने किस्म के संबंध अर्थहीन हो गये और मनुष्य निराधार हो गया । मशीनीकरण, वस्तुपरकता, आपसी प्रतिस्पर्द्धा और भीषण भाग दौड़ से यह संसार आकृतिविहीन हो गया है । इस निराकार संसार से मनुष्य किसी प्रकार का रागात्मक संबंध विकसित नहीं कर पाता । इस असमर्थता से अजनबीपन का बोध पनपता है । अजनबीपन मूलत: एक सामाजिक - मनोवैज्ञानिक अवस्था है जिस अंतर्गत मनुष्य अनुभव करता है कि वह समाज से बहिष्कृत व उपेक्षित है तथा वह समाज, सामाजिक नियमों- उपनियमों व परम्पराओं को प्रभावित करने में नितान्त असमर्थ है । एक विद्वान सीमन ने ` आन द मीनिंग ऑव एलिएनेशन ` नामक अपने एक लेख में लिखा है कि अजनबीपन के मूल में असमर्थता या विवशता की भावना है जिससे क्रमश: सामाजिक जीवन की अर्थहीनता व आदर्शहीनता उजागर होती है और मूल्यगत खोखलेपन का अनुभव होता है जो धीरे-धीरे सामाजिक जीवन की उदासीनता और अलगाव में बदलकर मनुष्य के जीवन को एकाकीपन और अजनबीपन की भावना से भर देता है ।[१२] इस तरह सब मिलाकर जीवनगत असमर्थता, विवशता, अर्थहीनता, आदर्शहीनता, मूल्यगत खोखलापन , अलगाव , अकेलापन , परायापन और आत्म-निर्वासन की अनुभूति अजनबीपन की भावना के मूल प्रेरक तत्व हैं ।

आजकल अजनबीपन शब्द अपने सामान्य ढीले-ढाले और अनिश्चित अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है । विभिन्न संदर्भों में इसका भिन्न-भिन्न अर्थ किया जाता है । विद्वानों का मत है कि इसके बढ़े-चढ़े अर्थों के पीछे समाज-शास्त्रीय कारण है । इस समय अजनबीपन का तात्पर्य पूंजीवाद के मानव व्यक्तित्व पर पड़े जटिल प्रभावों के योग से उत्पन्न एक विशेष प्रकार के अनुभव की दशा से है जिसमें व्यक्ति अपने आपको इस दुनिया में और अपने जीवन में एक अजनबी अनुभव करता है ।[१३]

१२- `कीवर्डस` -रेमण्ड विलियम्स , फोन्टाना कम्युनिकेशन सीरिज़, तृतीय संस्करण, १९७६, पृ० ३२ ।

१३- ` एलिएनेशन एण्ड लिटरेचर` - सुदीप्त कविराज, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, मैगज़ीन , दिस० ७३, मार्च, ७४, पृ० ६३ ।

ईसाइयों के अधिकांश धार्मिक साहित्य में अजनबीपन की भावना छिपी मिलती है ।[१४] धर्म की सतत धारणा के पीछे मानव की मानवता की अपूर्णता है । प्राय: यह तेज़ी से महसूस किया जाता है कि वर्तमान समाजों में मानवीय आकांक्षा की अतृप्ति का तथ्य सही और वास्तविक है । धार्मिक विचार पूर्णतावादी होते हैं । इनका सामान्य मौलिक सिद्धान्त मनुष्य की आकांक्षाओं की तृप्ति से है जो सर्वशक्तिमान ईश्वर के अनुग्रह से संपन्न होता है । आकांक्षाओं की तृप्ति या मनुष्य की संपूर्णता - ये सामान्य धार्मिक सिद्धान्त है जबकि अतीत में या आज के समाज के नियम- क़ानून ऐसे हैं जो हमेशा व्यक्ति को इससे दूर रखते हैं या रखने की कोशिश करते हैं । धर्म इस मूल कठिनाई को दूर करने के लिए स्वर्ग या परलोक की कल्पना विकसित करता है जहाँ इस दुनिया की सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं । मनुष्य वर्तमान जीवन की कमियों की पूर्ति स्वर्ग या परलोक की कल्पना में करता है । इसी कल्पना में अजनबीपन के बीज निहित है[१५] । धर्म ने मानवीय दशाओं के भीतर के असंतोष को अजनबीपन की समस्या के रूप में रेखांकित करके महत्वपूर्ण कार्य किया यद्यपि इसका समुचित हल वह नहीं पेश कर सका । और जो हल प्रस्तुत किया उसमें पलायन का स्वर प्रमुख है जो अजनबीपन के बोध को और गहराता है ।

' द आउटसाइडर ' के बहुचर्चित लेखक कॉलिन विल्सन अजनबीपन को सब से पहले एक सामाजिक समस्या मानते हैं ।[१६] उनका कहना है कि कोई अजनबी व्यक्ति इसलिए है क्योंकि वह सत्य के लिए आरूढ़ है, चीज़ों को गहराई से देखता है तथा चरम सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है ।[१७] अतिरिक्त संवेदनशीलता वाले व्यक्ति के अंदर अजनबीपन की भावना तेज़ी से पनपती है ।[१८]

१४- ' एलियनेशन एण्ड लिटरेचर ' - सुदीप्त कविराज, इला० यूनि० मैगज़ीन, दिस० ७३- मार्च, ७४, पृ० ४७ ।

१५- वही, पृ० ५० ।

१६- वही, पृ० ५२ ।

१७- ' द आउटसाइडर ' - कॉलिन विल्सन, १९६०, पृ० १।

१८- वही, पृ० १३ और पृ० १५ ।

का उद्धरण देते हैं जो अजनबी व्यक्ति की मानसिक बुनावट पर पर्याप्त प्रकाश डालता है :-

"यह जीवन किस लिए है ? मरने के लिए ? आत्म हत्या करने के लिए ? नहीं मैं डरता हूं । तब क्या मुझे तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक मृत्यु स्वयं नहीं आ जाती ? मैं इससे भी ज्यादा भयभीत हूं । तब मुझे जरूर जीना चाहिए । लेकिन किस लिए ? क्या मरने के क्रम में ? और मुझे इस चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता है । मैं पुस्तक लेता हूं, पढ़ता हूं और क्षण भर के लिए स्वयं को भूल जाता हूं लेकिन फिर वही प्रश्न और वही आतंक सामने आ जाता है । मैं लेट जाता हूं और आंखें बंद कर लेता हूं । इसके बाद भी यह सब से बुरी स्थिति है ।[२६]

कॉलिन विल्सन अजनबी व्यक्ति की समस्याओं को वास्तविक समस्याएं मानते हैं, पागलपन से उत्पन्न विभ्रम नहीं ।[२७] अजनबी व्यक्ति की मूल समस्या है -" मैं कौन हूं ?[२८] आत्म विश्वास खोने के कारण जीवन स्वयं में उसके लिए समस्या बन जाता है । उसके मानसिक तनाव और बेचैनी के पीछे" मानव जीवन की अनिश्चितता का वस्तुपरक कारण"[२६] उसकी संवेदना में मौजूद है । उसकी रुचि " अत्यधिक बढ़े दबावों" और" तेज गति"[३०] में होती है । वस्तुत: अजनबी व्यक्ति इस दुनिया में अजनबी होना नहीं चाहता, वह चाहता है कि वह एक स्वच्छ संतुलित विचारोंवाला आदमी बने । वह" सांसारिक तुच्छता"[३१] से हमेशा के लिए ऊपर उठकर जीने की दृढ़ इच्छा के अधीन रहना चाहता है । पर ऐसा वह कर नहीं पाता । वह वस्तुत: धर्म का निषेध नहीं करता अपितु

२६-" द आउटसाइडर" - कॉलिन विल्सन में पृ०१५६ पर जेम्स ज्वायस का उद्धरण ।
२७- वही, पृ० १३५-१३६ ।
२८- वही, पृ० १५३ ।
२६- वही, पृ० १८३ ।
३०- वही, पृ० १६७ ।
३१- वही, पृ० २०२ ।

वर्न उसके आगे इतना दयनीय हो जाता है कि वह उसे स्वीकार नहीं कर पाता।[३२] अजनबी व्यक्ति होने का मतलब है कि वह इस योग्य हो सके कि इस दुनिया की सड़ांध और विभ्रमों का अनुभव कर सके।[३३] अंत में कॉलिन विल्सन का निष्कर्ष है कि अजनबी व्यक्ति की समस्या उस संसार को देखने की एक दृष्टि देती है जिसे निराशावादी कहा जा सकता है।[३४] पर यह निराशावाद वैध और उचित है तथा यहीं से वह अजनबी व्यक्ति व्यावहारिकता या व्यावसायिकता जैसे गुणों को अपने में विकसित करने से इन्कार कर देता है जो आज की हमारी जटिल सभ्यता में जीने के लिए जरूरी है।[३५] वर्तमान समाजों में व्यक्ति के अजनबी होने का मतलब यही है। उसका सौभाग्य इस बात में छिपा रहता है कि वह अपने लिए नया विश्वास व और नई आस्था बटोरने में सामर्थ्य रखता है। वह इन्द्रिय ज्ञान को पूर्ण सजीवता में प्राप्त करना चाहता है। इन सब से ऊपर वह यह जानना पसंद करता है कि कैसे वह स्वयं को अभिव्यक्त करे क्योंकि वे सब साधन हैं जिनके द्वारा वह स्वयं की जानकारी और अनजानी संभावनाओं का संकेत पाता है।[३६]

रूसो (१७१२-१७७८) के भावनात्मक निराशावाद और प्रकृति की ओर लौट चलने की अपील में अजनबीपन की स्थिति को देखा जा सकता है। रूसो के लिए अजनबीपन मूल रूप में मनुष्य का प्रकृति से अलगाव है।[३७] एक ओर आदर्श के रूप में स्थित प्रकृति है और दूसरी ओर कृत्रिम वास्तविकता - इन्हीं दो स्तरों के बीच उत्पन्न हुआ अवरोध अजनबीपन है। इस प्रकार रूसो के अनुसार सभ्यता अजनबीपन के मूल में है।[३८] १७५० ई० में प्रकाशित " विज्ञान

३२- वही, पृ० २०५ ।
३३- वही, पृ० २१४ ।
३४- वही, पृ० २७६ ।
३५- वही, पृ० २६१ ।
३६- वही, पृ० २०२ ।
३७- " एलिएनेशन एण्ड लिटरेचर " - सुदीप्त कविराज , पृ० ५२ ।
३८- वही, पृ० ५२ ।

एवं ललित कलाओं का नैतिक प्रभाव' शीर्षक लंबे निबंध में वह कहता है कि जिस प्रकार कला एवं विज्ञान ने उन्नति की है, हमारे मस्तिष्क भी उसी अनुपात में दूषित हो गये हैं।[३९] रूसो का विचार था कि सभ्यता का बढ़ता दबाव मनुष्य को अपने सहज नैसर्गिक स्वभाव से दूर हटाकर उसके सामाजिक सभ्य आचरण और प्राकृतिक स्वाभाविक व्यवहार में दरार उत्पन्न करता है। इस तरह सभ्य समाज का तंत्र मनुष्य की अस्मिता को खंडित और विकृत कर मनुष्य को इस दुनिया में अजनबी बना देता है। इस विचारधारा का अगला चरण फ्रायड (१८५६-१९३७) की 'सिविलाइजेशन एण्ड इट्स डिसकाटेन्ट्स', 'द फ्यूचर ऑव एन इल्यूजन' आदि रचनाओं में व्यक्त यौन केन्द्रित मनोवैज्ञानिक विचारों में मिलता है जिसके अनुसार सभ्यता, सामाजिक परम्पराओं और नैतिकता के प्रचलित प्रतिमानों के अंकुश और दबाव से तथा रति-भाव (लिबिडो) के दमन के फलस्वरूप व्यक्ति अपने को सामाजिक आदर्शों व मूल्यों से कटा हुआ और अजनबी पाता है।

स्तेफान मोरावस्की ने एक जगह संकेत किया है कि हेगेल से भी पहले जर्मन दर्शन की पूरी परम्परा अलगाव की समस्या खड़ी करने की दिशा में ले जाती है।[४०] इस संदर्भ में उन्होंने विंकेलमान, कांट, शिलर, हाउनेराइल आदि के नाम गिनाये हैं[४१] जिन्होंने सम्पन्न और सुसंगत व्यक्तित्व को समसामयिक जीवन के विखण्डन के विरुद्ध प्रस्तुत किया। एक दूसरे विद्वान डॉ० पैट्रिक मास्टर्सन डेकार्ट (१५९६-१६५०) के नये विचारों में अजनबीपन के स्रोत को देखते हैं[४२] जिसने व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में समझने और उसकी विचारशीलता पर जोर दिया। पैट्रिक मास्टर्सन, डेकार्ट के महत्व को रेखांकित करते हुए कहते हैं, 'डेकार्ट के क्रांतिकारी विचारों ने नवीन दृष्टिकोण के लिए एक रास्ता खोला, एक नये संसार का

३९- 'रूसो की तीन वार्ताएँ' - ज्याजेक रूसो, अनु० मोतीलाल भार्गव, हिंदी समिति, १९६४, पृ० १०।

४०- 'मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय विचार' - स्तेफान मोरावस्की, 'आलोचना' अक्टूबर-दिसं०, ७०, अनु० प्रेमेन्द्र, पृ० १२।

४१- वही, पृ० १२।

४२- 'एथिइज्म एण्ड एलिनेशन' - पैट्रिक मास्टर्सन, पेलिकॉन बुक्स, १९७३, पृ०२१।

जन्म हुआ । समाज और इतिहास से धर्म को समझने का नया तरीका निकला । इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के प्रति अधिक सचेत हुआ ।[43] इसी अजनबीपन की समस्या ने ठोस और मूर्त रूप में जन्म लिया ।[44]

पर इन सब चिन्तकों में अजनबीपन की सुगठित धारणा का नितान्त अभाव मिलता है । अजनबीपन का एक अवधारणा के रूप में सब से पहले प्रयोग हीगेल (१७७०-१८३१) ने अपनी पुस्तक 'द स्प्रिट ऑव क्रिश्चियानिटी एण्ड इट्स फेट' (१७९८-९९) में अपने आदर्शवादी दर्शन के मान्यताओं के अनुरूप आध्यात्मिक अर्थों में किया । यहूदी धर्म की कटु आलोचना करते हुए वह कहता है कि यह सर्वशक्तिमान ईश्वर के नाम पर व्यक्ति को पूर्णतया उसका गुलाम बना देता है । एक तरफ़ सर्वशक्तिमान निरंकुश ईश्वर है और दूसरी तरफ़ उससे अलग कटे हुए दुनिया के लोग हैं । हीगेल का कहना है कि क्राइस्ट की शिक्षाओं की यह कोशिश है कि वह मनुष्य और ईश्वर के बीच के अलगाव को पाट दे ।[45] और ऐसा उन्होंने प्रेम के सहारे किया ।[46] हीगेल धर्म को एक ऐसी दार्शनिक बौद्धिक चेतना में रूपान्तरित करके देखता है जहाँ मनुष्य और ईश्वर का एकत्व स्थापित हो जाता है ।[47] हीगेल के अनुसार इस तरह ईश्वर के निरंकुश रूप की स्वीकृति और उपस्थिति अजनबीपन के मूल में है । और इस अजनबीपन से मुक्ति उस परम चेतना में है जहाँ ईश्वर और मनुष्य का एकत्व स्थापित होता है ।[49]

लुडविग फायरबाख़ (१८०४-७२) ने सब से पहले अजनबीपन को धर्म निरपेक्ष वस्तुपरकता प्रदान की ।[50] सन् १८४१ में प्रकाशित अपनी

४३- 'ऐथीज्म एण्ड एलिएनेशन' - पैट्रिक मास्टर्सन, पेलिकन बुक्स, १९७३, पृ०२१ ।
४४- वही, पृ० २९ ।
४५- वही, पृ० ४७ ।
४६- वही, पृ० ४८ ।
४७- वही, पृ० ५० ।
४८- वही, पृ० ६५ ।
४९- वही, पृ० ६८ ।
५०- 'एलिएनेशन एण्ड लिटरेचर' - सुदीप्त कविराज, पृ० ५३ ।

महत्वपूर्ण कृति "द इसैन्स ऑव क्रिश्चियानिटी" में धर्म पर तीखा प्रहार किया और कहा कि धर्म मनुष्य को उसके स्वत्व से अलग कर अजनबी बना देता है ।[५१] उन्होंने ईसाई विश्वासों पर सशक्त और तर्कपूर्ण ढंग से चोट की[५२] और ज़ोर देकर कहा कि धर्म का आदि, मध्य और अंत मनुष्य ही है ।[५३] फायरबाख़ का महत्व इस बात में है कि इसने हेगेल के दर्शन की अपर्याप्तता, खोखलेपन और आदर्शवादी रुझान के खिलाफ़ बहुत बड़ा प्रश्नचिन्ह लगा दिया । फायरबाख़ के अजनबीपन के सिद्धान्त का बाद के दर्शनों पर विशेष रूप से मार्क्सवाद पर गहरा असर पड़ा ।

कार्ल मार्क्स (१८१८-८३) अजनबीपन की अवधारणा को बिल्कुल नया समस्यात्मक अर्थ प्रदान कर इसका प्रयोग पहले पहल सामाजिक संदर्भों में करते हैं । सन् १८४४ ई० में मार्क्स ने "अजनबी श्रम"[५४] की जो समस्या विकसित की थी उससे आज भी पूंजीवादी समाज में मनुष्य की स्थिति और इसका उसके वस्तुपरक उत्पादन पर प्रभाव के रूप में विचार किया जा सकता है । मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को वस्तुओं के स्तर पर उतार दिया जाता है और सारी वस्तुओं में वही सब से ज्यादा अभागा होता है । श्रमिक उतना ग़रीब होता जाता है जितना अधिक कि वह धन उत्पन्न करता है या जितनी अधिक उत्पादन के आकार में वृद्धि होती है । एक श्रमिक उतना ही सस्ता होता जाता है जितनी मात्रा में वह वस्तुएं तैयार करता है । जैसे- जैसे वस्तुओं के संसार में मूल्यगत वृद्धि होती है, मानवीय संसार का अवमूल्यन होता जाता है । मनुष्य के श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु और उसका उत्पादन अजनबी करनेवाली वस्तु के रूप में उसके सामने आने लगता है । इस प्रकार वस्तु की दूसरों के लिए बढ़ती उपयोगिता उसके लिए

५१- "रीलिजन एण्ड एलिएनेशन" - पैट्रिक मास्टर्सन, पृ० ७२ ।

५२- वही, पृ० ७७ ।

५३- "द बिगनिंग, मिडिल एण्ड एंड ऑव रिलीजन इज़ मैन" - "द इसैन्स ऑव क्रिश्चियनिटी" - फायरबाख़ अनु० सं०- जॉर्ज इलियट, हार्परटार्च बुक्स, न्यूयार्क, १९५७, पृ० १८४ ।

५४- "एलिएनेटेड लेबर" शीर्षक मार्क्स का लेख जो सन् १८४४ ई० में "इकोनॉमिक एण्ड फिलासाफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑव १८४४" में मूलरूप से प्रकाशित

अजनबीपन के रूप में उभरती है ।[५५] यह श्रम श्रमिक से परे पूर्ण स्वतंत्रता के साथ वस्तुओं के रूप में अपना अस्तित्व रखता है जो उसे अजनबी करनेवाली स्वचालित शक्ति के रूप में उसके और उसकी वस्तुओं में विरोध पैदा करता है । इस तरह एक श्रमिक अपने को अजनबी महसूस करता है । यह अजनबी श्रम मनुष्य को उसके मानव शरीर से, प्रकृति से, उसके अपने आत्मिक तत्व मनुष्यत्व से अजनबी कर देता है ।[५६]

यह फायरबाख़ के सिद्धान्त का अगला विकास है कि अजनबी केवल मनुष्य स्वयं हो सकता है । यदि श्रम का फल मज़दूर के हिस्से में नहीं जाता है तो यह अजनबीपन की प्रमुख शक्ति के रूप में कार्य करने लगता है । यह केवल इसलिए है क्योंकि श्रम का फल मज़दूर के बजाय के बजाय किसी और को मिलता है । अगर उसके श्रम का फल उसे ही मिलता तो उसका जीवन प्रसन्नता व आनंद से परिपूर्ण होता । मार्क्स ने स्पष्ट रूप से कहा कि ईश्वर नहीं, न तो प्रकृति केवल मनुष्य ही मनुष्य के ऊपर अजनबीपन की शक्ति के रूप में कार्य करता है ।[५७]

पूंजीवाद का संसार विशुद्ध रूप से संकीर्ण तकनीकी बौद्धिकता का संसार होता है जो मनुष्य का प्रयोग केवल साधनों के रूप में करता है और सम्पूर्ण संसार को साध्य-साधन के चौखटे के रूप में देखता है । इस प्रकार पूंजीवादी समाज का लक्ष्य मानवीय संदर्भों से अलग-थलग हो जाता है - ज्यादा उत्पादन, ज्यादा तकनीकी, अधिक कार्य कुशलता और प्रत्येक वस्तु का आधिक्य । पर यह सब केवल अपने लिए है, " व्यक्ति " के लिए कम से कम है । मनुष्य वैयक्तिक रूप से साधन होता है और सामूहिक रूप में मानवता के तौर पर अमूर्त हो जाता है । पूंजीवादी समाज ही क्यों अजनबीपन की भावना उत्पन्न करता है ? शोषण पर आधारित दूसरी सामाजिक व्यवस्थाएं क्यों ऐसा नहीं करती और करती भी हैं तो कम से कम इस स्तर तक नहीं । इसके लिए मार्क्स ने स्पष्ट रूप से संकेत किया

५५- " मैन एलोन : एलिएनैशन इन माडर्न सोसायटी " में संकलित कार्ल मार्क्स का " इस्ट्रेन्ज्ड लेबर " शीर्षक लेख, पृ० ९५ ।

५६- वही, पृ० १०१ ।

५७- " एलिएनेशन एण्ड लिटरेचर " - सुदीप्त कविराज, पृ० ६२ ।

है और यह उसका विश्वास था कि अजनबीपन केवल पूंजीवादी समाज में पूर्ण रूप से पनप सकता है । क्योंकि यह केवल पूंजीवादी समाज है जिसमें मनुष्य अपने को पूर्णतया खोया हुआ अनुभव करता है, अपने कार्य से तथा दूसरे मनुष्यों व स्वयं अपने आपसे कटा हुआ महसूस करता है ।[५८] वस्तुत: पूंजीवाद दबाव के ढांचों और संबंधों के गलत प्रारूपों को उत्पन्न करता है । व्यक्ति पूंजीवादी समाज में असंतोष का अनुभव करता है । पर पूंजीवादी समाज एक ओर तो मूल कारणों को छिपाता है तो दूसरी ओर असंतोष के लक्ष्य को । इसी से अजनबीपन 'दु:ख और व्यथा की वह अवस्था है जिसमें कोई लक्ष्य नहीं होता, इसीलिए इसमें सब कुछ खो गया है - ऐसा अनुभव होता है । सामाजिक ढांचों की जटिलता के कारण सताया हुआ पीड़ित व्यक्ति यह अनुभव नहीं कर पाता कि कौन और क्यों उसको सताता है और विशेष रूप से वह यह नहीं जानता कि उसे इसे बदलने के लिए क्या करना होगा ।'[५६] मार्क्स की इस वैचारिक परम्परा में योग देनेवाले चिन्तकों में जार्ज सिमेल, जार्ज लुकॉच और इरिक फ्राम के नाम उल्लेखनीय हैं।

हैगेल, फायरबाख़ और मार्क्स की त्रयी और इस परम्परा के अन्यान्य विचारकों के चिन्तन से अलग हटकर कुछ दार्शनिकों ने व्यक्ति को प्रमुखता देते हुए इस समस्या को एक नई दृष्टि से देखा है । कीर्केगार्द (१८१३-५५) इस परम्परा के प्रमुख विचारक हैं । समूह में व्यक्तिगत अस्तित्व खो देना उनकी दृष्टि में निन्दनीय है और इस दृष्टि से वे हैगेल के बिलकुल विरोधी हैं । हैगेल समग्र संसार को प्रधानता देते हैं, उसमें एक मनुष्य की गणना कुछ नहीं है किन्तु व्यक्ति को ईश्वर के स्तर तक उठा देते हैं । कीर्केगार्द इसे एक उपहास की संज्ञा देते हैं । अपनी 'डायरी' में मानव नियति का विवेचन करते हुए पूरी व्यंग्यात्मक निर्ममता और तीखेपन से कहते हैं कि संसार में मनुष्य हमेशा बंधनग्रस्त रहेगा और यही उसकी नियति है । यह संसार मनुष्य के लिए बेमानी (एब्सर्ड) है और हमेशा बेमानी बना रहेगा । कॉलिन विल्सन की टिप्पणी है कि कीर्केगार्द का विरोध

५८- 'एलिनेशन एण्ड लिटरेचर' - सुदीप्त कविराज, पृ० ६५ ।

५६- वही, पृ० ६६ ।

दु:खों और कष्टों के विरुद्ध खुला विद्रोह था और उसने अमूर्तता व निर्वैयक्तिकता के खिलाफ अपनी ज़ोरदार आवाज़ उठाई ।[६०] सोरेन कीर्केगार्द अपनी आस्थाओं में आस्तिक ईसाई था, इतना कि कॉलिन विल्सन के शब्दों में" उसकी ईसाइयत एक ऐसा धर्म है जो ईश्वर को अपने और दूसरे व्यक्तियों के बीच का माध्यम मानता है । यहां तक कि वह लोगों के अस्तित्व को तब तक स्वीकार नहीं करता जब तक कि वे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न कर ले ।[६१]

इस कड़ी के दूसरे चिन्तक और कीर्केगार्द के समकालीन उपन्यासकार दोस्तोएवस्की (१८२१-१८८१) के मानव की जिजीविषा बड़ी प्रबल है । भयंकर त्रासद स्थितियों के बीच दबी होने पर भी वह कहीं न कहीं से ऊपरी परत तोड़कर उग आती है । इसी संत्रास, अमानवीयता और अन्याय की स्थितियों में से अजनबीपन का बोध उभरने लगता है जो धीरे-धीरे मानव की प्रबल जिजीविषा पर हावी होकर व्यक्ति को इस दुनिया से बेगाना बना देता है । व्यक्ति के टूटने और अजनबी होने की स्थिति को दोस्तोएवस्की अपनी कृतियों ('नोट्स फ्राम अंडरग्राउण्ड'," मेमायर्स आव डेड हाउस') में बड़ी सजगता और करुणामयी दृष्टि के साथ चित्रित करते हैं जिसमें व्यवस्था के प्रति हल्का सा व्यंग्य का पुट मिला रहता है । यहां कालिन विल्सन का अभिमत उल्लेखनीय है जिसके अनुसार दोस्तोएवस्की खुद" इंटलेक्चुअल आउटसाइडर" था ।[६२] उनके अनुसार दोस्तोएवस्की का सुप्रसिद्ध उपन्यास" अपराध और दण्ड" अजनबी व्यक्ति की समस्या पर लिखी गई पहली और सर्वश्रेष्ठ रचना है ।[६३] उनकी दूसरी रचनाओं " पुअर फोक " और " द डबल " को भी अजनबी व्यक्ति की समस्या से संबंधित माना है ।[६४] उनके बहुचर्चित उपन्यास" द इडियट" के केन्द्रीय पात्र मिश्किन को दूसरे संदर्भों में अजनबी स्वीकार किया है ।[६५]

६०-" द आउटसाइडर" - कॉलिन विल्सन, पृ० २७३ ।
६१- वही, पृ० २७३ ।
६२- वही, पृ० १७८ ।
६३- वही, पृ० १६७ ।
६४- वही, पृ० १६७ ।
६५- वही, पृ० १६७ ।

कुछ शताब्दियों से मानव-मन में जो नया विश्वास पनपा है, उसके परिप्रेक्ष्य में ईश्वर को मानना अजीब- सा लगता है । औद्योगिकरण के पूर्व व्यक्ति का जीवन इस संसार में उद्देश्यपूर्ण था । उसके जीवन के मूल्य, अर्थ पहले से निश्चित थे तथा ये परम्परित मूल्य उसके जीवन से पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे । व्यावहारिक विज्ञान के विकास विशेषकर कोपरनिकस, गैलीलियो और न्यूटन के द्वारा इस भौतिक संसार को समझने का एक नया तरीका मिला जिसने परंपरागत संसार के निश्चित दृष्टिकोण को बदल दिया । इस नये दृष्टिकोण ने निश्चित एकरूपता और यांत्रिक संसार का दृष्टिकोण रखा जिसमें सृष्टि की रहस्यमयता समाप्त हो गई । आधुनिक विज्ञान के अग्रदूतों ने ईश्वर का अस्तित्व शुरू-शुरू में बिना किसी संदेह के मान लिया था । इस संदर्भ में डेकार्ट का उल्लेख किया जा सकता है । ऐसा इसलिए था ताकि सांसारिक घड़ी ठीक तरह से काम कर सके । पर जैसे-जैसे इस नई दुनिया की वैज्ञानिक प्रविधि स्पष्ट होती गई, ईश्वर का संदर्भ भी वैसे ही धीरे-धीरे वैज्ञानिक संसार से दूर होता गया । इसने एक ऐसे वैज्ञानिक और बौद्धिक मस्तिष्क को विकसित किया जिसका मानवीय मूल्यों में विश्वास था तथा जो ईश्वर के प्रति बिल्कुल उदासीन था । सर्वप्रथम ~~नीत्शे~~ नीत्शे (१८४४-१९००) ने 'दस स्पेक जरथुष्ट्र' में बड़े काव्यात्मक ढंग से ईश्वर की हत्या की घोषणा की । कॉलिन विल्सन के शब्दों में यह एक ऐसा कार्य था जिसे नीत्शे ने पहले ही ~~हथौड़ा~~ लेकर दार्शनिक लहजे में शुरू कर दिया था । धर्म की पुनर्व्याख्या करने में पहला कदम परम्परित मूल्यों की जड़ पर प्रहार करना था और उनके उस रूप को पहचानने का प्रयास करना था जो अपना अस्तित्व मनुष्यों के लिए रखते थे जिन्होंने कि उनको बनाया था ।[६६]

पैट्रिक मास्टर्सन ने ईश्वर के इस निषेध को अत्यंत महत्वपूर्ण माना है ।[६७] इन भौतिकवादी विचारों के विकास में डार्विन (१८०९-८२) के विकासवाद[६८] की प्रमुख भूमिका है । विलियम बैरेट जैसे विद्वान ने लिखा है कि

६६- 'द आउटसाइडर' - कॉलिन विल्सन, पृ० २७१ ।
६७- 'एथेइज्म एण्ड लिएनेशन'- पैट्रिक मास्टर्सन, पृ० १३ ।
६८-' द ओरिजिन ऑव स्पीशीज़- डार्विन ।

आधुनिक इतिहास का सब से बड़ा केन्द्रीय तथ्य धर्म का इन्कार है ।[६९] उनकी मान्यता है कि "धर्म को खोने से मनुष्य इस संसार की विवेकहीन वस्तुपरकता का सामना करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया । उसे अपने को ऐसे संसार में बेघर महसूस करने के लिए विवश होना पड़ा जिसमें उसकी तात्विक पुकार का कोई उत्तर नहीं था ।[७०]

अस्तित्ववादी चिन्तकों में अजनबीपन की समस्या पर गंभीर रूप से दार्शनिक चिन्तन सार्त्र (१९०५) करते हैं । सन् १९४६ ई० में प्रकाशित अपने "अस्तित्ववाद और मानववाद" शीर्षक सुप्रसिद्ध और बहुचर्चित व्याख्यान में सार्त्र कहते हैं : "मनुष्य अपनी योजना से भिन्न कुछ और नहीं है । उसका अस्तित्व उसी सीमा तक है जहां तक वह अपने आपको पूरा करता है । इसलिए वह अपने कार्यों के एकीकृत समूह से भिन्न कुछ भी नहीं है । व्यक्ति अपने जीवन के अतिरिक्त कुछ नहीं है । बहुधा अपनी बदकिस्मती और निकम्मेपन को छिपाने के लिए लोगों के पास एक मात्र मार्ग यह सोचना रहता है कि "परिस्थितियां हमारे प्रतिकूल रही हैं । जो मैं रह चुका हूं और कर चुका हूं - मेरे सही मूल्य को नहीं प्रकट करता है । यह निश्चित है कि मुझे कोई महान प्रेम, महान मित्रता नहीं मिली है । लेकिन यह इसलिए है क्योंकि मुझे कोई पुरुष या स्त्री इस योग्य नहीं मिल पायी है । जो किताबें मैंने लिखी हैं, वे बहुत अच्छी नहीं हुई है क्योंकि मुझे समुचित खाली समय नहीं मिलता था । - - - - क्योंकि मुझे ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जिसके साथ मैं अपनी जिंदगी गुजार देता । इसलिए मेरे भीतर तमाम अभिरुचियां, प्रवृत्तियां और संभावनाएं (जिनका अनुमान कोई भी केवल उन अनेकानेक कार्यों से जो मैंने किये हैं; नहीं कर सकता है) उपयोग में नहीं आईं ; यद्यपि मुझमें पर्याप्त ढंग से सदाम रूप में मौजूद है ।[७१]

सार्त्र का कहना है कि अस्तित्ववाद इस तरह की "बकवासों" को महत्व न देकर स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि "तुम अपने जीवन के अलावा और कुछ नहीं हो । मनुष्य कार्यों की एक परंपरा से अलग दूसरी

६९- "मैनएलौन : एलिएनेशन इन माडर्न सोसायटी", पृ० १६७ ।
७०- वही, पृ० १६८ ।
७१- "एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमन इमोशन्स"- सार्त्र, फिलासाफिकल लाइब्रेरी,

चीज़ नहीं है यानी वह उन संबंधों के योगफल का एकीकरण है जो इन कार्यों का निर्माण करता है ।[७२] आगे अपने इसी व्याख्यान में वे कहते हैं :" यह कहना कि हम मूल्यों का आविष्कार करते हैं, इसका इसके सिवाय कोई अर्थ नहीं है कि जीवन का कोई अर्थ नहीं है। यह तुम्हारे ऊपर है कि तुम इसको अर्थ दो । अर्थ जिसका तुम चुनाव करते हो - उससे अलग मूल्य नाम की कोई दूसरी चीज़ नहीं है ।[७३] इसी से अस्तित्ववाद मानव-संसार की अपेक्षा दूसरे किसी संसार को नहीं मानता ।" व्यक्ति के अलावा नियमों को बनानेवाला दूसरा कोई नहीं है ।[७४] इसी से अस्तित्ववाद घोषणा करता है कि" यदि परमात्मा का जीवन हो भी तो वह कुछ भी परिवर्तन नहीं करेगा ।"[७५] इस तरह अस्तित्ववाद मनुष्य के इर्द-गिर्द फैले अंधविश्वासों और अज्ञान के झूठे जालों को काटकर व्यक्ति को नितान्त एकाकी कर देता है । इसी एकाकीपन के बोध से अजनबीपन की कई स्थितियां जन्म लेती हैं ।

अजनबीपन की भावना के पीछे प्रौद्योगिकी के द्रुत विकास की तरफ़ कई विद्वानों ने संकेत किया है। इनमें जार्ज सिमेल, लूइस ममफोर्ड पीटर लेस्लेट, थियोडोर रोज़ैक और क्रिस्टोफर राइट के नाम लिए जा सकते हैं। समाजशास्त्री जार्ज सिमेल का कहना है कि शहरी संस्कृति रुपये-पैसे की संस्कृति है जिसके कारण धन अपनी सारी रंगहीनता और निष्पक्षता के साथ सारे मूल्यों का निर्धारक हो जाता है। इसका सीधा परिणाम यह हुआ है कि व्यक्तित्वरहित चरित्र का निर्माण हुआ है और मनुष्य की स्थिति दैत्याकार मशीनों के बीच मात्र चक्के के दांत की रह गई है ।[७६] यहां जिन दफ़्तरों में मनुष्य काम करता है और अवकाश प्राप्त करता है उन्हीं के कारण अजनबी बन जाता है । इस प्रकार के हिसाबी जगत में रहने के लिए हृदय पर बराबर बुद्धि को प्रमुखता देनी पड़ती है जिससे मनुष्य की संवेदनाएं, भावनाएं बुरी तरह कुचल दी जाती हैं ।[७७]

७२- " एक्सिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमन इमोशन्स " - सार्त्र, फिलासाफिकल लाइब्रेरी, न्यूयार्क, पृ० ३७ ।

७३- वही, पृ० ५३ ।

७४- वही, पृ० ५५ ।

७५- वही, पृ० ५५ ।

७६- [illegible]

पीटर लैस्लेट ने इस समस्या को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा है । औद्योगिक पूर्व स्थिति की पैतृक परम्परावाली उत्पादन प्रणाली का उन्होंने विवेचन करके दिखाया है कि छोटे-छोटे व्यवसायों में पारिवारिक प्रेम और स्नेह का वातावरण रहता था । औद्योगिक क्रांति के बाद इस प्रकार के पारिवारिक उद्योग-धंधे खत्म हो गये और फिर पनप नहीं पाये । मशीन-निर्मित वस्तुओं ने हर क्षेत्र में हाथ की बनी वस्तुओं को पीछे ढकेल दिया । धीरे-धीरे पारिवारिक वातावरण खत्म हो गया और उसकी जगह अन्याय व शोषण की प्रधानता हो गई ।[७८] भावनात्मक लगाव समाप्त हो गया । औद्योगिक समाजों में श्रम के बदले पैसा मिलने लगा जिससे श्रमिक की जिंदगी बाज़ार के भावों के चढ़ने के साथ-साथ सलीब पर चढ़ती नहीं क्योंकि वेतन के रूप में निश्चित राशि मिलती थी ।[७९]

आधुनिक मशीन- सभ्यता के दोषों की तरफ़ हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए ममफोर्ड कहते हैं कि औद्योगिक संगठनों की वृद्धि मशीनी नियमितता का जाल बुन देती है ।[८०] इस मशीनी सभ्यता का अस्तित्व पूर्णतया समय से बंधा हुआ, नियमित और पूर्व निर्धारित है ।[८१] इसका मनुष्य के कार्य-कलापों पर निरंकुश शासन मनुष्य के अस्तित्व को समय के सेवक के रूप में सीमित कर देता है और मानवीय व्यवहारों के अति विस्तृत दायरे को जेलखाने की सीमा में बांध देता है । बंधनों की यह जकड़न स्वस्थ मन के लिए हानिकारक और नुकसानदेह है ।[८२] आगे वे कहते हैं कि इस प्रकार के यांत्रिक कार्यक्रम को किसी भी कीमत पर बनाये रखने पर लोग "अनुशासन के तनाव" से पीड़ित हो सकते हैं । इसी तरह उनका कहना है कि आज के जीवन की गति आधुनिक संचार के साधनों से उत्तेजित हो गई है, उसकी लय टूट चुकी है । बाहरी संसार की उत्तरोत्तर बढ़ती प्रभुत्ववादी मांगों से आंतरिक संसार अत्यंत कमज़ोर और आकृतिविहीन होता जा रहा है ।[८३]

७८- मैन स्लोन : एलिनेशन इन मार्डन सोसायटी, पृ० ८७ ।
७९- वही, पृ० ६१-६२ ।
८०- वही, पृ० ११४ ।
८१- वही, पृ० ११५ ।
८२- वही, पृ० ११५ ।
८३- वही, पृ० ११७ ।

एरिक फ्रॉम ने 'द रिवोल्यूशन ऑव होप' में यहां तक आगे बढ़कर कहा है कि तकनीकी विकास मानवीय मूल्यों के नकार पर प्रतिष्ठित है। थियोडोर रोजेक ने विज्ञान और वैज्ञानिक सभ्यता पर तीखा प्रहार किया है। अर्नेस्ट वान डेन हाग पूंजीवादी सभ्यता को विज्ञापन जीवी सभ्यता कहते हुए कहते हैं कि विज्ञापन लोगों की रुचियों में एकरूपता लानेवाला और निर्वैयक्तिककरण करनेवाला होता है और इस प्रकार यह अत्यधिक उत्पादन को संभव बनाता है।[८४] यहाँ ग्राहक को भीड़ के रूप में देखा जाता है तथा उसकी वैयक्तिक रुचियों की चिन्ता बिलकुल नहीं की जाती और सब को संतुष्ट करने में व्यक्तिगत रुचियों का हनन करना पड़ता है। साथ ही यह संबंधों के निर्वैयक्तिककरण पर ज़ोर देता है। इसी से पूंजीवादी समाज- व्यवस्था में मनुष्य अपने को अजनबी अनुभव करता है।[८५]

प्रौद्योगिकी के द्रुत विकास से जहां जीवन में व्यस्तता आई है वहीं खालीपन भी उभरा है। इस नये प्रकार के अवकाश से जीवन में तनाव और उत्तेजना की वृद्धि हुई है, कभी न समाप्त होने वाली बेचैनी और ऊब का जन्म हुआ है। और चूंकि इसका किसी प्रकार शमन नहीं किया जा सकता अत: जीवन में रिक्तता का अनुभव होता है।[८६] इस रिक्तता से मुक्त होने के लिए बहुत से लोगों ने अपनी प्रकृति के अनुरूप इस या उस रास्ते से भागने का आश्रय लिया। इनका सामान्य बहाव उत्तेजना की तरफ़ रहा जिसे वे विभिन्न रास्तों से प्राप्त करते रहे। राबर्ट मैकल्वर का विचार है कि 'अजनबी व्यक्ति ज्यादा संवेदनशील प्रकृतिवाले और प्रतिभाशाली होते हैं। वे चाहते हैं कि उनके जीवन का कुछ अर्थ हो, कुछ लक्ष्य हो तथा अपने जीने के पीछे किसी अच्छे उद्देश्य की प्रतीति हो। लेकिन प्राय: इस प्रकार की सोद्देश्यता खोजनेवालों के साथ किसी न किसी प्रकार की गड़बड़ हो

८४- मैन एलोन : एलिएनेशन इन माडर्न सोसायटी, पृ० १८१।

८५- वही, पृ० १८२।

८६- वही, पृ० १४५।

जाती है । ऐसे व्यक्ति जीवन में ऊँचा लक्ष्य तो रखते हैं किन्तु उनका लक्ष्य उनकी पहुंच से दूर रहता है । और जब वे इसमें असफल होते हैं, अपने विभ्रमों में और वृद्धि कर लेते हैं । उनका असंतुष्ट, आहत, प्यासा अहं पीछे ढकेल दिया जाता है और उनके आगे विराट खालीपन धीरे-धीरे पसरने लगता है । अजनबी व्यक्ति इससे भागना चाहता है और इस भागने में वह स्वयं से भागने लगता है ।[८७] इस चर्चा को और आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति जीवन जीने का पुन: अनुभव करना चाहते हैं । समय उनका अपना होता है पर वे उसे अपना नहीं बना पाते । इसके लिए लोग जुआ खेलने लगते हैं, नशा करते हैं, फैशन की भीड़ में अपने को खो देना चाहते हैं, अटपटे काम करते हैं ताकि जीवन की एकरसता भंग हो और उन्हें किसी प्रकार के उल्लास का अनुभव हो ।[८८] पर इस प्रकार के आश्रयों का सहारा लेकर भी लोग उस खालीपन से भाग नहीं पाते और इस दुनिया में अपने को अजनबी महसूस करने के लिए बाध्य पाते हैं ।

० ० ०

८७- मैन एलोन : एलियनेशन इन मार्डन सोसायटी, पृ० १४६ ।

८८- वही, पृ० १४८ ।

द्वितीय अध्याय

भारतीय संदर्भ और अजनबीपन

द्वितीय अध्याय

भारतीय संदर्भ और अजनबीपन

भारतीय परिवेश में अजनबीपन को पश्चिम के संघात से उत्पन्न समस्या के रूप में देखा जा सकता है। वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिकरण के फलस्वरूप पुरानी मान्यताएं अर्थहीन हो गई तथा व्यक्ति ने पूरब-पश्चिम की सांस्कृतिक टकराहट में अपने को मूल्यों के स्तर पर अकेला पाया। अभी भी जो परंपरागत जीवन जी रहे थे तथा जिनका विश्वास इसमें बना हुआ था - उनके लिए मूल्यगत संकट की स्थिति नहीं थी क्योंकि सारी विसंगतियों को भोगने के लिए वे मानसिक स्तर पर तैयार थे। कर्मवाद, भाग्यवाद और ईश्वर के प्रति जीवित आस्था के कारण ऐसे व्यक्ति मानसिक द्वंद्व और टूटन के शिकार नहीं हुए। वस्तुत: पश्चिम की इकाई व्यक्ति है जबकि हमारे यहां गांव है। इसी से इस वर्ग का व्यक्ति जब तक गांव से जुड़ा हुआ है, उन परम्परित आस्थाओं और विश्वासों से भी जुड़ा है जो ग्रामीण जनमानस का निर्माण करते हैं तथा उसमें बहुत गहरे स्तर पर बद्धमूल रहते हैं। मजदूरी के लिए शहर जाने पर यही व्यक्ति जब तक मानसिक स्तर पर गांव से सम्बद्ध रहता है, ऊब और तनावों का शिकार नहीं होता। लेकिन नई चेतना के संस्पर्श और नये विचारों की सुगबुगाहट से जब परम्परित आस्थाएं ढहने लगती हैं तब उन सारी मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है और अजनबीपन की समस्या धीरे-धीरे उसके मानस में गहराने लगती है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार की वैचारिक सुगबुगाहट और बेचैनी उस काल के हिन्दी साहित्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। हिन्दी का रचनाकार अपनी सीमित शक्ति के साथ इस नई चेतना को आत्मसात करने का प्रयत्न कर रहा था। आत्म निरीक्षण की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। लाला श्रीनिवासदास ने अपनी बहुचर्चित कृति "परीक्षा गुरु" (सन् १८८२ ई०) में सब से

पहले सड़ी-गली सामाजिक रूढ़ियों और मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगाकर उस काल के परम्परित ढांचे पर चोट करने की पहल की । इसके बाद तो सुधार की लहर चल पड़ी जिसमें उसकाल के हिन्दी साहित्यकारों ने अपनी अपरिष्कृत व अपरिमार्जित भाषा के ऊबड़-खाबड़पन के बावजूद अपने ढंग से इस पुनर्जागरण-काल में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । हिन्दी साहित्यकार का राष्ट्रीय-सामाजिक जीवन में भाग लेने का अति उत्साह, पुनर्जागरण की चेतना का दबाव तथा उसको आत्मसात करने की आकुलता - उस काल की कृतियों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

अतीत के वैभव को पूरी गरिमा के साथ पुनरुज्जीवित करने और उसे अपने वर्तमान में उतारकर एक नई आभा से मंडित करने का जो प्रयास उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ और लोकमान्य तिलक जैसे अन्य अनेक मनीषियों के प्रयत्नों द्वारा शुरू हुआ था, बीसवीं शती के दूसरे दशक तक वह चरमसीमा पर पहुंच जाता है । सामाजिक, राजनीतिक या साहित्यिक क्षेत्र में आदर्शवादी घटाटोप छाया रहता है । गांधी, 'प्रसाद', प्रेमचंद - यहां तक कि क्रांतिकारी भी इसी आदर्शवादी महिमा से अनुप्राणित व परिचालित होते हैं । इस तरह जो सांस्कृतिक टकराहट उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में शुरू हुई थी, वह इस समय तक काफी सूक्ष्म हो जाती है और इससे उत्पन्न अजनबीपन की समस्या से जूझने और टकराने का कार्य रचनात्मक स्तर पर शुरू हो जाता है ।

इस शती के तीसरे दशक तक आते-आते "कामायनी" में मनु बार-बार पूछने लगते हैं " मैं कौन हूं ? " ; उन्हें अपनी आइडेन्टिटी गुम होती लगती है। यहां अजनबीपन की भावना पूरे वेग के साथ हिन्दी रचनाकार से टकराती है और वह इसे पूरी सर्जनात्मकता के साथ अभिव्यक्ति प्रदान करता है । यह वही समय है जबकि पं० जवाहर लाल नेहरू ने " विराट खालीपन " का अनुभव किया था और जिसे विजयदेव नारायण साही बड़े जोर के साथ उद्धृत कर हिन्दी लेखकों में भी इसकी रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति की चर्चा करते हैं ।[१] उपर्युक्त

१- " लघु मानव के बहाने हिन्दी-कविता पर एक बहस " (छायावाद से अज्ञेय तक)- विजयदेव नारायण साही, नई कविता (६०-६१) संयुक्तांक ५-६,पृ० ८४ ।

रिक्तता को पूरे हिन्दी साहित्य में देखते हुए 'कामायनी' के मनु में भी वही रिक्तता पाते हैं जो कहीं गहरे गुंजलक मारकर बैठी है ।[२] 'कामायनी' का पूरा दर्शन, पूरा विराट् फैलाव उस एक रिक्तता को दार्शनिक और कल्पनात्मक कंचन से भर देने की कोशिश है ।[२] एक दूसरे विद्वान डॉ० रमेश कुन्तल मेघ 'कामायनी' को 'भारतीय अस्तित्ववादी - चिन्ता की सब से पहली कृति' मानते हैं[३] तथा वे इस आधुनिक महाकाव्य में 'भारतीय मानस में घुमड़नेवाले आधुनिक अस्तित्ववाद के जीवन्त संकेत'[४] परिलक्षित करते हैं । उनका कहना है कि 'कवि 'प्रसाद' ने अनजाने ही आधुनिक मनुष्य के अकेलेपन , अजनबीपन तथा आत्मपरायेपन के बोध को मनु के रूपकात्मक, दार्शनिक एवं ऐतिहासिक उन्मेष में गूँथ दिया है ।[५]

मोहभंग को अजनबीपन के प्रमुख कारकों में गिना जाता है । सामाजिक , आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक - जीवन के हर क्षेत्र में मोहभंग विषम परिस्थितियों में अनिवार्य है । यह मोहभंग वैयक्तिक भी हो सकता है और सामाजिक भी । तीसरे दशक के शुरू में अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व, लाला लाजपतराय द्वारा लिखे गये लेखों में ; जब वे अपने जीवन की उपलब्धियों से हताश व निराश हो चुके थे - वैयक्तिक स्तर पर मोह भंग का अच्छा उदाहरण मिलता है ।[६] इस नैराश्य और अवसाद के साथ अजनबीपन का बोध घुला हुआ है जिससे वे मृत्युपर्यन्त उबर नहीं पाये । जीवन की सान्ध्य वेला में अपनी उपलब्धियों से उन्हें घोर निराशा हुई । जीवन अर्थवान बनाने की चाह में उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई । उन्होंने एक शानदार जीवन जीया लेकिन जीवन के अंतिम प्रहर में उत्पन्न हुए असंतोष और विफलता-बोध ने उन्हें बेगाना बना दिया ।

महात्मा गांधी दूरद्रष्टा थे । औद्योगिकरण और आधुनिक यंत्रों के प्रयोग के दुष्परिणाम का आभास उन्हें हो गया था । अपनी पूरी शक्ति

२-'लघु मानव के बहाने हिन्दी-कविता पर एक बहस' (छायावाद से अज्ञेय तक) - - विजयदेव नारायण साही, 'नई कविता' (६०-६१) संयुक्तांक ५-६; पृ० ८५ ।

३- 'मिथक और स्वप्न : 'कामायनी' की मनःसौन्दर्यसामाजिक भूमिका' - डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, पृ० ११६ ।

४- वही, पृ० ११७ ।

५- वही, पृ० २०४ ।

६-' लाला लाजपतराय : एक जीवनी' - अलगूराय शास्त्री, पृ० ४८७-८८ ।

के साथ उन्होंने इसका जमकर विरोध किया और रूसो की भाँति प्रकृति से जुड़ने की सलाह दी । उन्होंने अपने विभिन्न लेखों और व्याख्यानों में इस पर खुले रूप में चर्चा की । आज की सभ्यता को वे 'असभ्यता'[7] और 'शैतान का राज्य'[8] कहते हैं । उनको आशंका थी कि औद्योगीकरण अंत में मानवजाति के लिए अभिशाप बन जाएगा क्योंकि इसका पूरा तंत्र शोषण करने की क्षमता पर आधारित है । भारत जैसे कृषि-प्रधान देश से दरिद्रता मिटाने का सही इलाज औद्योगीकरण नहीं है । वे अधिक से अधिक विकसित यंत्रों के पक्षपाती और हिमायती थे पर तभी तक जब तक कि वह करोड़ों लोगों की रोजी न छीनें ।[9] वे मजदूरों के काम करने की हालतों में परिवर्तनों के हिमायती थे[10] तथा चाहते थे कि धन की पागल दौड़-धूप बंद हो जाय तथा मजदूर को न केवल जीवन-वेतन ही बल्कि ऐसे दैनिक काम का भी आश्वासन मिले जो नीरस बेगार न हो । कार्ल मार्क्स ने अपने 'एलिनेशन' वाले सुप्रसिद्ध लेख में जो मुद्दे उठाये थे, उन पर गांधी जी की दृष्टि गई थी और उन्होंने उसका अपना गांधीवादी हल भी पेश किया । औद्योगीकरण के अमानवीय पहलुओं से वे परिचित थे[11] और इसी से कहा भी था : 'मैं यंत्रमात्र के विरुद्ध नहीं हूँ परन्तु जो यंत्र हमारा स्वामी बन जाए उसका मैं सख्त विरोधी हूँ ।'[12] वे ग्राम-समाजों को पुनर्जीवित करना चाहते थे और बड़ी-बड़ी कंपनियों के तथा लंबी-चौड़ी मशीनरी के जरिये उद्योगों के केन्द्रीकरण के खिलाफ थे क्योंकि इससे शोषण और अधिकारवाद को बढ़ावा मिलता था । इसी से उन्होंने आपसी प्रेम और सहयोग पर आधारित स्वावलंबी गांवों की परिकल्पना प्रस्तुत की । आगे चलकर इसी परिकल्पना का डॉ० राम मनोहर लोहिया की 'चौखंभा राज' की विचारधारा में पूर्ण विकास हुआ । आचार्य विनोबा भावे के 'भूदान', जयप्रकाश नारायण के 'सर्वोदय' और 'सम्पूर्ण क्रांति', आचार्य कृपलानी और चौधरी चरण सिंह के लघु उद्योगोंवाली

७- 'हिन्द स्वराज्य' - मोहनदास करमचंद गांधी, सस्ता साहित्य प्रकाशन, १९५८, पृ० २६
८- वही, पृ० ३३ ।
९- वही, पृ० १०३ ।
१०- वही, पृ० ३१ ।
११- वही, पृ० १०५ ।
१२- वही, पृ० १२० ।

विचारधारा के मूल में इसके संकेत देखे जा सकते हैं। पं० जवाहर लाल नेहरू से इस संबंध में वैचारिक मतभेद की बात को वे स्वीकार भी करते हैं :" ग्रामोद्धार की हलचल की तरफ़ वह (नेहरू) ध्यान नहीं देते। वह कल-कारखानों को बढ़ाना चाहते हैं। पर मुझे इसमें शक है कि वे हिन्दुस्तान के लिए कहां तक लाभदायक होंगे।[१३]

एक तरफ़ महात्मा गांधी सार्वजनिक रूप से औद्योगिकीकरण के खिलाफ़ अपना मत प्रकट करते हैं, दूसरी तरफ़ ठीक इसी के समानान्तर हिन्दी का रचनाकार महात्मा गांधी के स्वर में स्वर मिलाकर उनकी बात का वैचारिक समर्थन करता है। प्रेमचंद जैसे समर्थ रचनाकार ने गांधी जी की इस विचारधारा को अपने उपन्यास " रंगभूमि " में विशेष रूप से तथा अन्य उपन्यासों और कहानियों में पूरी सृजनात्मकता के साथ अभिव्यक्त किया है। हिन्दी साहित्यकार का यह प्रयास उसकी राजनीतिक- सामाजिक जागरूकता का जीवन्त प्रमाण प्रस्तुत करता है। प्रेमचंद के अलावे उस काल के अन्य अनेक छोटे-बड़े लेखकों ने इस आंदोलन के साथ अपने को रचनात्मक स्तर पर जोड़ा। पश्चिम के जिस दबाव का सामना करने के लिए गांधी जी औद्योगिकीकरण की खिलाफ़त और पुराने कुटीर-उद्योगों की पुनर्प्रतिष्ठा की बात करते हैं उसी के अनुरूप हिन्दी-लेखक भी देश के पश्चिमी ढंग के नवीनीकरण का पुरज़ोर विरोध करता है। इसी से इस काल के लेखकों के मंतव्य को सही ढंग से समझने के लिए उसे इस काल के सामाजिक -राजनीतिक संदर्भ में जोड़कर देखना होगा। अपने सुप्रसिद्ध लेख में विजय देव नारायण साही ने " तीसरे दशक के बुद्धि के पीछे लाठी लेकर पड़ने " और जीवन की सारी विसंगतियों के लिए उसे जिम्मेदार ठहराने के जिस सामूहिक प्रयत्न की तरफ़ संकेत किया है[१४] उसका रहस्य यही है। फिर भी इससे मुक्ति नहीं मिलती। उस काल की रचनाएं इसकी साक्षी हैं।

पर पश्चिम का और उसके माध्यम से आधुनिकता का दबाव इतना तेज़ है कि चौथे दशक तक गांधीवादी विश्वास और आदर्शवादी आस्था का कवच तार-तार हो जाता है। राजा राममोहन राय व सर सैयद अहमद खां

१३-" हरिजन सेवक", ५ दिसंबर १६३६।
१४-" लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस" - विजयदेव नारायण साही," नई कविता" ,पृ० ८६।

की परम्परावाले पं० जवाहर लाल नेहरू को भी अस्मिता के संकट का एहसास होता है।[१५] वे आधुनिक सभ्यता की कमियों की तरफ़ इशारा करते हैं[१६] और कहते हैं जो सभ्यता हमने बनाई है ; उसकी शक्ल कितनी ही शानदार क्यों न हो और उसके कारनामे जो भी हों - वह खाली सी मालूम देती है।[१७] पं० नेहरू की शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य वातावरण में हुई थी और उनका पालन-पोषण भी। यही कारण है कि यूरोपीय जीवन -पद्धति के प्रति अनुराग और आकर्षण उनके मन के एक कोने में मिलता है। दूसरी तरफ़ राष्ट्र की पराधीनता के विरुद्ध स्वातंत्र्य चेतना की पुकार, जनता का दु:ख -दर्द और उसकी भयंकर दरिद्रता उनके हृदय को पिघला देती है। दोनों परस्पर विरोधी भावनाओं का द्वंद्व उनके जीवन में हमेशा बना रहा और आजीवन वे इससे मुक्त नहीं हो पाये। "मेरी कहानी" में जो अपनी संवेदनशीलता के लिए खासी प्रसिद्ध है, इस तरह के बहुतेरे स्थल मिल जाते हैं ; जहाँ वह द्वंद्व अपनी समग्रता में पूरी ईमानदारी और सजगता के साथ उतरा है। ऐसे स्थलों में अजनबीपन की भावना का प्रचुर संदर्भ मिल जाता है। वे ब्रिटिश जेलख़ाने में क़ैद हैं, दिमाग़ चिन्ताकुल है, कई घटनाओं पर अंग्रेज़ों के प्रति नाराज़गी से दिल भर गया है, लेकिन जब वे अपने दिल और दिमाग़ की गहराई को टटोलते हैं तो उसमें कहीं भी इंग्लैंड या अंग्रेज़ों के प्रति रोष या द्वेष का भाव नहीं पाते।[१८] अपनी मनोरचना के लिए वे इंग्लैंड के बहुत ऋणी हैं, इतने कि उसके प्रति परायेपन का भाव नहीं है। इंग्लैंड के स्कूल और कालेजों से प्राप्त आदर्शों और संस्कारों से मुक्त होने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इसी से उनका सारा पूर्वानुराग इंग्लैंड और अंग्रेज़ लोगों की ओर दौड़ता है।[१९]

१५- "हिन्दुस्तान की कहानी" - पं० जवाहर लाल नेहरू, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९६०, दूसरा संस्करण, पृ० ७६२-७६३, पृ० ७०५, पृ० २० ।
१६- पूर्वोक्त, पृ० ७६५ ।
१७- पूर्वोक्त, पृ० ७६२ ।
१८- "मेरी कहानी" - पं० जवाहर लाल नेहरू, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९७१, ग्यारहवां संस्करण, पृ० ५८४ ।
१९- पूर्वोक्त, पृ० ५८५ ।

सन् १८६६ में लंदन से लिखे गये सर सैयद अहमद खाँ के बहुचर्चित पत्र की बात को वे डरते- डरते "मान लेते हैं जिसमें उन्होंने लिखा था कि अंग्रेजों की चापलूसी किये बिना मैं यह कह सकता हूँ कि भारत के निवासी जब शिक्षा, शिष्टाचार और आचरण" में अंग्रेजों के मुकाबले खड़े किये जाते हैं तो वे ऐसे ही लगते हैं जैसे किसी सुयोग्य व सुन्दर मनुष्य के मुकाबले कोई गंदा जानवर खड़ा कर दिया गया हो। यदि अंग्रेज लोग हम हिन्दुस्तानियों को निरा जंगली समझें तो उनके पास इसके कारण हैं।[20] उनकी मानसिक दुविधा निम्नलिखित पंक्तियों में पूरी सच्चाई के साथ सृजनात्मक स्तर पर प्रकट हुई है :

"मैं पूर्व और पश्चिम का एक विचित्र मिश्रण हो गया हूं, जो हर जगह अजनबी है और कहीं अपनत्व का अनुभव नहीं कर पाता। मेरे विचार और जीवन संबंधी दृष्टिकोण पूर्व की अपेक्षा पाश्चात्य पद्धतियों के निकट है, पर भारत मुझसे कई रूपों में लिपटता है जैसा कि वह अपनी सभी संतानों के प्रति करता है और मेरे पीछे अवचेतन मन में ब्राह्मणों की सैकड़ों पीढ़ियों की स्मृतियाँ पड़ी हुई हैं। न तो मैं अपनी उस अतीत की विरासत से मुक्त हो पाता हूँ और न अपनी नवीन उपलब्धियों से। ये दोनों ही मेरे अंग हैं और यद्यपि पूर्व और पश्चिम दोनों जगह ही वे मेरी सहायता करते हैं, फिर भी वे मेरे अंदर एक आत्मिक अकेलापन उत्पन्न कर देते हैं, न केवल सार्वजनिक कार्यों में वरन् स्वतः जीवन में ही। पश्चिम में मैं एक अजनबी और बिराना हूँ। मैं उससे सम्बद्ध नहीं हो पाता। पर अपने देश में भी कभी-कभी मुझे निर्वासित जैसा अनुभव होता है।"[21]

इस काल में "गोदान" तक आते- आते प्रेमचंद की आस्था भी चुकने लगती है। गोदान में गांधीवादी विकल्प से दूर हटने और यथार्थ का निर्ममता से साक्षात्कार करने की ईमानदार कोशिश स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। बदलते वैचारिक संदर्भों को कुशलता के साथ हिन्दी साहित्यकार प्रतिध्वनित करता है। समाज के साथ अपने को जोड़े रहने की यही ललक हिन्दी रचनाकार के लेखन को जीवन्त बनाती है।

२०- मेरी कहानी- पं० जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९७१, ग्यारहवाँ संस्करण, पृ० ६४३।
२१- वही, पृ० ८३०।

चौथे दशक के बाद हिन्दी-साहित्याकाश में उभरनेवाले लेखकों में 'अज्ञेय' का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । उनकी उस काल की सुप्रसिद्ध कृति 'शेखर : एक जीवनी' अपनी प्रखर बौद्धिकता के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय रही है । आधुनिकता की स्वीकृति इसके मूल में है । कॉलिन विलसन के 'रोमैंटिक आउटसाइडर '[22] की स्थितियां उसमें प्रचुरता के साथ मिलती हैं । खासकर कल्पना और खुलके सपनों की दुनिया, सत्य के लिए दृढ़ चाह[23], सौन्दर्य की खोज-शेखर को इस दुनिया से विद्रोही बना देती है । वह ईश्वर के अस्तित्व और उसके प्रति आस्था पर बार-बार प्रश्न-चिन्ह लगाता है ।[24] परिवार, समाज या वर्तमान व्यवस्था के बने- बनाये ढांचे से वह किसी प्रकार तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता । शेखर का यह विद्रोहीपन इसी 'आउटसाइडरनेस ' का एक पहलू है जिसका जिक्र कॉलिन विलसन ने किया है । यह अतिशय बौद्धिकता का दबाव है जो एक तरफ तो परम्परागत मूल्यों को विनष्ट करता है, उसके प्रति अविश्वासी बनाता है और दूसरी तरफ इनके स्थानापन्न के रूप में नये मूल्यों के विकसित न होने और अपने को ठीक तरह से अभिव्यक्त न कर पाने के कारण[25] शेखर को रोमैंटिक आउटसाइडर बना डालता है ।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर डॉ० राम मनोहर लोहिया का नाम चमकने लगता है । वे एक प्रखर चिन्तक और बुद्धिजीवी थे । जन नेता के रूप पर उनका समाजवादी चिन्तक-रूप छाया रहा । इसी से वे उस काल के बुद्धिजीवियों में आकर्षण-बिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं । डॉ० लोहिया आजीवन मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए संघर्षरत रहे । उन्होंने इतिहास और आधुनिक सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में मानव-नियति का विवेचन -

---

२२- ' द आउटसाइडर ' - कॉलिन विलसन, १९६० , पृ० ४८-४९ ।

२३- वही, पृ० १३ । 'He is an outsider because he stands for truth'

२४ - वही, पृ० २७१ ।

२५- वही, पृ० २०२ ।

विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनकी रुचि मनुष्य के चरम लक्ष्य के निर्धारण में रही है। इसी से उनकी रचनाओं में प्राचीन-अर्वाचीन सभ्यताओं, संस्कृतियों, मानव-आदर्शों और समाज में मनुष्य की स्थिति पर रोचक चिन्तन परिलक्षित होता है। इस प्रक्रिया में आधुनिक सभ्यता के विभ्रमों को उन्होंने स्पष्ट किया है। आधुनिक तकनीकी प्रगति में ग़रीबी से मुक्त दुनिया की कल्पना उन्हें असत्य लगती है।[२६] उनका दुःख है कि शारीरिक विपन्नता और मानसिक कष्ट आज भी उतने ही महान है जितने इतिहास में पहले कभी थे। दुनिया की दो तिहाई आबादी घृणित जीवन बिता रही है। इसी से वे खिन्न मन से कहते हैं कि मानवता की विश्व-एकता या वर्गहीन समाज के निर्माण की क्षीण आशा भी नहीं दिखाई जा सकती। एक सुनहले युग की कल्पना जिसमें ग़रीबी और युद्ध का अंत कर दिया गया हो, जिसमें मनुष्य जीवन का अर्थ पा सके और जीने का ऐसा ढंग निकाल सके जिसमें आंतरिक संतोष और बाह्य शान्ति हो, एक पुराना भ्रम मालूम पड़ता है।[२६]

वे आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता द्वारा विकीरित अजनबीपन की समस्या के प्रति पूर्णतया सचेत है। एक स्थल पर कहते है : क्रांतिकारी तकनीकी ढंग के विकास से आधुनिक मानव ऐसी मानसिक स्थिति में पहुंच गया है जब वह अन्य मनुष्यों के साथ प्रत्यक्ष और निकट का अपनापन अनुभव नहीं कर पाता।[२८] आधुनिक समाज में व्याप्त अजनबीपन की समस्या का बड़ा सुन्दर व मार्मिक अंकन निम्नलिखित पंक्तियों में डॉ० लोहिया ने किया है :

" एक संन्यासी अब भी मनन कर सकता है लेकिन मेधावी या साधारण व्यक्ति के पास न तो मनन के लिए समय है न उसके प्रति रुचि। वर्तमान सभ्यता में व्यक्ति अब ऐसी स्थिति में पहुंच गया है जब वह न तो मशान ओ सकता है, न आराम ही पा सकता है। लगता है कि मस्तिष्क अपनी यात्रा के अंत पर पहुंच गया है। यह भी एक स्थायी निष्फल बैचैन की स्थिति है।

२६- ' इतिहास-चक्र ' डॉ० राममनोहर लोहिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद द्वितीय संस्करण, १९६८, पृ० ५५।

२७- वही, पृ० ५७।

२८- वही, पृ० ८७।

वर्तमान सभ्यता के सांस्कृतिक परीक्षण में विलक्षण प्रवृष्टता आ रही है। पुस्तकें लिखना बढ़ईगीरी जैसी दस्तकारी हो गया है और पुस्तकें पढ़ना एक आरामदेह पलंग के इस्तेमाल की तरह है जो वेदना और ऊब से मुक्ति पाने के लिए बनाया गया हो। आधुनिक मानव शक्तिमान है पर थका हुआ ; उसका सब से बड़ा दुर्भाग्य आनन्दविहीन आराम के लिए नियमित रूप से कठिन परिश्रम करना है।--- इतने पर भी आधुनिक मानव न तो सुखी है न ही नये रास्ते खोज पाने में समर्थ है। वह अब भी परिश्रम करता है, परन्तु अपने आपको बिना किसी अंतर या बदलाव के दुहराते जाने की इस कभी भी समाप्त न होनेवाली ऊब को वह कब तक सह सकेगा। अन्ततोगत्वा अपने तनावों के बोझ के नीचे उसका टूट जाना सहज संभावित है। वह सुखी रहना न सीख सकेगा क्योंकि उसके भीतर शान्ति नहीं है।[२९]

स्वतंत्रता-पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक राजनीतिक आंदोलनों के ढांचे की बनावट का अध्ययन करने से उस काल की मानसिकता और मूल्यों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है जो उस काल की प्रमुख रचनाओं में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। जयशंकर 'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' से मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' तक स्थितियाँ कितनी बदल जाती हैं ; इसकी गवाही ये दोनों नाटक देते हैं। संयोग से दोनों नाटकों की नायिकाओं का नाम मल्लिका है। लेकिन 'प्रसाद' की मल्लिका और मोहन राकेश की मल्लिका में कितना अंतर है। एक का चरित्र गरिमामय आदर्शवादी आभा से मंडित है, सात्विकता और सतीत्व की चमक-दमक से उसका व्यक्तित्व प्रकाशित है[३०] वहीं दूसरी जीवन की कटुताओं और विसंगतियों को झेलते-झेलते टूटकर अपने मूल्यों से, स्वयं से तथा इस दुनिया से अजनबी हो जाती है।[३१] इस जीवनगत कड़वे यथार्थ का पूरी सर्जनात्मकता से साक्षात्कार हिन्दी रचनाकार की उपलब्धि को विशिष्ट और महनीय बनाता है तथा उसकी रचनात्मक जागरूकता का जीवन्त प्रमाण प्रस्तुत करता है।

२९- 'इतिहास-चक्र' - डॉ० राममनोहर लोहिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद द्वितीय संस्करण, १९६८, पृ० ९८-९९।
३०- 'अजातशत्रु' 'जयशंकर' 'प्रसाद', १९७२, पृ० ७०, ८७, ८९-९०।
३१- 'आषाढ़ का एक दिन' - मोहन राकेश, १९५८, पृ० ५९, ६३, ९०-९४, ९९-१०४, ११३-११६।

हिन्दी के सुप्रतिष्ठित रचनाकार स०ही०वात्स्यायन" अज्ञेय " अजनबीपन की समस्या को " मूल्यगत द्वंद्व" और" अस्मिता के संकट " के रूप में अनुभव करते हैं तथा स्वीकारते हैं कि" संकटग्रस्त अस्मिता का बोध सब आधुनिकों को है"।[32] वे अजनबीपन की उपस्थिति को भारतीय संदर्भ में मानते हैं ।[33] तथा तकनीकी प्रगति को इसके मूल में देखते हैं ।[34] रचनाकार के रूप में" अज्ञेय " ने अजनबीपन के विविध आयामों का सर्वाधिक साक्षात्कार सक्षम रूप से किया है । इसके सांस्कृतिक पहलू के प्रति भी वे सचेत है ।[35] विज्ञान की तेज़ प्रगति से बाह्य जगत का मानचित्र जिस गति से बदला है उसका परिणाम यह हुआ है कि" जितने ही हमारे जानने के साधन बढ़ गये हैं, उतने ही हम अजनबी हो गये हैं।[36] एक जगह कहते हैं :" ध्रुव निश्चयपूर्वक इतना ही जान पाया है कि जो जीवन जी रहा हूं, वह मेरा नहीं है । ऐसे नहीं जीना चाहता, ऐसे नहीं जी सकूंगा ------।[37] इस पुस्तक में इसी तरह सृजनात्मक स्तर पर इस प्रकार के विशिष्ट क्षणों की सशक्त मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है जिसमें से अजनबीपन का बोध कौंधता रहता है । ऐसा ही एक विशिष्ट क्षण जिसमें अकेलेपन की मुखर स्वीकृति है :" अकेला तो मैं हूं । ठीक है, अकेला हूं । पर क्यों अकेला हूं ? क्या इसलिए कि राह से भटका हुआ हूं और इस तरह वीरान में आ गया हूं ? ---- क्या दुर्बल हूं इसलिए अकेला हूं ? या समर्थ हूं इसलिए अकेला हूं ? ----- ।[38]

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने अजनबीपन के विविध पहलुओं और आयामों को आधुनिकता के संदर्भ में विवेचित करने का गंभीर व सृजनात्मक प्रयास किया है । सब से पहले इन्होंने अजनबीपन के पारिभाषिक और अवधारणात्मक स्वरूप को स्पष्ट किया है । इनकी मान्यता है कि" परायेपन की मूल धुरी कार्य से पृथक हो जाने में है ।[39] अर्थात् आधुनिक युग में" मनुष्य का अभिलषित मुक्त,

---

३२- "आलवाल"- स०ही०वात्स्यायन, राजकमल प्रकाश, १६७१, पृ०२२ ।
३३- वही, पृ० २६ ।
३४- वही, पृ० ६० ।
३५- " भवन्ती" - अज्ञेय, राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १६७२, पृ० ८५ ।
३६- वही, पृ० ८८ ।
३७- वही, पृ० १२ ।
३८- वही, पृ० ३७-३८।
३९- आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण, डॉ० रमेशकुन्तल मेघ, पृ० १४७ ।

सचेतन, सहज और रचनात्मक कार्य अजनबी हो गया है तथा वह अपनी निजता खो बैठा है। इस तरह अजनबी कार्यकृति तथा निर्वैयक्तिक मनुष्य क्रमशः अकेली भीड़ तथा अजनबी इंसान के हेतु हैं। यही "आत्मपरायेपन" की धारणा है।[४०] अजनबीपन की अवधारणा पर प्रकाश डालने के बाद "समसामयिक परिदृश्य में भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्मपरायापन" शीर्षक अध्याय में डॉ० मेघ ने अजनबीपन का विवेचन भारतीय संदर्भ में किया है और कहा है कि "यह बीसवीं शताब्दी तथा उपनिवेशित रहे हुए स्वदेश का सब से तेजस्वी प्रश्न और समस्या है।[४१] अजनबीपन की समस्या पर गहराई से विचार करने के उपरान्त उन्होंने अपना मत प्रकट किया है कि मध्यकाल में कुटीर-उद्योगोंवाले कारीगरों तथा बेदखल किसानों के बीच अजनबीपन विद्यमान था किन्तु उन्हें इसका ज्ञान नहीं था।[४२] डॉ० मेघ के अनुसार भारतीय सामाजिक जीवन में व्याप्त अजनबीपन "विवश और अपंग किन्तु ऊर्जस्वी मनुष्य का परायापन है जो धर्म का आश्रय नहीं पा सका है'।[४३] इसी से उनका विश्वास है कि भारत में समाजवादी समाज के निर्माण से अजनबीपन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[४४] अपनी दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक "अथातो सौन्दर्यजिज्ञासा" में उन्होंने सामंती संरचनावाले समाज में उभरनेवाले अजनबीपन का संकेत किया है तथा दिखाया है कि कैसे मध्यकालीन सामंती समाजों में सत्ताधारी वर्ग और मेहनतकश जनता के बीच दरार पड़ती गई और ये धीरे-धीरे सांस्कृतिक प्रवहमान धारा से कटकर अजनबी बनते गये। इस अजनबीपन के कारण श्रमजीवी जनता मूढ़, ग्रामीण तथा हेय होती गई।[४५] हिन्दी साहित्य क्षेत्र में अजनबीपन के संक्रमण की चर्चा वे प्रेमचंद की बहुचर्चित कहानी "कफ़न" (१९३६) से करते हैं जिसमें वे कार्ल मार्क्स

४०- "आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण- डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, पृ० १६४।
४१- पूर्वोक्त, पृ० २२३।
४२- पूर्वोक्त, पृ० २२६।
४३- पूर्वोक्त, पृ० २३८।
४४- पूर्वोक्त, पृ० २२२।
४५- "अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा" - डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, १९७७, दि मैकमिलन कं०, दिल्ली, पृ० ४७२।

द्वारा 'अजनबीपन' शीर्षक लेख में प्रस्तुत 'श्रम के परायेपन' की अवधारणा की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखते हैं।[४६] इसके अलावा इन्होंने अन्य महत्वपूर्ण रचनाकारों गजानन माधव मुक्तिबोध[४७], निर्मल वर्मा,[४८] मन्नू भण्डारी[४९], दूधनाथ सिंह[५०] आदि अनेक युवा लेखकों[५१] की रचनाओं में अभिव्यक्त अजनबीपन की धारणा का आलोचनात्मक विवेचन अपनी विभिन्न कृतियों में प्रस्तुत किया है।

भारतीय समाज में अजनबीपन की चर्चा भिन्न-भिन्न संदर्भों में हुई है। कई चिन्तकों ने इस समस्या पर अलग-अलग दृष्टिकोणों से विचार किया है। आज के भारतीय समाज और जनजीवन में उपस्थित अजनबीपन की भावना को 'सांस्कृतिक अवरोध' और 'जातीय अस्मिता के संकट' के रूप में व्याख्यायित करके इस समस्या के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले चिन्तकों में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी और निर्मल वर्मा के नाम उल्लेखयोग्य है जिन्होंने इस समस्या से छुटकारा पाने के संबंध में भी गंभीर चिन्तन किया है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी इसे पूर्वी और पश्चिमी मूल्यों के द्वंद्व के रूप में देखते हैं। अपने एक लम्बे निबन्ध में इस मूल्यगत द्वंद्व के विभिन्न पहलुओं की चर्चा करते हुए वे इस समस्या का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। पूर्व और पश्चिम के बीच आज बहुत बड़ा व्यवधान है जिसके फलस्वरूप 'विचित्र सी रिक्तता' की अनुभूति होती है। इससे मुक्त होने के लिए डॉ० चतुर्वेदी 'आधुनिक' होने का सुझाव देते हैं।[५२] आधुनिक होने का अर्थ वे 'रचनात्मक प्रक्रिया के प्रति सजगता का भाव' और 'इतिहास की द्रुततर गति से परिचालना' से लेते हैं जिससे 'गति भले ही क्षिप्र से क्षिप्रतर हो पर इतिहास के सभी महत्वपूर्ण दौरों का जीवन्त स्पर्श मिल जाय।[५३]' जीवन की उत्तरोत्तर

४६- 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण, पृ० ४३३।
४७- पूर्वोक्त, पृ० ४३०-४३१।
४८- पूर्वोक्त, पृ० ३२३-३२४।
४९- पूर्वोक्त, पृ० २५६-२५८।
५०- क्योंकि समय एक शब्द है- डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, १९७५, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० १११-११४।
५१- पूर्वोक्त, पृ० १०४-१०७।
५२- 'समकालीन भारतीय साहित्य में पूर्व और पश्चिम के मूल्यों के बीच अवरोध की स्थिति,' क, ख, ग', अंक १, १९६३- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० २८।
५३- वही, पृ० २९।

बढ़ती गतिशीलता और जटिलता ' को ठीक से पहचानने और तदनुकूल ' अपनी संचरण -पद्धति ' निर्धारित करने की सलाह देते हुए डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ' आधुनिकता के क्षेत्र ' विस्तृत करने की बात करते हैं क्योंकि ' आधुनिकता वह दृष्टि और जीवन-पद्धति है जो पूर्व और पश्चिम के बढ़ते हुए अंतराल को कम करके सामंजस्य के लिए आवश्यक भाव-भूमि प्रदान कर सकती है ।[५४]

दूसरे चिन्तक निर्मल वर्मा इन प्रश्नों को बड़े व्यापक संदर्भ में सांस्कृतिक स्तर पर उठाते हैं । पहले वे भारतीय और यौरोपीय संस्कृति के वैशिष्ट्य को उभारते हैं और फिर उन मूलभूत अंतरों को रेखांकित करते हैं जिनसे यौरोपीय या भारतीय सांस्कृतिक चेतना का सृजन हुआ है । वे हमारा ध्यान भारतकी तुलना में पिछले एक हजार वर्षों में यूरोपीय मानस में हुए उन बुनियादी परिवर्तनों की तरफ़ आकर्षित करते हैं जिसने ' यूरोपीय मनीषा के ताने-बाने को आद्योपान्त बदल दिया है ।[५५] इसी तरह वे भारत में अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध संघर्ष को महज़ राजनैतिक स्तर पर न मानकर उसमें छिपे ' महत्वपूर्ण सांस्कृतिक पहलू ' को देखते हैं जहाँ ' भारतीय मनीषा की टकराहट सीधे यूरोपीय मान्यताओं से होती थी ।[५६] यूरोपीय चिन्तकों के भारतीय संस्कृति व परम्परा के सतही ज्ञान पर तीखा प्रहार करते हुए वे उन भारतीय बुद्धिजीवियों की भर्त्सना करते हैं जिन्होंने भारत की मुक्ति और विकास का एकमात्र रास्ता पश्चिम की राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं में देखा था ; ' उन बुद्धिजीवियों ने पश्चिम की तथा-कथित चुनौती का सामना करने के बहाने अपने देश की समूची जीवनधारा को एक ऐसे भविष्य की ओर मोड़ दिया था जो सिर्फ़ आत्मछलना थी । पिछले सौ वर्षों की आत्मछलना हमारे वर्तमान संकट के बीच है '।[५७] पश्चिमी तकनीकी सभ्यता को जबर्दस्ती अपने ऊपर लागू करके उन अमानवीय अंतर्विरोधों के शिकार हम बन गये जिनसे आज पश्चिमी जगत बुरी तरह ग्रस्त है । पर हमने कभी भी इस औद्योगिक प्रगति को ' जातीय गति ' से जोड़कर नहीं देखा ।[५८] वे कहते हैं कि

५४- 'समकालीन भारतीय साहित्य में पूर्व और पश्चिम के मूल्यों के बीच अवरोध की स्थिति' -'क,ख,ग ',अंक १,१९६३- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी,पृ० ३० ।

५५- 'पुराने फैसले : एक सिंहावलोकन' - निर्मल वर्मा, 'दिनमान', ३० नवंबर,७५, पृ०१२ ।

५६- पूर्वोक्त, पृ० १२ ।

५७- पूर्वोक्त, पृ० १३ ।

५८- पूर्वोक्त, पृ० १४ ।

हमारी समाज-व्यवस्था अपनी जीवन्त - प्रेरणा विभिन्न बहुमुखी स्रोतों से प्राप्त करती रही है । उस पर एक किस्म का एक रूप ढांचा लादने का मतलब है उन स्रोतों को नष्ट कर देना जिनसे हमारी संस्कृति अपनी 'अस्मिता का जल' ग्रहण करती रही है । इसी से वे उन निर्णयों के पुनर्मूल्यांकन की बात करते हैं जिन्हें हमारे पूर्वजों ने डेढ़ सौ साल पहले लिया था ।[५९]

अजनबीपन की भावना के मूल में इस सांस्कृतिक पहलू के अलावे दूसरे संदर्भ भी हो सकते हैं । आम भारतीय की मानसिक बुनावट कुछ ऐसी होती है जो यथार्थ से पलायन करने और उसे काल्पनिक लोक में प्रतिस्थापित करने में सहायक होती है । पौराणिक कथाओं और धार्मिक विश्वासों की जकड़बंदी इसके अनुकूल पड़ती है । अनागत जो कि अदृष्ट है कल्पना के स्वर्णिम जाल से आच्छादित रहता है एवं उसमें एक रोमैण्टिक चमक होती है जो सहज ही व्यक्ति को अपनी तरफ आकृष्ट कर लेती है । इस तरह एक अंतहीन प्रतीक्षा की शुरुआत होती है जिसमें सुदूर भविष्य में उसका त्राता और रक्षक आ जाएगा और उसके सारे कष्टों को हरकर उसके जीवन को अपार आनंद से भर देगा । इस प्रकार की प्रतीक्षा पर बड़े सशक्त ढंग से सीधा प्रहार डॉ० राम मनोहर लोहिया ने किया है ।[६०] और इसकी निरर्थकता की तरफ संकेत किया है । निर्मल वर्मा इसी संदर्भ में कहते हैं, 'कोई भी भविष्य चाहे वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो अपने वर्तमान को विकृत करके नहीं बनाया जा सकता ।[६१] मनोहर श्याम जोशी ने पूरे भारतीय समाज को जहाँ एक तरफ़ अपने अगाध विश्वास के लिए कोई कान्तिमय केन्द्र खोजने को छटपटाता देखा है, वहीं वे यह भी मानते हैं कि आज का व्यक्ति अपना सहज विश्वास खो बैठा है । उनके ही शब्द हैं : 'विश्वास की इस कमी को हम सब अनुभव करते हैं, किन्तु हमें किसी का इन्तज़ार है कि आए और इसे दूर करे । वे आएंगे वाली काव्य-भंगिमा में हम चतुराइयों के चौराहे पर इत्मीनान से बैठे हुए काल्पनिक क्रांतियों की प्रतीक्षा कर रहे हैं ।'[६२]

५९- 'पुराने फैसले : एक सिंहावलोकन' - निर्मल वर्मा, दिनमान, ३० नवंबर,७५ पृ०१४ ।

६०- इतिहास-चक्र' डॉ० राम मनोहर लोहिया, पृ० १२।

६१- निर्मल वर्मा, 'दिनमान', ३० नवम्बर, ७५, पृ० १३ ।

६२- 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', संपादकीय : मनोहर श्याम जोशी, १३ अक्टूबर,७४, पृ० ३ ।

यह "अंतहीन प्रतीक्षा" अजनबीपन के प्रमुख कारक के रूप में विद्वानों में चर्चित रही है। एक जर्मन चिन्तक अर्नेस्ट जी० श्चैटेल ने इसका बड़ा सुन्दर विश्लेषण निम्नलिखित पंक्तियों में किया है :" सब से बड़ी तर्कहीन आशा तो यह है कि कोई चामत्कारिक शक्तियों से युक्त ऐसा व्यक्ति आएगा जो उसे सुरक्षा के घेरे में या इससे भी अत्यंत उच्चदशा जहाँ सारी सुख-सुविधाएं प्राप्त हैं, प्रदान करेगा क्योंकि तब वह उन गुणों से युक्त होगा जो उसका पीछा करने के बजाय बचाव करेंगे। लेकिन यह कुछ भी नहीं है, जो वर्तमान में उसे नीचे गिराकर तेजी से घसीट रहा है, उसी का वह अनूठा सहायक है।[६३] भारतीय समाज में इसको विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है जो अजनबीपन की भावना की उपस्थिति का सूचक है। कुबेरनाथ राय के ललित निबंधों में भी इसका संदर्भ मिल जाता है।[६४] दूसरे ललित निबन्धकार डॉ० विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंधों[६५] में तकनीकी विकास की अस्वाभाविकता और उसके वस्तुपरक अमानवीय पहलू की चर्चा विशद रूप में मिलती है।

६३- मैन अलोन : एलिएनेशन इन मार्डन सोसायटी" में अर्नेस्ट जी श्चैटल।

६४- "आज सूर्य अस्त है, चन्द्र अस्त है, अग्नि शान्त है, घोर अंधकार है, चारों ओर शुभाशुभवाची जम्बुक स्वर उठ रहे हैं। ऐसे में मैं एक नये श्रीकृष्ण जन्म की प्रतीक्षा कर रहा हूं। मैं देवशिशु के अवतरण की प्रतीक्षा कर रहा हूं। मुझे ज्ञात है कि अवतरण होगा पर इस बार रूप नहीं, भाव का अवतरण होगा, इस बार अवतरण की शैली सामूहिक होगी।"
"रस आखेटक" - कुबेरनाथ राय, १९७०, पृ० १९७।

६५- (I) "आज का हर एक आदमी आदमी के फैलाये यंत्रजाल में इस तरह क़ैद हो गया है कि यह क़ैदखाना उसका घर हो गया है, न इसके बिना वह जी सकता है और न इसमें जीते हुए वह चैन पा सकता है।"
"मैं अँधेरे से उबारा रहा हूं," साप्ताहिक हिन्दुस्तान", १७ नवंबर, ७४ पृ० ७।

(II) "क्योंकि यह हर किसी को मालूम है कि जब यंत्र आदमी और आदमी के बीच मध्यस्थता का काम करता है तो वह चाहे कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो वह आदमी और आदमी के बीच में एक ग़ैर आदमियत के शून्य का अंतराल भी अपरिहार्य रूप से भर देता है। जो लोग एक साथ बैठे टेलिविज़न देखते हैं, उन सब की आँखें टेलिविज़न पर केन्द्रित होती है और एक साथ सटकर बैठे हुए लोग भी एक दूसरे से तब तक अलग रहते हैं जब तक कि टेलिविज़न बंद नहीं कर दिया जाता है।"
"तकनीक और आदमी", धर्मयुग, २८ सितंबर, ७५, पृ० १३।

स्वतंत्रता के बाद " स्वराज्य " की कल्पना सही अर्थों में चरितार्थ नहीं हुई, लोकतंत्र और समाजवाद की हवाई बातें होती रहीं । देश-विभाजन और साम्प्रदायिकता की दुहरी मार तथा औद्योगिकरण, शिक्षा के द्रुत प्रसार आदि ने पूरे जनमानस को झकझोर दिया । समाज की पुरानी मर्यादाओं और मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगा दिये गये । पुराने समाज से आज के समाज में आया यह बदलाव चाहे शिक्षा के द्रुत प्रसार से हुआ हो या औद्योगिकरण के बढ़ते कदमों से ; इससे जीवन की जटिलताएं बढ़ती गईं और पुराने प्रतिमान अप्रासंगिक होकर चुक गये । पहले चीजें इतनी उलझी हुई नहीं थी । हर चीज का अपना एक निश्चित अर्थ होता था तथा सीमित सरलीकरण से काम चल जाता था । पर अब सब कुछ बदल गया था । इस बदलते हुए परिवेश और इससे उत्पन्न मोह भंग की स्थितियों तथा जीवन में दिनोंदिन बढ़ती ऊब, तनाव और निराशा या विसंगति और अजनबीपन की स्थितियों को चित्रित करने की तरफ हिन्दी साहित्यकार झुका । इससे साहित्य में एक नया मोड़ आया । मोहन राकेश जैसे समर्थ रचनाकार की सारी रचनाओं की पृष्ठभूमि इसी महानगरीय जीवन की विसंगति और अजनबीपन के बोध पर आधारित है ।[६६] मोहन राकेश अपने शिल्प विधान में प्रेमचंद-स्कूल के हैं, इसी से परम्परित तथा सर्वस्वीकृत ढांचे के अंतर्गत वे अपनी बात कहते हैं तथा संतुष्ट हो जाते हैं । उल्लेखनीय बात यह है कि इसी काल में " अभिव्यक्ति के संकट " की चर्चा जोर पकड़ती है, जिसे निर्मल वर्मा परम्परित ढांचे को तोड़कर नये शिल्प के द्वारा हल करने का प्रयास करते हैं और नरेश मेहता और मणिमधुकर जैसे ~~लेखक~~ लेखक भाषा को झटके पर झटका देकर चौंकानेवाले प्रयोगों से । लक्ष्मीकान्त वर्मा का कथन प्रासंगिक है : " आज हम जीवन की जिस गहनता को भोग रहे हैं, उसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्द शक्ति शायद पर्याप्त नहीं है क्योंकि जो भी शब्द हैं, वे कभी-कभी ऐसे लगते हैं जैसे इनमें से अधिकांश संदर्भहीन , अर्थहीन और संस्कारहीन हो

६६-" आषाढ़ का एक दिन ", " लहरों के राजहंस ", " आधे-अधूरे " , न आने-वाला कल ", " अंधेरे-बंद कमरे " इत्यादि ।

गये हैं ।[६७] हिन्दी भाषा को अपना सही रूप जगदम्बा प्रसाद दीक्षित [६८] में आकर मिलता है जहाँ उपन्यास की भाषा भी काव्यभाषा के स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाती है ।[६९] इस प्रकार हिन्दी का रचनाकार महानगरीय जीवन की विसंगति का मुँहामुँह साक्षात्कार करने में किसी से पीछे नहीं है। मोहन राकेश और जगदम्बा प्रसाद दीक्षित जैसे समर्थ रचनाकारों की कृतियों में यह महानगरीय जीवन पूरी भयावहता के साथ रूपायित हुआ है । आधुनिक जीवन की विडम्बना, विसंगति, अजनबीपन, ऊब, संत्रास आदि की सशक्त अभिव्यक्ति इनमें हुई है ।

अजनबीपन की व्यथा को लेखिकाओं में उषा प्रियम्वदा ने बौद्धिक और रचनात्मक स्तर पर झेला है । अजनबीपन की भावना की अत्यंत स्पष्ट और मुखर स्वीकृति उनकी कहानियों और उपन्यासों में देखी जा सकती है । भारतीय समाज में अजनबीपन की स्थिति को वे साहस के साथ स्वीकार भी करती है ।[७०] गजानन माधव मुक्तिबोध कहते हैं कि आज का व्यक्ति वस्तुत: एक "सांस्कृतिक शून्य" में रह रहा है,[७१] जहाँ उसकी भटकन का कोई अंत नहीं । डॉ० रमेश कुन्तल मेघ के शब्दों में, "मुक्तिबोध ने फंतासी का प्रयोग जिस प्रकार किया है, वह हिन्दी में पहला है और 'काफ़काई फंतासी" जैसा है जिसमें रहस्य और जासूसी काम होता है किन्तु समाज के बर्बरीकरण एवं व्यक्ति के आत्म परायेपन का एक विपुल संसार आबाद होता है ।[७२] काफी पहले शिवदानसिंह चौहान ने अपने संपादकीय लेख में इस विषय का विद्वत्तापूर्ण विवेचन करके लोगों का ध्यान इस समस्या की तरफ़ खींचा था ।[७३] कहानीकार उपन्यासकार के रूप में

६७- एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ कागज़ " - लक्ष्मीकांत वर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६५ - "दो शब्द" से ।

६८-'कटा हुआ आसमान " और " मुर्दाघर " ।

६९-'आधुनिक हिन्दी उपन्यास," नरेन्द्र मोहन,१९७५, द मैकमिलन कं०,दिल्ली,पृ०१९।

७०-'मेरी प्रिय कहानियाँ"- उषा प्रियम्वदा, पृ० ९-१० ।

७१-'एक साहित्यिक की डायरी" - गजानन माधव मुक्तिबोध, तीसरा संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० ७४ ।

७२-" आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण" ,पृ० ४३१ ।

७३-" आधुनिक समाज में अलगाव (एलिएनेशन) की समस्या "- शिवदान सिंह चौहान," आलोचना" दिसंबर,६६, पृ० १-८ ।

चर्चित डॉ० शिव प्रसाद सिंह अजनबीपन की स्वीकृति में किसी से पीछे नहीं हैं। उनको भारतीय परिवेश में अस्तित्ववाद के प्रसार के लिए बड़ी उर्वर भूमि दिखाई पड़ती है।[७४] शिव प्रसाद सिंह इसकी विवेचना तकनीकी अलगाव के रूप में करते हैं। उनकी स्थापना है कि "जैसे - जैसे तकनीकी विकास होता जाएगा आदमी अपने को परिवेश से कटा हुआ और बेसहारा अनुभव करता जाएगा।[७५] इस प्रकार मशीनी सभ्यता ने आज के मनुष्य और उसके सामने विद्यमान जगत के बीच अफाट अलगाव और विसंगति खड़ी कर दी है। यह तकनीकी अलगाव की समस्या है जिससे उबरने के लिए आधुनिक मनुष्य छटपटा रहा है।[७६] डॉ० बच्चन सिंह को भी आज का सारा का सारा परिवेश अस्तित्ववादी दिखता है।[७७] आज के युग को "अजीब अंतर्विरोधों का युग" बताते हुए कहते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि के साथ भीड़ का दबाव बढ़ता जा रहा है जिससे मनुष्य अपने को "अधिकाधिक कटा हुआ" और "बेगाना" महसूसकर रहा है। वे स्वीकारते हैं, "औद्योगिककरण, महानगरीय सभ्यता और भ्रष्ट व्यवस्था ने व्यक्ति को अजनबी, मिसफिट, अकेला और संत्रस्त बना दिया।"[७८] प्रगतिवादी समीक्षक अमृतराय के लिए अजनबीपन और संवादहीनता दोनों मूलत: एक ही चीज़ है जिनके ये दो नाम या दो कोण हैं। उनके अनुसार "आदमी और आदमी के बीच संवाद नहीं है और न होने की संभावना है, इसीलिए सब एक दूसरे के लिए अजनबी हैं।[७९] अमृत राय इस अजनबीपन या संवादहीनता को आधुनिक साहित्य की एक बड़ी समस्या मानते हैं तथा उनका यह विचार है कि यह समस्या मुख्यत: महानगरीय जीवन की है, जहाँ "संबंध जितने हैं, सब प्रयोजन के संबंध हैं, शुद्ध मानवीय स्तर पर भी कोई संबंध हो सकता है, इसकी संज्ञा जैसे लुप्त हो गई है।[८०] इस "निर्लज्ज पैसा - पूजक, सफलता-पूजक समाज" में सामाजिक

७४- 'आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद'- डॉ० शिवप्रसाद सिंह, १९७२, पृ०१४।
७५- पूर्वोक्त, पृ० ३।
७६- पूर्वोक्त, पृ० ३।
७७- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास', पृ० ३८।
७८- 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा' - अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७७, पृ०१३९।
७९- पूर्वोक्त, पृ० १३५।
८०- पूर्वोक्त, पृ० १३६।

मान-सम्मान और प्रतिष्ठा की एक और केवल एक कसौटी है, धन । फलत: एक ऐसे निर्वैयक्तिक समाज की सृष्टि होती है, 'जिसमें कोई किसी का नहीं है, काम की बात के अलावा कुछ भी किसी के पास किसी से कहने के लिए नहीं है, न फुर्सत है ।[८१]

अजनबीपन के सिद्धान्त को ज्ञान तथा शास्त्र से अलग साहित्य के जटिल क्षेत्र में लागू करके इसके माध्यम से रचनाओं की जांच-परख करने का कार्य हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में डॉ० इन्द्रनाथ मदान[८२] और डॉ० रमेश कुन्तल मेघ[८३] ने अपनी विभिन्न कृतियों के माध्यम से शुरू किया । आलोचनात्मक स्तर पर इन विद्वानों ने अजनबीपन के प्रत्यय को रेखांकित करके महत्वपूर्ण कार्य किया है । डॉ० बच्चन सिंह[८४] और डॉ० रामदरश मिश्र[८५] ने अपने लेखों में इसकी चर्चा की है । एक दूसरे विद्वान कपिलमुनि तिवारी ने अजनबीपन के पारिभाषिक व अवधारणात्मक स्वरूप को स्पष्ट करने का रचनात्मक प्रयास अपने एक लेख में किया है ।[८६] यहां डॉ० गार्डन रोडरमल की चर्चा प्रासंगिक होगी जिन्होंने 'आधुनिक हिन्दी कहानी : अजनबीपन का दर्शन '[८७] विषय पर अपना शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर आधुनिक हिन्दी कहानियों में अजनबीपन की समस्या के चित्रण का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया ।

- - -

८१- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास', पृ० ४५।

८२- 'हिन्दी - उपन्यास : एक नई दृष्टि' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान

८३- (१) 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण'
(२) 'मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका'
(३) 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा'

८४- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' में डॉ० बच्चन सिंह का लेख ।

८५- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' में डॉ० रामदरश मिश्र का लेख ।

८६- ' स्वत्व-अंतरण (एलियनेशन) के बारे में - कपिलमुनि तिवारी, 'धरातल' अंक ४, जून १९७८, पृ० १७-२० ।

८७- अपार प्रकाशन, दिल्ली से शीघ्र प्रकाश्य ।

तृतीय अध्याय

हिन्दी उपन्यास का जातीय चरित्र

तृतीय अध्याय

हिन्दी उपन्यास का जातीय चरित्र

प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी उपन्यास की जातीय अंतरंगता, उसकी संपूर्ण मानसिकता तथा उसके भावनात्मक परिवर्तन के उतार-चढ़ाव को उसकी सम्पूर्णता में पकड़ने और पहचानने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी उपन्यास के जातीय चरित्र का तात्पर्य उस ढांचे की परख और पहचान से है जिससे हिन्दी उपन्यास का बुनियादी स्वरूप निर्मित हुआ है। उपन्यास मूलत: व्यक्ति से अधिक जाति की कथा है। इसलिए उपन्यास के संदर्भ में जातीय चरित्र की एक विशेष व्यंजना बनती है। जातीय चरित्र को रचनेवाले तत्वों में परम्परा का प्रवाह, सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध वैचारिक टकराहट और नई विचारधारा का संस्पर्श है। उपन्यास के रचना-विधान में इनकी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति जातीय चरित्र के स्वरूप को निर्धारित करती है।

मानव जीवन की उत्तरोत्तर बढ़ती समस्याओं और जटिलताओं को समझने - समझाने और समेटने की प्रक्रिया में आधुनिक काल में उपन्यासों का आविर्भाव हुआ। आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता के संघात से उत्पन्न मध्यमवर्गीय जीवन से उपन्यास जुड़ा हुआ है। उपन्यास के विकास का संबंध यथार्थवाद से घनिष्ठ रूप में है। उपन्यास ने मानव जीवन की यथार्थ वास्तविकता पर अपना ध्यान केन्द्रित कर जीवनगत अनुभूति को समग्र रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। उपन्यासों के रूपगत वैविध्य के मूल में अनुभूति की जटिलता है। वस्तुत: उपन्यास वस्तुमूलक यथार्थवादी बौद्धिक चेतना की देन है- तथा आज की सर्वाधिक विकासशील और व्यापक साहित्य विधा है। इसका निजी स्वरूप मानव मन की अतल गहराइयों में व्याप्त रहस्यों को उद्घाटित और अभिव्यक्त करने में है। इसी से यह सभी पूर्व निश्चित सांचों को तोड़ देता है।

हिन्दी उपन्यास का इतिहास पिछले सौ वर्षों का है। प्राचीन भारतीय साहित्यिक परम्पराओं से जोड़कर हिन्दी उपन्यास के इतिहास

को हजारों वर्ष पुराना सिद्ध करने के छिटपुट प्रयत्नों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास का जन्म पश्चिम के प्रभाव और अनुकरण के क्रम में आधुनिक काल में हुआ । हिन्दी उपन्यास के इतिहास में प्रेमचंद का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है । उनका विराट व्यक्तित्व हिन्दी उपन्यास के केन्द्र में अवस्थित है। हिन्दी उपन्यास के विकास-क्रम की विशिष्टताओं के उद्घाटन के लिए प्रेमचन्द को केन्द्र में रखकर सुगम ढंग से इस प्रकार का काल विभाजन किया जा सकता है :-

(I) पूर्व प्रेमचंद युग (१९वीं शती के उत्तरार्द्ध से २०वीं शती के दूसरे दशक तक)

(II) प्रेमचंद युग (२०वीं शती के दूसरे दशक से चौथे दशक तक)

(III) प्रेमचंदोत्तर युग (चतुर्थ दशक से छठें दशक तक)

(I) साठोत्तरी उपन्यास (सातवें दशक से अब तक)

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी के प्रथम उपन्यास[१] 'परीक्षा गुरु (१८८२ ई०) का प्रकाशन हुआ । भारतीय मानस विशेषकर मध्यवर्गीय समाज की सम्पूर्ण मानसिकता, आशाएं-आकांक्षाएं और आदर्शों की हिन्दी उपन्यास में रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति हुई । पर समकालीन जीवन चेतना के दबाव से इन आरंभिक उपन्यासों का मूल स्वर नैतिकतावादी और उपदेशपरक रहा । अनेक वर्षों तक हिन्दी उपन्यास का स्वरूप स्पष्ट न हो सका । अंग्रेजी या बंगला उपन्यासों के अनुवाद या भावानुवाद हिंदी में प्रकाशित होते रहे तथा इनके प्रभाव से हिन्दी के मौलिक उपन्यासों की संख्या बढ़ने लगी । डॉ० रघुवंश के अनुसार, प्रारंभिक काल के उपन्यासों पर संस्कृत के कथा-साहित्य, लोक-प्रेमकथा-साहित्य और अंग्रेजी के साधारण कोटि के उपन्यासों का प्रभाव

१- 'हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ४५५ ।

था तथा इनमें कौतूहल, प्रेम तथा सुधार की भावना प्रधान थी।[२]

इस समय के सामाजिक उपन्यासों की चेतना यथार्थ के ऊपरी, स्थूल स्तर से जुड़ी हुई है तथा जीवन की मूल चेतना काल्पनिक और चटकीले रंगों में अभिव्यक्त हुई है। भाषागत अपरिष्कृति, कच्चापन और कलाहीनता को रोमांटिक कल्पना से ढंकने का प्रयत्न किया गया है। सामाजिक विसंगतियों को उभारने का हल्का प्रयास मिलता है। नारियों की दुर्दशा के करुण चित्र मिलते हैं। अनमेल विवाह, दहेज-प्रथा, वेश्यावृत्ति आदि पर तीखी चोट मिलती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस संदर्भ में लिखा है :" वे सभी सामाजिक दृष्टि से सुधारवादी थे। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सुधार करना चाहते थे।"[३] इस युग के उपन्यासों में जहां एक ओर समाज सम्मत आचरण करनेवालों के आदर्श जीवन का चित्रण मिलता है वहां दूसरी ओर विकृत संस्कारों और कुप्रथाओं के कारण होनेवाले अनर्थों का वर्णन करके सुधारों की मांग बड़े ज़ोरों की मिलती है। इन उपन्यासों के नायक-नायिकाएं सच्चरित्र, त्यागवान तथा कष्ट सहिष्णु होते थे। कई उपन्यासों में ऐसे नायक-नायिकाओं के जीवन व्यापी कष्टों का चित्रण हुआ जो समाज के विकृत संस्कारों और कुप्रथाओं के शिकार हुए थे। ऐसे उपन्यासों में सुधार की आवश्यकता बड़े ज़ोर से प्रतिपादित की गई है।

इस युग के प्राय: सभी उपन्यासकारों का उद्देश्य पाश्चात्य संस्कृति का बहिष्कार कर परम्परागत भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का रहा है। अंग्रेज़ी शासन के गुणानुवाद गाकर भी इन उपन्यासकारों ने नई सभ्यता तथा संस्कृति का समर्थन नहीं किया। इसका मूल कारण यह था कि वे पाश्चात्य सभ्यता के प्रभावों से सशंकित थे। उस समय यह स्थिति थी कि रेल को देखकर व्यक्ति के मन में यह विचार आने लगता था कि उनके धर्म और नैतिकता को भ्रष्ट करने का यह एक षड्यंत्र है।[४] उस समय के उपन्यासकार पाश्चात्य संस्कृति

२- 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' - डॉ० रघुवंश, द्वितीय संस्करण, १९६८, पृ० १०१।
३- 'आधुनिक साहित्य' - आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, चतुर्थ संस्करण, पृ० ११।
४- 'प्रेमचंद-पूर्व के कथाकार और उनका युग' - लक्ष्मणसिंह बिष्ट, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ७१।

के आक्रमणकारी प्रभाव से सचेत होकर अपनी रचनाओं में पश्चिम से आये नये हानिकारक तत्वों की ओर संकेत करते थे तथा भारतीय जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था प्रकट करते थे। इस प्रकार प्रेमचंद-पूर्व के उपन्यासों में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति विरोध स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यहां तक कि वेदान्त के आधार पर समाज सुधार करनेवाले आर्य समाज के विचारों को असंगत ठहराकर उसका विरोध किया गया।[५] सनातन धर्म के आदर्शों का समर्थन करते हुए गोपालराम गहमरी ने अपने उपन्यासों में विधवा-विवाह तथा स्त्री-स्वातंत्र्य की निन्दा की है। भारतीय संस्कृति की उपेक्षा करनेवाले वर्ग की जीवन-दृष्टि पर इस काल के रचनाकारों ने तीखा व्यंग्य किया है। किशोरीलाल गोस्वामी भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक थे। उनके उपन्यासों के पात्र अंग्रेजी दवा का पान तक हेय समझते हैं। "मालती माधव व मदनमोहिनी" (१९०६) उपन्यास में पढ़ा-लिखा डाक्टर स्वयं रुग्ण नारी जमुना को अंग्रेजी दवा पिलाकर उसका अंत नहीं बिगाड़ना चाहता।[६] स्पष्टतः यहां अंग्रेजी वस्तुओं के प्रति घृणा प्रकट होती है।

पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर लोग किस प्रकार विवाह-पूर्व प्रेम करने लगे हैं, इस पर "चपला व नव्य समाज चित्र" (१९०३) में कटु व्यंग्य किया गया है।[७] इसी प्रकार मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास "आदर्श दम्पति" (१९०४) का एक पात्र नयनसेन विलायत जाकर पाश्चात्य संस्कृति में रंग जाता है और अपना नाम बदलकर मिस्टर नैन्सन कर लेता है। किन्तु जापान में जाकर उसे भारतीय संस्कृति की महत्ता का बोध होता है और वह अपने पाश्चात्य आदर्शों के झुकाव के प्रति लज्जित होता है।[८] मेहता जी ने अपनी रचनाओं में

५-(i) "सुशीला विधवा" - मेहता लज्जाराम शर्मा, १९०७, पृ० १५७।
(ii) "आदर्श हिन्दू" भाग १- मेहता लज्जाराम शर्मा, १९१४, पृ० ११७।

६- "मालती माधव व मदन मोहिनी", भाग २, किशोरीलाल गोस्वामी, १९०६, पृ० २०१।

७- "चपला व नव्य समाज चित्र", भाग १, किशोरीलाल गोस्वामी, द्वितीय संस्करण, १९१५, पृ० ९०।

८- "आदर्श दम्पति" - मेहता लज्जाराम शर्मा, १९०४, पृ० ६६।

भारतीय संस्कृति का जयघोष करते हुए इसकी गरिमा और गौरव का आख्यान किया है । इसी से उनके उपन्यासों में पाश्चात्य मूल्यों से आक्रांत पात्र अंत में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की उदात्तता के आगे नतमस्तक होकर पराजय का अनुभव करते हैं । "स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी" (१८६६) में पाश्चात्य रंग में रंगी रमा, आदर्श नारी लक्ष्मी के आगे भारतीय मूल्यों से अभिभूत होकर झुकती है । इसी के अनुरूप "बिगड़े का सुधार अर्थात् सती सुख देवी" (१६०७) में बनमाली भारतीय आदर्शों के प्रति निष्ठावान अपनी पत्नी के सामने पराभूत होकर प्रायश्चित करता है । इस प्रकार इस काल के उपन्यासों का उद्देश्य पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में परम्परित भारतीय मूल्यों की विजय दिखाना है ।

हिन्दी के प्रथम उपन्यास "परीक्षा-गुरु" (१८८२) में पाश्चात्य संस्कृति एवं उसके दूषित प्रभावों का चित्रण किया गया है । अंग्रेजों के आगमन से पूंजीवादी सभ्यता का विकास विशेष रूप से देश में होता है । लेखक ने पूंजीवादी समाज और संस्कृति की विकृतियों को कुशलता से उभारते हुए, व्यक्ति और समाज की समस्याओं को देशहित की भावना से देखा है । अंग्रेजों के संपर्क से नई सामाजिक चेतना के उद्बुद्ध होने के साथ बहुत से दुर्गुण उत्पन्न हुए । बनावटी शान-शौकत का प्रदर्शन और दिखावटीपन इन विकृतियों में से एक है जो सामंती मानसिकता के कारण विशेष रूप से पनपा । "परीक्षा-गुरु" का लाला मदन-मोहन नई-पुरानी विकृतियों से ग्रस्त पात्र है जो अपने स्वार्थी चापलूसों और चाटुकारों से हरदम घिरा रहता है ।[६] इस युग का आदर्श सामाजिक जीवन में आई विकृतियों को दूर करना था । अतएव "परीक्षा-गुरु" का ब्रज किशोर अपने चरित्र की श्रेष्ठता एवं उदारता से अपने भटके मित्र मदनमोहन को सत्पथ पर लाने का प्रयत्न करता है । मदनमोहन के चरित्र को सुधारने का लक्ष्य बनाकर उसका संपूर्ण चरित्र परिचालित होता है । ब्रजकिशोर भारतीय संस्कृति का उपासक है । इसलिए अंग्रेजों की अंधनकल करने के पक्ष में नहीं है । उसको सनातन-धर्म की मर्यादा

६- "परीक्षा-गुरु" - लाला श्रीनिवास दास, कृष्णम चरण जैन एवं संतति, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १६७४, पृ० १८-१६ ।

का ध्यान है । वह चारित्रिक श्रेष्ठता के लिए जगह-जगह हिन्दू धर्म ग्रंथों के आदर्शों का उदाहरण रखता है क्योंकि अंग्रेज़ी शिक्षा और सभ्यता के प्रसार से हमारे जातीय चरित्र में गिरावट आने लगी थी । वह देश की उन्नति चाहता है । इसी से चारित्रिक सुधार के लिए सहज भाव से अंग्रेज़ों के चरित्र के उत्तम गुणों को अपनाने का आग्रह करता है ।[१०] परम्परित किस्सागोई से दूर हटकर कथ्य की नवीनता के समावेश के बाद भी यह उपन्यास उपदेशात्मक था । डॉ० रामदरश मिश्र ने इसे सामाजिक यथार्थ की चेतना का उपन्यास बताते हुए[११] कहा है कि लेखक वास्तव में अपने समय में अंग्रेज़ों के प्रभाव से और अपनी विकृत मध्यकालीनता के प्रभाव से देश और समाज में उत्पन्न होने वाली सामाजिक और चरित्रगत विसंगतियों और विकृतियों का उद्घाटन कर तथा उनका समाधान प्रस्तुत कर कुछ शिक्षा देना चाहता है ।[१२]

यह उपदेशात्मक, आदर्शपरक और सुधारवादी मनोवृत्ति बाद के अनेक उपन्यासों में मिलती है । बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी'(१८८६) एक शिक्षाप्रद और छात्रोपयोगी उपन्यास है जिसका नायक एक ब्राह्मण बालक विनायक है जिसके भोलेपन और सुशीलता पर मुग्ध होकर डाकू बिना लूटपाट किये चले जाते हैं । इस उपन्यास में लेखक का मंतव्य विनम्रता व सुशीलता से निष्ठुर और क्रूर व्यक्ति के प्रभावित होने का अंकन करना है । इनके दूसरे उपन्यास 'सौ अजान एक सुजान' (१८९०-९५)' में दौलतमंद भाइयों को कुछ दुष्ट व्यक्ति गुमराह करके कुमार्गगामी बना देते हैं । किन्तु अंत में इनके अध्यापक चंद्रशेखर की सज्जनता ,उदारता व अथक प्रयत्नों से दुष्टों को दण्ड मिलता है तथा दोनों भाई सन्मार्ग पर आ जाते हैं ।

१०- हिन्दुस्थानियों को आजकल हर बात में अंग्रेज़ों की नकल करने का चस्का पड़ रहा है तो वह भोजन वस्त्रादि निरर्थक बातों की नकल करने के बदले उनके सच्चे सद्गुणों की नकल क्यों नहीं करते ? देशोपकार, कारीगरी, व्यापारादि में उनकी उन्नति क्यों नहीं करते ?'- परीक्षा गुरु'- लाला श्रीनिवास दास, पृ० १६६ ।

११- पूर्वोक्त, प्रस्तावना - डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० ५ ।

१२- पूर्वोक्त, पृ० ७ ।

इस प्रकार भट्ट जी के दोनों उपन्यासों का ढांचा सुधारवादी व आदर्शात्मक है तथा इनमें सज्जनता का बखान किया गया है।

मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास सांस्कृतिक चेतना और जातीय गौरव से अनुप्राणित हैं। आदर्शात्मक प्रवृत्तियों का चरम निरूपण इनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है। उन्होंने अपने समय के लेखकों से सामाजिक कल्याण का लक्ष्य रखकर रचना-कर्म में प्रवृत्त होने का अनुरोध किया था।[१३] उनका मत था कि उपन्यास ऐसे बनना चाहिए जिससे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो, जिन्हें पढ़ने से पाठकों के चरित्र सुधरें और वे दुराचारों से छूटकर सदाचार में प्रवृत्त हों।[१४] इस प्रकार अपने आदर्शवादी मंतव्यों के अनुरूप इन्होंने उपन्यासों की रचा। 'धूर्त रसिकलाल '(१८९९) में एक ऐसे धूर्त मित्र का वर्णन है जो सेठ मोहनलाल को बहकाकर शराब, जुआ और वेश्याओं के चंगुल में फंसा देता है और उनकी सती-साध्वी पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है। सम्पत्ति की लालच में सेठानी को विष देने का प्रयास करता है। लेकिन अंत में धूर्त रसिक लाल के कारनामों की पोल खुलती है और वह दंडित होता है तथा सेठ-सेठानी सुखी होते हैं।

'आदर्श दम्पत्ति'(१९०४) में भारतीय परम्परा के अनुसार पति-पत्नी के आदर्श प्रेम का चित्रण है। 'बिगड़े का सुधार वा सती सुखदेवी' (१९०७) में एक ऐसी पतिव्रता स्त्री का चित्रण है जो अपने सेवाभाव, सतीत्व, एकान्तिक निष्ठा और आदर्श चरित्र के बल पर अत्याचारी और कुमार्ग-गामी पति को सुधारने में सफल होती है। 'आदर्श हिन्दू' (१९१४-१५) में कलहप्रिय सुखदा का हृदय - परिवर्तन सेठ-सेठानी की सज्जनता से होता है। इस प्रकार मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने उपन्यासों में स्वार्थ के कारण उभरनेवाली पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं को उठाकर उनका आदर्शवादी हल पेश किया है।

१३- 'जिन सुलेखकों को अपने उपन्यासों की रोचकता का अधिक गर्व है, वे यदि ऐयारी- तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर चल पड़े तो हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते हैं।' - बिगड़े का सुधार वा सती सुख देवी' - मेहता लज्जाराम शर्मा, १९०७, भूमिका।

१४- 'आदर्श दम्पत्ति' - मेहता लज्जाराम शर्मा, १९०४, भूमिका।

काव्यात्मक बंगला उपन्यासों के अनुकरण पर हिन्दी साहित्य में भावुकतापरक मानी उपन्यासों की नींव डालनेवाले ब्रजनन्दन सहाय का महत्व, तत्कालीन पाठक-वर्ग की रुचि द्वारा शासित न होकर, उसे परिष्कृत और अभिजात बनाने के प्रयत्नों में है ।[१५] अपनी आदर्शात्मकता और सोद्देश्यता के कारण इनके उपन्यास[१६] "परीक्षा-गुरु" की रचना-परम्परा में आते हैं । "राधाकांत" (१९१२) की भूमिका में व्यक्त विचारों से लेखक की प्रौढ़ता और साहित्यिक जागरूकता का पता चलता है ।[१७] इस उपन्यास में लेखक ने पाप-पुण्य की समस्या को सामाजिक संदर्भों में उठाया है ।[१८] साहित्य-क्षेत्र की अराजकता और चौर्य वृत्ति[१९] तथा हिन्दी समालोचना में वस्तुपरकता और यथार्थ के अभाव का संकेत किया है ।[२०] आदर्शात्मकता उन नसीहतों से विशेष रूप से झलक पड़ती है जो वे अपने पात्रों के माध्यम से पाठकों को देते चल रहे हैं ।[२१]

१५- "हिन्दी उपन्यास कोश, खण्ड १, डॉ० गोपाल राय, पृ० १३५ ।

१६- "राजेन्द्र मालती" (१८९७)", अद्भुत प्रायश्चित्त (१९०६)" सौन्दर्योपासक" (१९११), "राधाकांत" (१९१२), "अरण्यबाला (१९१५) ।

१७- जब घटनापूर्ण, अश्लीलतामय चरित्रनाशी, रसीली कहानियां पढ़ते-पढ़ते आप लोगों का जी ऊब जाय तब आप लोग इसे अपने हाथ में लीजियेगा और देखियेगा कि आप लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है कि नहीं, आप लोग इससे कुछ शांति का अनुभव करते हैं कि नहीं ।" - राधाकांत" - ब्रजनन्दन सहाय, द्वितीय संस्करण १९१८, हरिदास एण्ड कंपनी, कलकत्ता, भूमिका ।

१८- पूर्वोक्त, पृ० १३-१५ ।
१९- पूर्वोक्त, पृ० १०७ ।
२०- पूर्वोक्त, पृ० ११० ।

२१- पूर्वोक्त -

(i) "पाप के द्वारा कोई कभी सुखी नहीं हो सकता । शारीरिक सुख सुख नहीं है । सुख का संबंध केवल मन के साथ, आत्मा के साथ है ।" - (पृ० १७६)

(ii) "धन्यवाद देने से मन में शांति आती है एहसान का बोझ कम होता है, चरित्र उन्नत होता है और अधिक कृपा मिलने की आशा होती है। (पृ० १४३)

कत्व

किशोरीलाल गोस्वामी इस युग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाकार हैं जिनको आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने एकमात्र साहित्यिक लेखक माना है । उनका कहना है कि साहित्य की दृष्टि से इन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार मानना चाहिए जिनकी रचनाओं में कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूप में रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण मिल जाता है ।[२२] गोस्वामी जी के सामाजिक या ऐतिहासिक दोनों प्रकार के उपन्यास[२३] मूल रूप में प्रेम कथात्मक हैं । इनके मांसल और रसमय चित्रणों के पीछे रीतिकालीन चेतना का दबाव और उर्दू शायरी का प्रभाव है । अपने उपन्यासों की रूमानी भावभूमि, जिसके स्रोत को बंगला साहित्य में देखा जा सकता है तथा अतिशय सरस प्रेम-प्रसंगों के कारण वे पर्याप्त रूप में विद्वानों की आलोचना के पात्र बने । फिर भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि उद्देश्य के स्तर पर वे इतने ही आदर्शात्मक विचारों के व्यक्ति थे, जितने कि इस युग के अन्य लेखक ।[२४] सुधारवादी प्रवृत्ति उनके सामाजिक तथा ऐतिहासिक दोनों प्रकार के उपन्यासों में मिलती है ।

" चपला व नव्य समाज चित्र " (१६०३) में सच्चरित्र लोगों द्वारा कष्ट उठाते देखकर शिवप्रसाद के मन में परंपरागत आदर्शों और मानवीय मूल्यों के प्रति अनास्था और शंका उत्पन्न होती है । परंतु ब्रजकिशोर भारतीय दर्शन के आधार पर उसकी शंकाओं का समाधान करते हुए कहते हैं कि " पाप की नाव

२२- " हिन्दी साहित्य का इतिहास " - आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ४६६ ।

२३- (i) " प्रणयिनी परिणय " (१८८७); " स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी (१८८६), लीलावती. (१६०१), " चपला व नव्य समाज चित्र " (१६०३), " माधवी माधव व मदन मोहिनी " (१६०६) ।

(ii) " हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी " (१८६०) , " तारा वा क्षात्रकुल कमलिनी " (१६०२), " कनक कुसुम वा मस्तानी ~~(१६०…)~~ इत्यादि ।

२४- " प्रेमचंद - पूर्व के कथाकार और उनका युग " , पृ० १३७ ।

एक न एक दिन ज़रूर डूबती है ।"[२५] यहां लेखक सामयिक परिस्थितियों के संदर्भ में पूरे भारतीय समाज को बोध दे रहा है । इसी उपन्यास की चमेली नई शिक्षा के दुष्प्रभाव और भौतिकवादी दृष्टि के कारण कमल किशोर के साथ भाग जाती है पर अंत में अपनी भूल का अनुभव करके मृत्यु से पूर्व अपने पति से क्षमा याचना करती है ।[२६] लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है।

किशोरीलाल गोस्वामी की सांस्कृतिक जागरूकता के मूल में पुनर्जागरण की चेतना है जो हिन्दू राष्ट्रीयता के रूप में इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में फूट पड़ी है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों की कथावस्तु मध्ययुगीन मुस्लिम शासकों के इर्द-गिर्द से चुनी है तथा उसे आर्यों के जातीय गौरव से मंडित कर हिन्दुत्व को महिमान्वित करने का प्रयास किया है ।[२७]

मनोरंजन को साहित्य का एक मात्र उद्देश्य मानकर[२८] लिखने-वाले देवकीनन्दन खत्री ने अतिशय कल्पना के सहारे रहस्य-रोमांच से भरपूर तिलस्मी उपन्यासों[२९] को जीवन्त रूप में रचा । इनके उपन्यासों की कथा छोटे-मोटे राजाओं, सामंतों या जागीरदारों तथा उनके चापलूस दरबारियों के आपसी ईर्ष्या-द्वेष और संघर्ष की है जिसमें तिलस्मी घटनाओं और कौतूहल के योग से रोचकता उत्पन्न की गई है । इन मनोरंजनपरक उपन्यासों का गौण उद्देश्य सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा तथा अंत में सत्य और न्याय की विजय दिखाना रहा है और जहां अत्याचारी और दुष्ट व्यक्ति दंडित होते हैं तथा अपने दुष्कर्मों और पापों का फल पाते हैं ।

२५- "चपला व नव्य समाज चित्र" - किशोरीलाल गोस्वामी, द्वितीय संस्करण, १९१५, पृ० ३७ ।

२६- पूर्वोक्त, पृ० ८६ ।

२७- "इसमें आर्यों के यथार्थ गौरव का गुणकीर्तन है, कुछ मुसलमान इतिहास-लेखकों की भांति स्वजाति पक्षपात नहीं ।"
- "तारा वा क्षात्रकुल कमलिनी" प्रथम भाग, दूसरा संस्करण, १९२५, श्री सुदर्शन यंत्रालय, वृन्दावन, "निवेदन" ।

२८- "चंद्रकांता" में जो बातें कही गई हैं, वे इसलिए नहीं कि लोग उसकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करें, प्रत्युत इसलिए कि उसका पाठ कौतूहलवर्धक हो ।"
"चंद्रकांता-संतति", चौबीसवां हिस्सा, देवकीनंदन खत्री, बीसवां संस्करण, लहरी बुक डिपो, वाराणसी, पृ० ८६ ।

२९- "चंद्रकांता" (१८९१), "चंद्रकांता-संतति" (१८९४-१९०५), "भूतनाथ" (१९०७-१९१३) इत्यादि ।

तिलस्मी उपन्यासों की तुलना में यह आदर्शात्मक उद्देश्य जासूसी उपन्यासों में अधिक स्पष्ट रहता है ।[30] जासूसी उपन्यास अपने रूप-विधान में यथार्थ के ज्यादा निकट है । इन्हें तिलस्मी उपन्यासों का अगला विकास माना जा सकता है । हिन्दी साहित्य में तिलस्मी उपन्यासों के विशाल पाठक वर्ग की भूमिका पर जासूसी उपन्यासों का आविर्भाव हुआ । इस युग के महत्वपूर्ण रचनाकार गोपालराम गहमरी हैं जिन्होंने "जासूस" (१९०० ई० में आरंभ) नामक मासिक पत्र के माध्यम से कई जासूसी उपन्यास प्रकाशित किये ।

वस्तुत: उस युग में आठ के प्रवाह से भारतीय समाज में आई सामाजिक विकृतियों और धार्मिक अंधविश्वासों के उन्मूलन का ज़ोरदार प्रयत्न चल रहा था । इस सुधारवादी भावबोध ने साहित्य पर अपना असर डाला । पूर्व प्रेमचंद युग का साहित्य अधिकांशत: इसी प्रकार के आदर्शों व सुधारवादी प्रवृत्तियों का साहित्य है । इस काल के साहित्यिकों से प्रौढ़ रचनाओं की अपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि यह एक ऐसा युग था जब उपन्यास का आविर्भाव हिन्दी साहित्य में एक नई विधा के रूप में हुआ था । साहित्य क्षेत्र में इस काल के रचनाकारों का सब से महत्वपूर्ण योगदान यही है कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास की पृष्ठभूमि निर्मित की ।[31]

लाला श्रीनिवासदास के "परीक्षा-गुरु" के माध्यम से आदर्श-वादी सुधारवादी सामाजिक उपन्यासों की जिस सशक्त परंपरा का सूत्रपात हुआ था उसके लेखकों में प्रमुख रूप से बालकृष्ण भट्ट, मेहता लज्जाराम शर्मा,

---

३०- "अच्छे और सदाचारी पात्रों का शुभ परिणाम देखकर पाठक अपना आचरण सुधारें और कर्तव्य स्थिर करें । दुराचारी, कुपथगामी लोगों की दीन-हीन और दु:खपूर्ण दशा विचारकर अवगुणों को त्यागे । यही मंगल उद्देश्य लेकर लिखना अच्छे औपन्यासिक और नाटककार का अभिप्राय होता है । - "मेम की लाश", गोपालराम गहमरी, भूमिका ।

३१- प्रेमचंद-पूर्व के कथाकार और उनका युग", पृ० ८२ ।

किशोरीलाल गोस्वामी , ब्रजनन्दन सहाय, गंगाप्रसाद गुप्त आदि थे । इसके पार्श्व में एक तरफ़ रूमानी सामाजिक -ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा सक्रिय थी जो किशोरीलाल गोस्वामी से प्रारंभ होकर ब्रजनन्दन सहाय तथा मिश्रबंधुओं के उपन्यासों तक जाती है और दूसरी तरफ़ इसके पार्श्व में तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की धारा प्रवहमान थी जिसके विकास में देवकीनंदन खत्री, हरिकृष्ण जौहर, दुर्गाप्रसाद खत्री आदि और गोपालराम गहमरी, जयरामदास गुप्त तथा रामलाल वर्मा जैसे लेखकों का योगदान था ।

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि इस युग के सारे रचनाकार आदर्शवादी विचारधारा से आक्रांत थे तथा उनकी रचनाएँ सुधारवादी भावबोध से ओतप्रोत हैं । इस प्रकार इस मत से सहमत हुआ जा सकता है कि " यह आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति प्रेमचंद -पूर्व कथाकारों की सब से महत्वपूर्ण प्रवृत्ति थी और जितने अधिक लेखकों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया उतने अधिक लेखक अन्य युगों में नहीं मिलते ।"[३२]

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में समाज-चेतना तथा सामाजिक आंदोलनों का आग्रह बढ़ जाता है और अतिशय कल्पनावाली मनोरंजनपरक रोमानी विचारधारा दब-सी जाती है । प्रेमचंद युग में आदर्शपरक सुधारवादी विचारधारा प्रबल वेग ग्रहण कर लेती है । इस काल में उपन्यास से यह आशा की जाती थी कि वह सामान्य जनजीवन में सामाजिक आदर्शों व मूल्यों को रचनात्मक रूप में प्रतिष्ठित करे । प्रेमचंद के आगमन से हिन्दी उपन्यास में परिपक्वता आई और वह जीवनगत यथार्थ के और नजदीक आया । प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचनात्मक व्याख्या मानते थे । उन्होंने उपन्यास को सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम बनाया और समस्यामूलक उपन्यास लिखे ।

डॉ० सुषमा धवन ने प्रेमचंद-परंपरा के उपन्यासों के इस

३२- " प्रेमचंद-पूर्व के कथाकार और उनका युग ", पृ० १२६ ।

वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए इन्हें " सामाजिक उपन्यास " संज्ञा से अभिहित किया है ।[33] प्रेमचंद ने व्यक्तिवादी साहित्य का विरोध करते हुए ऐसे साहित्य के निर्माण का समर्थन किया है जो व्यक्ति एवं समाज के विकास तथा प्रगति के लिए प्रेरणाप्रद हो । प्रेमचंद ने समाज के माध्यम से व्यक्ति की समस्याओं पर प्रकाश डाला है । उनके उपन्यासों की मूल प्रेरणा सामाजिक कल्याण की भावना है, जिसे उन्होंने यों अभिव्यक्त किया है : " हम तो समाज का झंडा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िंदगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है ।[34] इस प्रकार प्रेमचंद में मध्यवर्गीय सुधारवादी-आदर्शात्मक विचारधारा अपनी पूरी सृजनात्मक शक्ति व सीमाओं के साथ विद्यमान है ।

प्रेमचंद ने तत्कालीन भारतीय समाज की निर्मम चीर-फाड़ करके अपनी समस्त शक्ति उन अंध विश्वासों और कुरीतियों के उन्मूलन में लगा दी जो जीवन के स्वस्थ विकास में बाधक बनी हुई थी । वे परिवार और समाज की समस्याओं को पहचानते थे । समस्याओं का अंकन यथार्थपरक था यद्यपि वे उसका आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करते । उन्होंने देखा कि नारी जो समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है, परिवार की नींव है तथा जिस पर गृहस्थ जीवन के सारे सदाचार टिके हुए हैं, उसे कहीं भी सामाजिक जीवन में उचित स्थान नहीं मिलता । नारी की इस विवशता और निरीहता के मूल में उसकी आर्थिक पराधीनता है । प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में समाज द्वारा नारी के शोषण के विरुद्ध बड़े ज़ोरों की आवाज़ उठाई तथा बाल-विवाह , अनमेल विवाह, दहेज-प्रथा, वेश्यावृत्ति आदि अनेक कुरीतियों पर कड़े प्रहार किये एवं नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि को बढ़ावा दिया । " सेवासदन "(१९१८)," निर्मला "(१९२३)," प्रतिज्ञा (१९२६), आदि कई उपन्यास नारी जीवन की समस्याओं को आधार बनाकर लिखे ।

" सेवासदन "(१९१८) में उन्होंने दहेज-प्रथा तथा अनमेल विवाह की व्याधियों का चित्रण करते हुए दिखाया कि किस प्रकार निरीह सुमन

33- " हिन्दी उपन्यास " - डॉ० सुषमा धवन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६१, पृ० ६ ।

34- " साहित्य का उद्देश्य " - प्रेमचंद, पृ० १८ ।

इन सामाजिक कुरीतियों की शिकार होकर वेश्यावृत्ति अपनाने को मजबूर हो जाती है । 'सेवा सदन' को 'पराधीन नारी की मुक्ति भावना' को लेकर लिखा गया उपन्यास माननेवाले डॉ० नामवर सिंह के अनुसार "प्रेमचंद ने नारी की पराधीनता का चित्रण करते समय समाज के उन सभी वर्गों को उभारकर सामने ला दिया है जिनके कारण नारी पराधीन है । प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में किसानों की मुक्ति का आंदोलन नारी स्वाधीनता के भाव से जुड़ा हुआ है । समाज की सर्वाधिक शोषित ये दोनों शक्तियाँ उनके उपन्यासों में एक साथ एक तरह से चित्रित होती है ।"[३५] किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'कुसुम कुमारी' की कथा से 'सेवासदन' की कथा के साम्य को दिखलाते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने लिखा है कि इस प्रकार प्रेमचंद ने अपनी जीवन्त साहित्यिक परंपरा को आगे बढ़ाया ।[३६]

वैवाहिक समस्याओं में दहेज की समस्या सर्वाधिक जटिल समस्या है । अपनी विभिन्न रचनाओं में प्रेमचंद ने कुशलतापूर्वक इस समस्या को उठाया है । 'निर्मला' (१९२३) में दिखाया है कि किस प्रकार निर्मला के माता-पिता दहेज न दे सकने के कारण प्रौढ़ व्यक्ति के साथ उसका विवाह करने पर मजबूर हो जाते हैं । विवाह होते ही तीन लड़कों की माँ बनकर लाख सच्ची रहने पर भी लांछित होकर[३७] वह नरकतुल्य जीवन व्यतीत करती रही ।[३८] 'प्रतिज्ञा' (१९२९) में प्रेमचंद ने विधवापूर्णा की दयनीय स्थिति का हृदयविदारक चित्रण करके विधवा-विवाह की वकालत की है ।

प्रेमचंद के उपन्यासों में पाश्चात्य जीवन के प्रभाव से टूटते परिवारों एवं व्यक्ति में व्याप्त स्वार्थी तत्वों का स्पष्ट संकेत हुआ है । लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा-गुरु' की परम्परा में 'सेवासदन', 'निर्मला', 'प्रेमाश्रम' (१९२२) और 'गबन' (१९३०) में पाश्चात्य संस्कृति के दूषित परिणामों

३५- 'इतिहास और आलोचना' - डॉ० नामवर सिंह, १९६२, पृ० ~~२०~~ ।

३६- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास', पृ० ७३ ।

३७- 'निर्मला' - प्रेमचंद, पृ० १२५ ।

३८- पूर्वोक्त , पृ० २७८ ।

और उससे उत्पन्न होनेवाली विकृतियों का अंकन किया गया है । इस काल के रचनाकारों ने भौतिकवादी अतिवादी दृष्टि से बचने के लिए पाश्चात्य शिक्षा और औद्योगिकरण का जमकर विरोध किया है । अंग्रेजी शिक्षा के मूल में पश्चिमी भौतिकवादी मूल्य थे जिसने नई पीढ़ी को भारतीय संस्कृति के उदात्त मूल्यों से दूर कर दिया । ये पढ़े-लिखे व्यक्ति ऊँची डिग्री लेकर सामान्य जनता से दूर हो गये और उसे घृणा व उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे । 'सेवासदन' का दारोगा कृष्णचंद्र, 'निर्मला' का मालचंद्र एवं 'गबन' का रमानाथ, 'परीक्षा-गुरु' के लाला मदनमोहन की भाँति झूठी शान व प्रदर्शन की प्रवृत्ति से आक्रांत है । अपनी नई शिक्षा के गर्व ~~की और~~ में ये अपनी शान-शौकत का कृत्रिम प्रदर्शन करते हैं जिसके फलस्वरूप उनका पराभव होता है । ~~इसीलिए~~ 'कर्मभूमि' (१९३२) में प्रेमचंद ने पाश्चात्य शिक्षा से प्राप्त डिग्रियों की निस्सारता व्यर्थता एवं हानियों की चर्चा की है : 'जिसके पास जितनी बड़ी डिग्री है, उसका स्वार्थ भी उतना ही बढ़ा हुआ है ।'[३९]

वस्तुत: पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति में नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं था, अत: इसमें चरित्र-गठन की उपेक्षा की जाती थी । 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर भौतिकवादी नई सभ्यता की उपज है । ज्ञानशंकर की स्वार्थ वृत्ति एवं चरित्रहीनता था सारा दोष प्रेमचंद की दृष्टि में उसकी धर्मविहीन शिक्षा का था जिसने उसके आंतरिक सद्गुणों को विनष्ट कर दिया था ।[४०] ~~इसीलिए~~ प्रेमचंद ने नवीन शिक्षा के विषय में दिखाया था कि यद्यपि इस अंग्रेजी शिक्षा ने व्यक्ति को लेखन, संभाषण एवं तर्क में प्रवीण करके व्यवहार कुशल बना दिया था पर उसके साथ ही उसने व्यक्ति को स्वार्थी भी बना डाला था ।[४१] इस काल के रचनाकारों ने दिखाया है कि शिक्षित जो वर्ग इस पाश्चात्य शिक्षा से समूला

३९- 'कर्मभूमि' - प्रेमचंद, पृ० १०७ ।

४०- 'प्रेमाश्रम' - प्रेमचंद, पृ० २६३ ।

४१- पूर्वोक्त, पृ० ३६६ ।

है, वह ज्यादा मानवीय है क्योंकि उसके आतंरिक गुण विनष्ट नहीं हुए हैं। 'रंगभूमि' (१६२५) का सूरदास और 'गबन' का खटिक शहरी संस्कृति से पढ़े-लिखे लोगों से अधिक दृढ़ चरित्र के व्यक्ति हैं, उनमें दया, ममता और करुणा के तत्व हैं, वे मन से उदार और त्यागी हैं तथा निष्काम भाव से परोपकार करते हैं। अतिथि-सत्कार और शरणागत -वत्सलता के परम्परागत भारतीय मूल्य उनकी प्रवृत्ति के स्वाभाविक अंग हैं। प्रेमशंकर के शब्दों में 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर "पश्चिमी सभ्यता का मारा हुआ है जो लड़के को बालिग होते ही माता-पिता से अलग कर देती है। उसने वह शिक्षा पाई है जिसका मूल तत्व स्वार्थ है। वह केवल अपनी इच्छाओं का दास है।"[४२] इस प्रकार प्रेमचंद, 'प्रसाद' आदि इस युग के रचनाकारों ने पाश्चात्य शिक्षा के स्वार्थपरक तत्वों का डटकर विरोध किया है।

इस युग में राष्ट्रीयता के फलस्वरूप पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करनेवाली बौद्धिकता, यांत्रिकता, वैज्ञानिकता तथा स्थूल भौतिकता के प्रति लोगों में एक प्रकार का आक्रोश घर कर गया। गांधी जी की समस्त अर्थव्यवस्था यंत्रीकरण के विरोध में प्राचीन अर्थव्यवस्था को प्रश्रय देना चाहती थी। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में यह विरोध अधिक उभर कर आया है। प्रेमचंद ने इन उपन्यासों में दिखाया है कि किस प्रकार गांव शहरी सभ्यता के दूषित प्रभाव की लपेट में आने लगे हैं।[४३] डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने 'रंगभूमि' को 'देहाती जीवन के नाश की कहानी' मानते हुए उसका उत्तरदायित्व पश्चिमी सभ्यता पर डाला है।[४४] इस प्रकार इस युग में विरोध की दो दिशाएं थीं : एक बाह्य स्तर पर, दूसरी सांस्कृतिक स्तर पर। इसलिए जहां औद्योगिकरण एवं नवीन शिक्षा का विरोध हुआ वहीं पाश्चात्य मूल्यों और हिंसा का भी विरोध किया गया। जीवन में नैतिक मूल्यों का महत्व बढ़ा और व्यक्ति के चरित्र गठन को प्रमुखता दी जाने लगी। भौतिक अतिवाद का विरोध करके सादगी, सच्चाई एवं संतोष के साथ अहिंसा, सदाचार, ब्रह्मचर्य, त्याग और बलिदान एवं नि:स्वार्थ कर्मसाधना को महत्व दिया जाने लगा। प्रेमचंद के

४२- 'प्रेमाश्रम' - प्रेमचंद, पृ० १६६।

४३- 'रंगभूमि', पृ० २५८।

४४- 'प्रेमचंद : एक विवेचन' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ६२।

अमरकांत, चक्रधर, प्रेमशंकर, सुखदा, मनोरमा आदि पात्र इसके सटीक उदाहरण हैं। "कायाकल्प" (१९२६) के चक्रधर की दृष्टि में व्यक्ति धर्म से बड़ा समाज धर्म है।[४५] राष्ट्रीय विचारों से अनुप्राणित होने के कारण वह सरकारी नौकरी नहीं करता तथा सेवा कार्य के लिए भिक्षा माँगने को तैयार है।[४६] वह प्रगतिशील है, इसी से अपहरण की हुई अहिल्या को बिना किसी संकोच के अपना लेता है और उसके पवित्रतावादी रूढ़िवादी संस्कारों पर चोट करता हुआ उसे समझाता है।[४७] यहाँ उसके विचार नई पीढ़ी की मानववादी चेतना को प्रकट करते हैं। चक्रधर भौतिकवादी दर्शन और पाश्चात्य शिक्षा का विरोधी है क्योंकि ये भोगवृत्ति को प्रोत्साहन देकर मनुष्य को पशु बना देती है।[४८]

इस काल के उपन्यासों में पाश्चात्य भौतिकवादी मूल्यों के हानिकारक प्रभावों से बचते हुए रूढ़िवादी तत्वों से अपनी सामाजिक व्यवस्था को मुक्त करने का सफल प्रयास किया गया। प्रेमचंद ने इस दृष्टि से धर्म के रूढ़िगत मूल्यों का विरोध करके एक नये समाज का निर्माण करनेवाले जीवन्त चरित्रों की सृष्टि की। उनके "कर्मभूमि" (१९३२) का अमरकान्त क्रांति में देश का उद्धार समझता है, ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्यादर्शों, झूठे सिद्धान्तों व गलत प्रथाओं का अंत कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़कर चकनाचूर कर दे, जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकनेवाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।[४९] "प्रेमाश्रम" में किसानों के जीवन की विसंगतियों का मार्मिक चित्रण करते हुए प्रेमचंद ने भूमि के पैतृक अधिकार को चुनौती दी: "भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है।[५०] डॉ० नगेन्द्र ने ठीक कहा है, "प्रेमचंद के

४५- "कायाकल्प", पृ० ११।
४६- पूर्वोक्त, पृ० ५०।
४७- पूर्वोक्त, पृ० २४५।
४८- पूर्वोक्त, पृ० १६८।
४९- "कर्मभूमि", पृ० ६५।
५०- "प्रेमाश्रम", पृ० ६४३।

संपूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है । गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप संभव थे, प्रेमचंद की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है ।[५१]

प्रेमचंद के पात्र समयानुरूप प्रगतिशील है । नई पीढ़ी के चक्रधर, विनय, अमरकान्त, प्रेमशंकर आदि रूढ़ियों और अंधविश्वासों को नहीं मानते । जातियों- उपजातियों में इनका विश्वास नहीं है । लेकिन ये पात्र समाज-व्यवस्था में सुधार का प्रयत्न तो करते हैं पर विद्रोह नहीं । प्रेमचंद के पतित से पतित पात्रों का स्खलन भारतीय मर्यादा की सीमा नहीं तोड़ता । प्रेमचंद के ये पात्र राष्ट्रीय उत्साह से पूर्ण हैं तथा समाज को मिथ्या धारणाओं एवं कुसंस्कारों से मुक्त कराने के लिये कटिबद्ध हैं । वे जीवन के जिस क्षेत्र को ग्रहण करते हैं, उसमें कर्म की निष्ठा, चरित्र की श्रेष्ठता एवं सामूहिक हित की भावना निहित रहती है । इनके पात्रों की व्यक्तिगत समस्याओं का स्वरूप सामाजिक था । इनके पात्र व्यक्तिगत रागद्वेष की भावना से स्थिति से पलायन करते हैं परन्तु सामाजिक दायित्व से नहीं । उदाहरण के लिए `कायाकल्प` के चक्रधर और मनोरमा को लिया जा सकता है । मनोरमा अपने प्रेमी चक्रधर के आदर्शों के लिए व्यक्तिगत सुख-दु:ख का उत्सर्ग करते हुए वृद्ध राजा विशालसिंह से विवाह कर लेती है । परंतु विवाहोपरांत उसकी निष्ठा पति और प्रेमी के बीच कहीं भी डगमगाती नहीं ।[५२] उसके प्रेम में न तो वासना है और न कुंठा । उसका प्रेम उसे सत्पथ पर ले जाता है । वह व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागकर ऐश्वर्य भोग के स्थान पर दीन जनों की सेवा में लग जाती है ।[५३] चक्रधर भी प्रेम की असफलता में सामाजिक कर्तव्य नहीं त्यागता । वह मनोरमा से पलायन करता है पर कुंठित होकर मानव-सेवा नहीं छोड़ता । इन्हीं सब को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है :` प्रेमचंद के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है । वह

५१- `आस्था के चरण` - डॉ० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण,१९६८,पृ० ४५२ ।

५२- `कायाकल्प`, पृ० ३१२ ।

५३- पूर्वोक्त, पृ० २७८ और पृ० ३०७ ।

मानसिक गंदगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नई ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है । यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है । यह प्रेम मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है । जहाँ सेवा और त्याग नहीं, वहाँ प्रेम भी नहीं, वासना का प्राबल्य है । सच्चा प्रेम, सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है । प्रेमचंद का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है और अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है ।[५४]

'कर्मभूमि' का अमरकांत प्रेम में धर्म की बाधा देखकर धर्म का विरोधी बन जाता है ।[५५] अमर के नई पीढ़ी के व्यक्तिवादी मूल्य व्यक्तिगत प्रश्नों में समाज का हस्तक्षेप नहीं चाहते ।[५६] इस प्रकार प्रेमचंद का यह पात्र व्यक्तिगत समस्या लेकर सामाजिक मूल्यों से टकराने का प्रयत्न करता है । अंग्रेजों से उसे आंतरिक घृणा है ।[५७] अमरकांत के समस्त राग-विराग, विरोध-समन्वय के पीछे उसके राष्ट्रीय भावों का जोश है । उसका सारा जीवन वैयक्तिक धरातल और सार्वजनिक जीवन के संघर्ष से अनुप्राणित है । इस संदर्भ में इस कथन से सहमत हुआ जा सकता है : "प्रेमचंद के पात्रों के निजी चिन्तन एवं व्यक्तिगत राग-द्वेष में राष्ट्रीय भावबोध की व्यापकता है तथा उसमें राष्ट्रीय भावना लिपटी है जो उनके जीवन का अंग बन गई है ।[५८]

'कर्मभूमि' की पढ़ी-लिखी सुखदा विचारों में प्रगतिशील है और अपने व्यवहार से पुरुषों के अत्याचार और मनमानी को कम कर देना चाहती है । किन्तु जहाँ तक भारतीय मर्यादा का प्रश्न है, उसका अतिक्रमण वह नहीं करती ।[५९] वह बाहर आती-जाती है, पुरुषों से मिलती है परंतु उसमें

५४- 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३४७
५५- 'कर्मभूमि', पृ० ६२ ।
५६- पूर्वोक्त, पृ० ६६ ।
५७- पूर्वोक्त, पृ० ५८ ।
५८- 'प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य(उपन्यास) के सांस्कृतिक स्रोत' - डॉ० संसार देवी, अप्रकाशित शोध-प्रबंध, प्रयाग विश्वविद्यालय, पृ० २५७ ।
५९- 'कर्मभूमि', पृ० २२५ ।

किसी प्रकार का आतंरिक द्वंद्व जैनेन्द्र की सुखदा[६०] की तरह उत्पन्न नहीं होता। अमर के जेल जाने के बाद वह अपना ध्यान अमर के रास्ते को अपनाने में लगा देती है। अछूतों के मंदिर प्रवेश से लेकर जेल जीवन तक सुखदा विलासवृत्ति त्यागकर पति के आदर्शों पर चलने का प्रयत्न करती है। यह प्रेमचंद का मर्यादापरक आदर्शवाद है जो उनकी शक्ति और सीमा भी है। इस तरह प्रेमचंद की सुखदा घर से बाहर जाकर उदार और पति के प्रति समर्पणशील बनती है। इसके विपरीत जैनेन्द्र की सुखदा घर और बाहर के द्वंद्व में गलती रहती है। वस्तुत: यह अंतर आदर्श और यथार्थ का है जिसकी तरफ़ हिन्दी उपन्यास धीरे-धीरे प्रेमचंदोत्तर युग में बढ़ता है। प्रेमचंद के पात्रों की दस्पाती दृढ़ता के पीछे आदर्शवादी- सुधारवादी धारा का तेज़ दबाव है। इस दबाव का अंदाज़ा इनके पात्रों के आदर्शों का मूर्तिमान रूप होने में है। पर इससे उपन्यास की विश्वसनीयता कम होती है और साहित्यिक रचनाशीलता खंडित होती है।

इस युग के दूसरे महत्वपूर्ण रचनाकार जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कंकाल' (१९२९) में समाज के नग्न रूप को देखने-दिखाने का प्रयास यथार्थवादी शैली में किया है। प्रयाग, काशी, हरिद्वार, मथुरा और वृन्दावन जैसे तीर्थ स्थलों में धर्म के नाम पर फैले ढोंग, पाखण्ड, मिथ्याडम्बरों और दुराचारों का जीवंत चित्रण किया है। परंतु इसके साथ ही भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए आधुनिक युग में सांस्कृतिक मूल्यों को सही रूप में समझने पर ज़ोर दिया है।[६१] पाश्चात्य जीवन मूल्यों का भौतिकता पर विशेष आग्रह होने के कारण चरित्र पर ध्यान नहीं दिया जाता ~~व~~ और उसमें स्वार्थ की मात्रा अधिक होती है। इसलिए 'कंकाल' में दिखाया गया है कि पाश्चात्य संस्कृति एवं ईसाई धर्म की सेवा वृत्ति और परोपकार के पीछे उनका स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण है। बाथम का चरित्र इसका उदाहरण है। उसके धार्मिक उत्साह के पीछे संकीर्ण स्वार्थी और लोलुप वृत्ति है। इस दृष्टि से 'प्रसाद' ने भौतिकवादी संस्कृति के अतिवाद का विरोध किया है। गोस्वामी कृष्ण शरण यांत्रिक सभ्यता के पतन-

---

६०- 'सुखदा' - जैनेन्द्र कुमार (१९५२)

६१- 'कंकाल', जयशंकर 'प्रसाद', पृ० १६६।

काल में आर्य संस्कृति को मानव जाति के अवलंब रूप में देखते हैं ।[६२]

'कंकाल' की नारियां पुरुषतंत्रात्मक समाज के उत्पीड़न की शिकार हैं । इसका नायक विजय वर्ण संकर संतान है । वह हिन्दू धर्म की रूढ़ियों को देखकर पाश्चात्य मान्यताओं के प्रति आकृष्ट होकर नास्तिक हो जाता है । उसकी दृष्टि में मंगलदेव के संयम, त्याग और संतोष का आदर्श ढोंग है, अत: वह उन पर व्यंग्य करता है । पर अंत में यमुना का त्याग, संयम एवं नि:स्वार्थ प्रेम उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान करा देता है ।[६३] अपने जीवन के अंतिम दिनों में यमुना और अपनी जन्मगाथा के अज्ञात रक्त संबंधों का रहस्य जानकर वह आस्तिक हो उठता है और सामाजिक नैतिक नियमों एवं व्यक्तिगत पवित्रता को स्वीकार करता है ।[६४] विजय के इस समर्पण से 'प्रसाद' जी ने बड़ी कुशलता से भारतीय विचारों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है ।

'प्रसाद' जी के दूसरे उपन्यास 'तितली' (१६३४) में भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है । तितली सारे समाज की घृणा पाकर भी अपने पति मधुबन के प्रति अनन्य बनी रहती है । परंतु पाश्चात्य संस्कारों में पली शैला इन्द्रदेव की ज़रा सी उदासीनता से विचलित हो उठती है । उपन्यास की नायिका तितली को 'अविचल कर्त्तव्यनिष्ठा और अनन्य प्रेम की साकार प्रतिमा' बताते हुए कहा गया है कि इस उपन्यास में 'यथार्थ की पीठिका पर आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है ।[६५] 'तितली' में बाबा रामनाथ, तितली और मधुबन के माध्यम से 'प्रसाद' जी ने पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति का जयघोष कराया है । इस प्रकार 'प्रसाद' जी की ये रचनाएं मेहता लज्जाराम शर्मा की परम्परा में आती है जिनमें प्रकारान्तर से भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का उद्घोष किया गया है । इन रचनाओं का मूल ढांचा तो सुधारवादी है पर पूरी रचना भारतीय

६२- 'कंकाल' - जयशंकर 'प्रसाद', पृ० ११७ ।

६३- पूर्वोक्त, पृ० १७१ ।

६४- पूर्वोक्त, पृ० १८६ ।

६५- 'हिन्दी उपन्यास कोश' खण्ड २, डॉ० गोपाल राय, पृ० ६१ ।

संस्कृति की गरिमा से आद्यन्त आप्लावित रहती है । प्रेमचंदोत्तर युग में इस परम्परा के सशक्त रचनाकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हुए, जिन्होंने अपनी कृतियों[६६] के माध्यम से भारतीय संस्कृति के गौरव और गरिमा को आधुनिक विचारों के संदर्भ में मूल्यांकित और प्रतिष्ठित किया है ।

'प्रसाद' के उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में वैयक्तिक स्वतंत्रता का भी स्वर मुखरित हुआ है । डॉ० सुषमा धवन ने 'प्रसाद' के उपन्यासों को प्रेमचंद परंपरा के सामाजिक उपन्यासों की कोटि से अलगाते हुए उनके महत्व को सामाजिक विषमताओं के बीच व्यक्ति की गरिमा स्थापित करने में माना है ।[६७]

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के उपन्यास 'राम रहीम' (१६३६) में पाश्चात्य जीवन मूल्यों से सामाजिक जीवन में आई विकृतियों का भारतीय संस्कृति के संदर्भ में तुलनात्मक रूप से अंकन हुआ है । पश्चिमी भौतिकवादी मूल्यों की चमक-दमक के बीच बिजली के चरित्र का विकास होता है । परिणाम-स्वरूप वह धर्म समाज और घर-परिवार की उपेक्षा करके तथा अपने पिता से विश्वासघात करके सलीम के साथ भाग जाती है । भोगवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण उसके प्रेम में एकनिष्ठता का अभाव है । उसे विवाह स्वतंत्रता पर लगाया गया बंधन लगता है ।[६८] उसके इस भोगवाद की चरम परिणति वेश्या बनने में होती है । इसके ठीक विपरीत उपन्यासकार ने भारतीय संस्कारों से अनुप्राणित सीधी सादी नारी बेला का सृजन किया है जिसे परिस्थितियों ने वेश्या बना डाला है । लेकिन वेश्या होने पर भी दोनों के मानसिक गठन में बहुत बड़ा अंतर है ।[६९] यहां पाश्चात्य मूल्यों पर भारतीय मूल्यों के विजय की स्पष्ट घोषणा है ।

~~६५- 'हिन्दी उपन्यास कोश', खण्ड २, डा० गोपालराय, पृ० ६१~~ ।

६६- 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१६४६) 'चारु', चंद्रलेख' (१६६३) 'पुनर्नवा' और अनामदास का पोथा' ।

६७- 'हिन्दी उपन्यास' - डॉ० सुषमा धवन, पृ० ६२ ।

६८- 'राम रहीम', पृ० ८५२ ।

६९- 'बेला का कथन : 'आज तक तुम शरीर की पुकार सुनती चली आई, आत्मा की पुकार कभी सुनी नहीं । तुम्हारी देह जगी रही, आत्मा सोई चली आई । जब वह उठ खड़ी होती है तो फिर शरीर की मांग अपने आप दब जाती है ।' - राम रहीम', पृ० ६७८ ।

सियाराम शरण गुप्त के उपन्यास " नारी " (१९३७) में से भारतीय मूल्य गांधी दर्शन के माध्यम से आये हुए हैं। इसमें जमुना पति के चले जाने पर अपने लिए समाज से तिरस्कार और संदेह पाती है परंतु वह इसका कोई प्रतिकार नहीं करती। वह घृणा के स्थान पर स्वयं आत्मपीड़ा उठाकर उस आत्म व्यथा से नई शक्ति पाती है। उसके विचार में आत्मपीड़ा व्यक्ति की आत्मा को मुक्त करने एवं महान् बनाने का साधन है। वह अपने पुत्र हल्ली से कहती है : " जितना अधिक सह सकेगा उतना ही तू बड़ा होगा। "[७०] इस प्रकार यहां उच्चतर मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का सीधा प्रयास किया गया है।

पांडेय बेचन शर्मा " उग्र " ने अपने उपन्यासों में सामाजिक कुरीतियों का यथार्थ और नग्न चित्रण रस ले-लेकर किया। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने इन उपन्यासों की नग्नता व अश्लीलता से खीझकर इन्हें " घासलेटी " नाम दिया। फिर भी इनके उपन्यासों का मूल स्वर इस युग के अनुरूप सुधारवादी एवं आदर्शवादी है। " चंद हसीनों के खतूत " (१९२७) में " उग्र " जी ने प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति हिन्दू या मुसलमान होने के पहले मनुष्य है। " दिल्ली का दलाल " (१९२७) में कन्याओं का क्रय-विक्रय करनेवाली संस्थाओं के हथकंडों का वर्णन है। डॉ० गोपालराय ने इस उपन्यास के बारे में लिखा है, " नारी जाति की दुर्गति का ऐसा वीभत्स वर्णन अन्यत्र नहीं मिल सकता। "[७१] इनके दूसरे उपन्यासों " बुधुवा की बेटी " (१९२८) में अछूतों की समस्याओं तथा " शराबी " (१९३०) में शराबखोरी के दुष्परिणामों का यथार्थ अंकन किया गया है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने प्रेमचंद युग से उपन्यास लिखना शुरू किया था। इन्होंने अपनी रचनाओं में मध्यवर्गीय जीवन की पारिवारिक और सामाजिक विसंगतियों की तीव्रता से उभारा है। " अनाथ पत्नी " (१९२८) में ब्राह्मण समाज में व्याप्त विवाह संबंधी सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों का मार्मिक अंकन है। स्वभाव से रोमांटिक होते हुए भी ये आदर्शवादी और सुधारवादी

७०- " नारी " - सियारामशरण गुप्त, पृ० १६२।

७१- " हिन्दी उपन्यास कोश ", खण्ड २, डॉ० गोपाल राय, पृ० ४०।

लेखक हैं । मध्यवर्ग के अभाव, स्वप्न, संघर्ष आदि का समग्रता में रचनात्मक स्तर पर चित्रण करते हुए अपने उपन्यासों[७२] में वाजपेयी जी ने दहेज-प्रथा, विधवा-विवाह, वेश्या-वृत्ति, अवैध सन्तान आदि समस्याओं को कुशलतापूर्वक उठाया है । इनके प्रतिनिधि उपन्यासों का विश्लेषण करके डॉ० सुषमा धवन इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि उनकी रचनाओं में वैयक्तिक चेतना का स्वर सामाजिक चेतना की अपेक्षा अधिक स्पष्ट तथा गंभीर है[७३] तथा इनमें व्यक्ति की वेदना पहचानने और वैयक्तिक गरिमा स्थापित करने के लिए वाजपेयी जी आतुर है ।[७४] हिंदी उपन्यासों में बढ़ रहे वैयक्तिकता के संस्पर्शों को इस कथन के संदर्भ में देखा जा सकता है ।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री मूल रूप में रोमांटिक उपन्यासकार है, 'विश्वम्भर मानव' के शब्दों में 'किशोरीलाल गोस्वामी के आगामी चरण हैं।[७५] सामाजिक और अर्द्धऐतिहासिक दोनों प्रकार के उपन्यासों के कथानकों के गठन और वर्णन में उन्होंने अद्भुत कल्पना शक्ति का परिचय दिया है पर रोमांटिक वृत्ति के कारण उनके प्रेम में वासना का रंग काफी चटकीला है । उनके सामाजिक उपन्यास समस्यामूलक है जो वैवाहिक जीवन की समस्याएं लेकर चलते हैं । 'हृदय की प्यास' (१९२७) की चर्चा इस संदर्भ में की जा सकती है जिसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय आदर्शों के अनुरूप पति-पत्नी के संबंधों का चित्रण है । 'हृदय की परख' (१९१७) में जारज संतानों की समस्या और 'अमर अभिलाषा' (१९३३) में विधवाओं के करुण जीवन की गाथा को उठाया है ।

अन्य रचनाकारों में विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' के उपन्यासों ('मां', 'भिखारिणी') में मध्यवर्गीय मानसिकता के अनुरूप जीवन का आदर्शात्मक अंकन हुआ है जहां अंत में लगभग सभी पथभ्रष्ट पात्रों का सुधार हो जाता है । इसी तरह से हिन्दी साहित्यके वाल्टर स्काट कहे जानेवाले वृन्दावन लाल

७२- 'अनाथ पत्नी' (१९२८) 'पतिता की साधना' (१९३६), 'दो बहने' (१९४०), — 'निमंत्रण' (१९४७), 'चलते-चलते' (१९५१), 'यथार्थ से आगे' (१९५५) आदि ।
७३- 'हिन्दी उपन्यास' - डॉ० सुषमा धवन, पृ० ११० ।
७४- पूर्वोक्त, पृ० १०९।
७५- 'हिन्दी साहित्य का सर्वेक्षण (गद्य खण्ड)-विश्वम्भर 'मानव', पृ० ४८ ।

वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों[७६] में आदर्शवादी मंतव्यों के अनुकूल राष्ट्रीयता सामाजिक मंगल की भावना, जातीय गौरव और सांस्कृतिक चेतना प्रखर रूप में अभिव्यक्त हुई है ।

'गोदान' (१९३६) तक आते-आते गांधीवादी आस्था डगमगाने लगती है । आदर्शात्मक सुधारवादी विचारधारा जिसने 'सेवासदन' में प्रबल वेग ग्रहण किया था, अब घुसने लगती है । 'गोदान' के द्वारा हिन्दी उपन्यास में युगान्तरकारी मोड़ आया । डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में, "आधुनिकता बोध की शुरुआत 'गोदान' से मानी जा सकती है ।"[७७] इस तरह प्रेमचंद अपनी परंपरा से हटकर 'गोदान' में हिन्दी उपन्यास को नया मोड़ देते हैं । यहां पूर्ववर्ती उपन्यासों के समान आदर्शवादी समाधान न होकर यथार्थवादी खुला अंत है जहां से संवेदनाओं के विभिन्न स्तर तरंगायित होते हैं । 'गोदान' से जिस परिवर्तन की शुरुआत होती है, उसका संकेत प्रेमचंद युग की प्रकाशित कुछ रचनाओं में मिल जाता है । प्रेमचंदोत्तर युग के दो महत्वपूर्ण रचनाकार जैनेन्द्र कुमार और भगवती चरण वर्मा उसी काल में उभरते हैं जिनकी रचनाओं में गांधीवादी आस्था के छीजने-टूटने और वैयक्तिक मूल्यों के पनपने का कलात्मक अंकन हुआ है ।

जैनेन्द्र के 'परख' (१९२९) का आदर्शवादी युवक सत्यधन अपने आदर्शों को साकार करने के लिए वकील होकर भी छल और झूठ के व्यापार से घृणा करता है तथा अंत में गांव में रहने लगता है । गांव के जीवन में आदर्शवादी सत्यधन का परिचय और आकर्षण बालविधवा कट्टो से होता है । आदर्शवाद की झोंक में सत्यधन कट्टो में एक नई आशा जगा देता है और कट्टो भी उससे

७६- 'गढ़ कुंडार' (१९२९), 'विराटा की पद्मिनी' (१९३३), 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९४६), 'कचनार (१९४८), 'मृगनयनी (१९५०) इत्यादि ।

७७- 'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि', पृ० १० ।

प्रेम करने लगती है। परंतु सत्यधन उसके प्रति दुविधा में पड़कर अपनी भावनाओं को साकार नहीं कर पाता ।[७८] भौतिकवादी दृष्टि से प्रेरित होकर वह धन सम्पन्न गरिमा से विवाह कर लेता है ।[७९] वस्तुत: सत्यधन में भावनात्मक त्याग एवं उत्साह का अभाव है। उसकी सारी क्रांति कल्पना जगत तक सीमित रहती है । उसमें भावना और बुद्धि का संघर्ष इतना तीव्र हो जाता है कि वह अपने जीवन में आदर्शों को पूर्ण नहीं कर पाता । यद्यपि इस उपन्यास का अंत समाधान-परक और रोमानी है फिर भी इसकी आदर्शात्मकता में यथार्थता का गहरा संस्पर्श है । मानसिक अंतर्द्वन्द्व का सूक्ष्म अंकन इसे दूसरे उपन्यासों से अलगा देता है ।

यह नयापन "सुनीता" (१९३४) में नये तेवर के साथ प्रकट होता है । डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में "सुनीता" आधुनिकता की चुनौती का परिणाम है ।[८०] उपन्यास में नारी संबंधी परम्परागत मान्यताओं पर प्रश्न-चिन्ह लगाया गया है । श्रीकान्त में बौद्धिकता है तथा उसके मूल्य व्यक्तिवादी हैं और और वह व्यक्ति की आंतरिक आवश्यकताओं को अधिक महत्व देता है ।[८१] श्रीकांत के परंपरित संस्कार जहां घर तोड़ना नहीं चाहते, वहीं उसकी नई मान्यताएं नारी को बांधकर नहीं रखना चाहती ।[८२] वह विवाहिता नारी को प्रेम के लिए मुक्त करना चाहता है । इस प्रकार श्रीकान्त पाश्चात्य ढंग के उन्मुक्त दाम्पत्य जीवन का पक्षपाती है । भारतीय संस्कृति की गरिमा से आक्रांत पात्रों से श्रीकान्त का यह वैचारिक अलगाव उसके वैशिष्ट्य को रचनागत संदर्भों में कुशलता से उभारता है । यह वैशिष्ट्य सुनीता के प्राचीन-नवीन, परंपरा-प्रगति , पति-प्रेमी घर-बाहर के अंतर्द्वन्द्व में चेतन और अचेतन रूप में अधिक घनीभूत

७८- "परख" - जैनेन्द्र कुमार, पृ० ५४ ।

७९- पूर्वोक्त, पृ० ६२।

८०- "हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि", पृ० १२ ।

८१- "सुनीता, पृ० ५ ।

८२- पूर्वोक्त, पृ० ८ ।

हुआ है । हरि प्रसन्न के आगमन से पुनीता में पति-प्रेमी का द्वंद्व चरम सीमा पर पहुंच जाता है ।[८३] ' कायाकल्प ' की मनोरमा की तरह उसमें पति के प्रति आंतरिक निष्ठा नहीं है। यहाँ ' पुनीता ' में हिन्दी उपन्यास की उभर रही नई प्रवृत्तियों को रेखांकित किया जा सकता है ।

' चित्रलेखा ' (१६३४) में भगवती चरण वर्मा ने व्यक्ति की सत्ता को महत्वपूर्ण माना है । उपन्यास के अनुसार परिस्थितियों के कारण व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्तियों का विकास होता है । इसलिए पाप-पुण्य का विचार व्यक्ति के आधार पर समयानुरूप होना चाहिए । लेखक का निष्कर्ष है : ' मनुष्य न पाप करता है और न पुण्य , वह केवल वही करता है जो उसे करना पड़ता है - फिर पाप-पुण्य कैसा ? वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है ।[८४] भगवती चरण वर्मा की अन्य औपन्यासिक कृतियों[८५] से वैयक्तिकता का स्वर विविध रूपों में विभिन्न स्तरों पर फूटता है । प्रेमचंदोत्तर युग में लिखने वाले प्रेमचंद -स्कूल के अन्य रचनाकारों उपेन्द्रनाथ ' अश्क ', फणीश्वरनाथ ' रेणु ' और अमृतलाल नागर के उपन्यासों[८६] की संरचनात्मक बुनावट में वैयक्तिकता का गहरा दबाव परिलक्षित होता है ।

चौथे दशक में मनोविज्ञान के संघात से यथार्थ का आग्रह और दबाव बढ़ा तथा वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से उभर आईं । वैयक्तिकता का संस्पर्श लिए इस यथार्थपरक विचारधारा का प्रेमचंदोत्तर युग में अभूतपूर्व विकास होता है जैनेन्द्र-अज्ञेय-इलाचंद्र जोशी जैसे समर्थ रचनाकारों द्वारा इसके नये आयामों का उद्घाटन होता है । इस युग के लेखकों का झुकाव बाह्य जगत की स्थूल घटनाओं के चित्रण

८३- ' पुनीता ', पृ० १४४ ।
८४- ' चित्रलेखा '- भगवती चरण वर्मा, पृ० २०८ ।
८५- ' टेढ़े मेढ़े रास्ते ', ' भूले बिसरे चित्र ', ' सीधी सच्ची बातें ', ' सब हीं नचावत राम गोसाईं ' इत्यादि ।
८६- ' गिरती दीवारें ', ' गर्म राख ', ' शहर में घूमता आईना ', ' मैला आंचल ', परती-परिकथा ', ' बूंद और समुद्र ', ' अमृत और विष ' ।

की अपेक्षा व्यक्ति के अंतर्जगत के सूक्ष्म व्यापारों को अंकित करने की ओर अधिक दिखाई पड़ता है । ये उपन्यासकार कथानक को विशेष महत्व न देकर अपने पात्रों के मानस की गहराई में पैठकर उनकी भावनाओं का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करते हैं ।

पूर्व प्रेमचंद युग के ब्रजनन्दन सहाय तथा प्रेमचंद युग के चंडीप्रसाद "हृदयेश"[८६] और जयशंकर "प्रसाद" के भावप्रधान उपन्यासों में कवित्वपूर्ण व्यंजना के अतिरिक्त व्यक्तिवादी चेतना को लक्षित किया जा सकता है । पर यह भाव प्रधान- व्यक्तिवादी धारा उस युग की अन्य रचनाओं में अत्यंत क्षीण रूप में दिखाई पड़ती है । प्रेमचंद युग काव्य की दृष्टि से छायावाद युग था । डॉ० रघुवंश के अनुसार छायावाद युग में व्यक्ति अपनी ओर मुड़ा, उसने समस्याओं पर अपने को केन्द्र में रखकर सोचने का प्रयास किया । इस कारण आगे का युग व्यक्तिवादी साहित्य का युग है ।[८७] किन्तु प्रेमचंद छायावादी आंदोलन से सर्वथा असंपृक्त थे । वस्तुत: वे द्विवेदीयुगीन संबल के साथ अपनी साहित्यिक यात्रा कर रहे थे ।[८८] प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में पाये जानेवाले आक्रोश, अकेलेपन, अजनबीपन आदि की चर्चा करते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने दिखाया है कि "किन्हीं अंशों में इसके बीज छायावाद में मिलते हैं ।[८९] छायावाद के समर्थ कवि जयशंकर "प्रसाद" के उपन्यासों में छायावादी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अपनी संपूर्णता में व्यापायित हुई है । इनके बहुचर्चित उपन्यास "कंकाल" के बारे में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "~~कंकाल~~" कंकाल" समाज के विरुद्ध विद्रोह करता है और व्यक्ति के लिए पूरे-पूरे अधिकार चाहता है ।[९०] व्यक्तिवाद को "कंकाल" के लेखक का आदर्श बताते हुए आचार्य वाजपेयी का अभिमत है : "कंकाल" की आत्मा व्यक्ति की मुक्ति की

८६- "मंगल प्रभात" (१९२६) "मनोरमा" (१९२८)।
८७- 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' - डॉ० रघुवंश,१९६८,पृ० १०२।
८८- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' (सं० नरेन्द्र मोहन) डॉ० बच्चनसिंह,पृ० ७३ ।
८९ पूर्वोक्त,पृ० ३६ ।
९०- 'जयशंकर प्रसाद' - आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, द्वितीय संस्करण,पृ० ३८ ।

पुकार उठा रही है ।[६१] प्रेमचंदोत्तर काल में यह व्यक्तिवादी धारा अत्यंत सशक्त होकर हिन्दी उपन्यास की प्रमुख धारा बन जाती है । इसके पीछे ऐतिहासिक कारण थे । इस काल में हिन्दी उपन्यास आदर्शवाद के कुहासे से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है । व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का उफान " कंकाल" (१९२९) में आदर्शवादी सुधारवादी सामाजिक धारा के तटबंध को तोड़कर उमड़ पड़ता है । यह वास्तव में छायावादी रोमांटिक आंदोलन का प्रतिफलन है जो उस काल में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को सशक्त रूप से काव्य में अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा था । इससे इस प्रकार के चित्रण में उन्मुक्तता विशेष रूप से मिलती है । यह रोमांटिक प्रवृत्ति और उन्मुक्तता उस युग में लीक से हटकर लिखे गये उपन्यासों यथा," परख" " सुनीता " और" चित्रलेखा" में विशेष रूप से द्रष्टव्य है ।

पूर्व प्रेमचंद युग की रचनाओं में न गांव का संदर्भ अपनी समग्रता में उजागर होता है न शहर का । कथावस्तु सतह को छूते हुए फिसल जाते हैं । पहली बार प्रेमचंद में ग्रामीण परिवेश अपनी संपूर्णता में अपनी पूरी शक्ति और सीमा के साथ रूपायित होता है । प्रेमचंदोत्तर युग के जनवादी[६२] और आंचलिक[६३] उपन्यासों में जहां ग्रामीण परिवेश के नये आयाम उद्घाटित हुए हैं वहीं शहरी जीवन अपनी सारी विविधताओं के साथ जीवंत रूप में मूर्तिमान हुआ है ।

डार्विन, मार्क्स और फ्रॉयड के क्रांतिकारी विचारों के प्रभाव से जीवन के हर क्षेत्र में बौद्धिकता की प्रतिष्ठा हुई । यह बौद्धिकता सामान्य जनजीवन में जितने गहरे धंसती गई उतना ही व्यक्ति सामाजिकता और धार्मिक-नैतिक दबावों से अपने को मुक्त अनुभव करने लगा । लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा से व्यक्ति की अस्मिता का प्रश्न इस समय तेजी से उभरता है । फ्रॉयड

६१- जयशंकर प्रसाद - आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, द्वितीय संस्करण, पृ० ४२ ।

६२-" दादा कामरेड"," देशद्रोही"," पार्टी कामरेड", झूठा-सच"," रतिनाथ की चाची"," बलचनमा"," इमरतिया"," जमनिया का बाबा,"गंगा मैया", 'सती मैया का चौरा"," अब तक पुकारूं"," मुर्दों का टीला "," बीज", "नागफनी का देश"," हाथी के दाँत" ।

६३-" मैला आंचल"," परती-परिकथा"," अलग-अलग वैतरणी"," जल टूटता हुआ ,"" बबूल"," आधा गांव" ।

ने कहा कि व्यक्ति-चेतना का स्वस्थ विकास आधुनिक समाज में संभव नहीं क्योंकि समाज के अनेकों नियम उपनियम व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्तियों के विकास पर रोक लगाते हैं जिससे नाना प्रकार की कुंठाएं व्यक्ति की अस्मिता को अपनी गुंजलक में लपेट लेती है । इसलिए व्यक्ति को पूर्णरूपेण जानने के लिए मानसिक वृत्तियों का अध्ययन आवश्यक माना जाने लगा । इस तरह हिंदी उपन्यास में मनोविज्ञान के प्रवेश से विश्लेषणात्मक चिन्तन की शुरुआत हुई। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस संबंध में लिखा है :" यह एक नया उपक्रम था जो हिन्दी उपन्यास को वैयक्तिक चरित्र दृष्टि और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर ले आया । यह एक दृष्टि से पुरानी विवरणपूर्ण सामाजिक उपन्यासों की पद्धति से आगे बढ़ा हुआ प्रयास है ।[६४]

मनोविज्ञान के आगमन से हिन्दी उपन्यास को नई दिशाएं मिली तथा कथा का परम्परागत ढांचा चरमराकर टूटा । प्रेमचंद युग में कथा तत्व की तुलना में चरित्रों का महत्व बढ़ गया था । प्रेमचंदोत्तर युग में यथार्थ के आग्रह से लेखक मानवीय मन के अवचेतन-उपचेतन की गहराइयों में उतरकर चरित्रों के पीछे की असलियत और विभिन्न संदर्भों के उद्घाटन में लग जाता है । इस प्रकार मानसिक जगत के चित्रण में कथा का महत्व कम हो गया, घटनाओं का ह्रास हुआ और छोटी छोटी महत्वहीन घटनाओं, स्मृतियों, विचारों एवं संवेदनाओं का महत्व बढ़ा । सामाजिक जीवन के चित्रण में बदलाव आया । अब सामाजिक समस्याओं को व्यक्ति की समस्याओं के रूप में देखा जाने लगा क्योंकि व्यक्ति समाज की इकाई है । मृणाल, कल्याणी, सुखदा, शशि, रेखा, प्रमोद, शेखर, भुवन, चंद्रनाथ तथा अन्य की समस्याएं व्यक्ति की समस्याएं बनकर मानसिक द्वंद्वों के रूप में उभरकर आईं । पर ये मात्र व्यक्तिगत समस्याएं होकर भी समाज के नियमों- बंधनों के नीचे दबे सारे समाज की समस्याएं हैं । फ्रॉयड

६४-" आधुनिक साहित्य" पृ० ४२ ।

आदि मनोविज्ञानवेत्ताओं का दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि उपन्यास में नैतिक मूल्यों के बदलने की मांग बढ़ गई । आदर्श का स्थान यथार्थ ने लिया और जीवनगत मूल्यों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा । उपन्यास गेस्टाल्टवादी शैली में लिखे जाने लगे जिसमें पाठक की कल्पना शक्ति पर ज्यादा विश्वास किया जाता है । जैसे- जैसे हिन्दी उपन्यासों में आधुनिकता और बौद्धिकता के प्रभाव में वृद्धि हुई, वैसे- वैसे वे दुरूह होते गये तथा पाठक से अतिरिक्त बौद्धिक संस्कार और वैचारिक पीठिका की मांग करने लगे ।

पहले पहल "त्यागपत्र" (१९३७) में आकर हिन्दी उपन्यासकार का "कथककड़ी प्रवृत्ति"[६५] से नाता टूटता है । इस उपन्यास में दो भिन्न दुनियाओं का सजीव चित्रण है । प्रमोद के संसार के सारे आदर्श, मूल्य, प्रतिमान स्थिर हैं जबकि मृणाल बंधी बंधायी लीकों पर नहीं चलती । परम्परा और सड़ी-गली रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके मृणाल अपने ढंग से जीवन जीने का प्रयास करती है और इसी प्रयास में टूट जाती है । किन्तु वह हार नहीं मानती । "त्यागपत्र" को एक ट्रेजेडी मानते हुए डॉ० देवराज उपाध्याय ने मृणाल की ट्रेजेडी पति के प्रति समर्पित होकर जीवन व्यतीत करने की चाह में देखी है ।[६६] वास्तव में "त्यागपत्र" में मानव मन की अतल गहराइयों में छिपे वैयक्तिक सत्य को तलाशने का प्रयत्न हिन्दी उपन्यास में पहली बार किया गया है । पुरुषसत्तात्मक समाज किस प्रकार नारी पर जघन्य से जघन्य अत्याचार करके उसे इस दुनिया से अजनबी बना देता है - मृणाल इसकी ज्वलन्त उदाहरण है । प्रमोद के अंतर्द्वन्द्व में बौद्धिकता के हिन्दी उपन्यास पर बढ़ते दबाव को परिलक्षित किया जा सकता है : "लीला तेरी है, जीते- मरते हम हैं । क्यों जीते, क्यों मरते हैं ? हमारी चेष्टा हमारे प्रयत्न क्या हैं ? क्यों हैं ? - पूछे जाओ, उत्तर कोई नहीं मिलता ।"[६७] उपर्युक्त पंक्तियों में हिन्दी उपन्यासकार के आत्मोन्मुखी होने और बौद्धिकता के दबाव को अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य से झेलने की पुरजोर कोशिश देखी जा सकती है ।

६५- "आधुनिक हिंदी उपन्यास" (सं० नरेन्द्र मोहन) डॉ० देवराज उपाध्याय, पृ०८६

६६- पूर्वोक्त, पृ० ८७ ।

६७- "त्यागपत्र" - जैनेन्द्र कुमार, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, आठवां संस्करण, १९५७, पृ० ४३ ।

इनके दूसरे उपन्यास "कल्याणी" (१९४०) में विलायत पास डॉक्टर कल्याणी का विवाह रूढ़िवादी और संशयालु प्रकृति के लोभी डॉ० असरानी से होता है। असरानी सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ के लिए उसे डॉक्टरी की प्रैक्टिस करने देता है पर पग-पग पर उसे संदेह की दृष्टि से देखता है और झूठी शंका पर मारता भी है। कल्याणी परम्परागत पत्नीत्व का आदर्श निभाने के लिए मार खाती है, अपमान सहती है पर कहीं भी प्रतिरोध नहीं करती। किन्तु सच्चे मन से वह पति को समर्पित नहीं हो पाती। समाज की सहानुभूति भी उसे नहीं प्राप्त हो पाती। ऐसी स्थिति में उसे अनुभव होता है: "परदेस है यहां कौन अपना है? और अपने देश में भी तो अब बिरानी है। अंग्रेजी पढ़ी हूं, विलायत गई हूं। यहां की नहीं, वहां की नहीं। इससे अपना बोझ बांट भी तो नहीं सकती।"[६८]

कल्याणी का यह कथन हिन्दी उपन्यास में चित्रित हो रहे अंतर्द्वन्द्व का प्रतीक है। प्रेमचंद की "कर्मभूमि" और "गोदान" की सुखदा और मालती का परिवेश यही है। किन्तु आदर्शवादी मर्यादा के दबाव के कारण वहाँ इनके चरित्र में वह तीखी सजगता, स्वचेतनता और अंतर्द्वन्द्व नहीं है तथा इनके चरित्र-विकास का निरूपण सपाटता में हुआ है। जैनेन्द्र के नारी पात्रों में इस अंतर्द्वन्द्व का संबंधों के तनावों के बीच अंकन हुआ है जिससे आगे चलकर इनके मानस में अजनबीपन का सृजन होता है।

इनके एक अन्य उपन्यास "सुखदा" (१९५२) में नारी के सामाजिक राजनीतिक जीवन से उत्पन्न, घर और बाहर के संघर्ष में टूटने की कहानी है। सुखदा विकसित व्यक्तित्व की महत्वाकांक्षी नारी है जिसका विवाह एक अल्प आय वाले साधारण व्यक्ति कान्त से कर दिया जाता है। पर वह भौतिकवादी मूल्यों के प्रभाव से अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट होकर, देश सेवा और नारी-स्वातंत्र्य के नाम पर परिवार की उपेक्षा करने लगती है। परम्परागत संस्कारों के कारण इन नये मूल्यों के साथ उसमें तनाव उत्पन्न होता है। घर से बाहर जाकर भी

६८- "कल्याणी", पृ० १७।

उसे आंतरिक प्रसन्नता और संतुष्टि की प्राप्ति नहीं होती ।[९९] बाहर उसका परिचय लाल से होता है, जिसके प्रति आकर्षण का अनुभव कर वह समर्पित होती है । पर उसे अंत में लगता है कि यह सब केवल "तमाशा" था । नेमिचंद्र जैन के अनुसार यह उपन्यास पारिवारिक जीवन से बाहर जानेवाली नारी की कहानी है जो गृहस्थी की एकरसता से ऊबकर बाहर के राजनैतिक जीवन में अपनी सार्थकता की खोज करती है और इस प्रक्रिया में वह अपने आपसे निर्वासित और अजनबी हो जाती है ।[१००]

मार्क्सवाद और मनोविज्ञान के समन्वय के आकांक्षी इलाचंद्र जोशी ने अपनी औपन्यासिक रचनाओं[१०१] में जिसे वे स्वयं मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का नाम देते हैं, पूंजीवादी संस्कृति की विकृत मान्यताओं का विरोध करते हुए मनुष्य के अहंकार पर तीखा प्रहार किया है । बौद्धिकता और वैयक्तिक चेतना के दबाव से आधुनिक मनुष्य के मानस में अहंभाव का निरंतर विस्फोट हो रहा है । इस अहंभाव की असंतुष्टि से व्यक्ति विनाशात्मक कार्यों में लीन होता है । जोशी जी ने इस अहंवादी संस्कार को मध्यमवर्गीय समाज की सब से बड़ी विशेषता बताते हुए इसके निराकरण को साहित्य का महान उद्देश्य बताया है ।[१०२]

इनकी साहित्य रचना पर आधुनिक मनोविज्ञान और पाश्चात्य उपन्यासों का गहरा प्रभाव पड़ा है । पुरुषों की तुलना में इनके नारी पात्रों में आत्मसम्मान की सजगता तीखे रूप में विद्यमान है । पुरुष पात्र यौन आवेगों से परिचालित होनेवाले, ईर्ष्यालु तथा शक्की प्रकृति के होते हैं जो निरंतर ईर्ष्या, अनुपात, पश्चाताप और बौद्धिक यंत्रणाओं में मानसिक रूप से घुटते रहते हैं। मानसिक दृष्टि से ऐसे दुर्बल पात्रों को जोशी जी वास्तविक जीवन के निकट मानते हैं । कमजोर स्वभाव के कारण "निर्वासित"(१९४६) का नायक महीप सदैव दो विरोधी

९९- "तुलसा", पृ० १२९।
१००- "अधूरे साक्षात्कार" - नेमिचंद्र जैन, १९६६, पृ० १४८ ।
१०१- "सन्यासी"(१९४२), "पर्दे की रानी", "प्रेत और छाया", "निर्वासित(१९४६)
"लज्जा", "जिप्सी", "जहाज की पंछी"(१९५५), "ऋतुचक्र"(१९६९) ।
१०२- "साहित्य-चिन्तन"- इलाचंद्र जोशी, पृ० ५७ ।

प्रवृत्तियाँ - व्यक्तिगत जीवन की रोमांटिक वृत्ति और सार्वजनिक जीवन के लिए सर्वस्व न्योछावर करने की महत्वाकांक्षाओं के बीच उलझता रहता है।[१०३] अपने किसी निश्चय या निर्णय पर वह दृढ़ नहीं रह पाता और इससे जीवन भर भटकता रहा। उसके संकल्पहीन मन में भाव धूप-छांव की तरह आते जाते रहते हैं जिससे वह कोई ठोस कार्य नहीं कर पाता। अंत में, वह आत्मविश्लेषण करता हुआ महसूस करता है कि वह अनिश्चित विचारों वाला एक दुर्बल प्राणी है।[१०४]

इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों में वैयक्तिकता का आग्रह है। उन्होंने व्यक्ति के माध्यम से सभ्यता के ऊपरी आवरण के नीचे छिपी विकृतियों को उघाड़ा है तथा मनोविश्लेषण के सहारे मनुष्य के अंतर्मन के अवचेतन-उपचेतन की गहराइयों में पैठकर आदिम, बर्बर और पाशविक वृत्तियों को उघेड़ने का प्रयास किया है। किन्तु इनका सैद्धान्तिक आग्रह, भाषणबाजी, आशावादी स्वर, आदर्शात्मक निरूपण इनकी औपन्यासिक संरचना को ठेस पहुंचाते हैं और साहित्यिक रचनाशीलता को तोड़ते हैं। फिर भी आधुनिक जीवन की विसंगतियां इनकी रचनाओं में जगह-जगह अभिव्यक्त हुई है। आधुनिक जीवन के निर्वैयक्तिक संबंध, अनास्था, पारस्परिक अविश्वास 'जहाज का पंछी' (१९५५) के नायक के चिन्तन में सशक्तता के साथ उभर आते हैं।[१०५]

'अज्ञेय' के उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१-४५) में वैयक्तिकता का चरम निदर्शन मिलता है। इस कृति में आधुनिकता की चेतना ठेठ रूप में अभिव्यक्त हुई है। शाब्दिक संरचना का कसाव, अभिजात वातावरण, भावों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंकन इस कृति को विशिष्ट बना देते हैं। उस समय काव्य क्षेत्र में प्रचलित प्रयोगवाद के समानान्तर 'अज्ञेय' की इस औपन्यासिक कृति में अतिशय वैयक्तिकता का विस्फोट होता है। यह विद्रोहात्मक विस्फोट सारी

१०३- 'निर्वासित' - इलाचंद्र जोशी, पृ० ३५३।

१०४- पूर्वोक्त, पृ० ३६३।

१०५- 'व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता और अपने-अपने तुच्छ अहं की तुष्टि की चंचल आकांक्षा ने आज के युग के प्रत्येक मनुष्य को अपने आप में इस हद तक तल्लीन बना दिया है कि भीड़ में परस्पर ठेलमठेल होते रहने पर भी एक व्यक्ति के हृदय का कण मात्र संबंध दूसरे व्यक्ति के हृदय से नहीं रह गया है।' - जहाज का पंछी', इलाचंद जोशी, पृ० ५८।

ामाजिक रूढ़ियों, सड़ी गली परम्पराओं और उस सामाजिक दबाव के विरुद्ध है
ो व्यक्ति की अस्मिता को सदियों से निरन्तर कुचलते और रौंदते आ रहे हैं ।
यक्ति-मन और समाज की टकराहट शेखर के विलक्षण व्यक्तित्व के कारण इस
न्यास में तीक्ष्ण रूप से उभरती है ।

शेखर आधुनिक मनुष्य का प्रतीक है जिसका विश्वास परंपरित
ान्यताओं और मान्यताओं में नहीं है । लेखक ने शेखर का चरित्र मनोवैज्ञानिक आधार
र निरूपित किया है । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार समाज की विभिन्न
ष्ठभूमियों से सम्पर्कित होकर शेखर का व्यक्तित्व तथा उसकी एकांत वेदना मानो
न तथा चिंतनशील मन के विकास का व्याख्यान है ।[१०६] वह स्वाभाविक रूप से
द्रोही है । उसका स्वभाव किसी का शासन नहीं स्वीकार कर पाता । उसका
ा से पहले विद्रोह उस शिक्षा के विरुद्ध प्रकट होता है जो उसके मन की नहीं
तथा जो उसके व्यक्तित्व को कुचलकर दी जाती थी । अत: उसने ऐसी शिक्षा
विरुद्ध असहयोगपूर्ण रुख अपनाया । सब ने उसे शैतान और ढीठ समझा तथा
सी ने उसके प्रति सहानुभूति नहीं प्रदर्शित की और शेखर अपने को अकेला अनुभव
ने लगा ।[१०७] प्रकृति के प्रति रूमानी आकर्षण के मूल में उसका अकेलापन एवं
िकारी व उन्मुक्त स्वभाव है । वह बचपन से अत्यंत जिज्ञासु है । उसके छोटे से
स्तिष्क में बड़ी बातें जानने की हलचल मची रहती है । दूसरों के भ्रमपूर्ण उत्तरों
उसे संतोष नहीं होता और वह सत्य की खोज में लगा रहता है । अपनी इस
ज्ञासु, बौद्धिक और तर्कपूर्ण प्रवृत्ति के कारण वह कठोर यातनाएं पाता है ।
फर भी वह विचलित नहीं होता । वह अपना जीवन स्वयं जीना चाहता है तथा
ृति से प्राप्त ज्ञान को वह श्रेष्ठतम मानता है और इसी से अपने को प्रकृति
कहता है ।[१०८]

शेखर सामाजिक विधि-निषेधों को नहीं स्वीकार कर
ता क्योंकि उसकी विद्रोही वृत्ति पिटी पिटाई लीकों पर चलना नहीं चाहती ।

०६- 'हिन्दी नवलेखन' - डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, १९६०, पृ० १०९ ।
०७- 'शेखर : एक जीवनी' भाग १, 'अज्ञेय', पृ० ५८ ।
०८- पूर्वोक्त, पृ० १२२।

वह इन्हें तोड़ देना चाहता है परंतु किसी की भी सहानुभूति उसे नहीं मिलती । वह अनुभव करता है कि इस समाज में व्यक्ति को कहीं भी छुटकारा नहीं है । चाहे वह बुद्धिमानी दिखाये या बुद्धिहीनता, चाहे साहित्यकार बने या निठल्ला घूमा करे । छुटकारा न समाज से प्रेम करने में है न घृणा करने में ।[109] वह अनुभव करता है कि परंपरावादी और प्रगतिशील, दोनों प्रकार का समाज सड़ा हुआ है ।[110]

उसका चिन्तनशील मन वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं पर विचार करता है । इसी उद्वेलन में वह साहित्यकार बन जाता है ताकि समस्त सड़ी-गली व्यवस्था के विरुद्ध वह विषवमन कर सके । इस तरह शेखर परम्परा के आधार पर निर्मित सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर पाता क्योंकि उसका अंतिम प्रमाण कोई लौकिक सत्य नहीं है ।[111] आधुनिक समाज के लिए परम्परागत राजनीति, समाज या धर्म की मर्यादाएं अनुपयुक्त और खोखली हैं क्योंकि ये व्यक्ति की वैयक्तिकता का गला घोंटती हैं । इस प्रकार इस उपन्यास में " अज्ञेय " ने व्यक्ति के माध्यम से समाज को वैयक्तिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में देखा है । इनका दूसरा उपन्यास " नदी के द्वीप " (१९५१) स्त्री-पुरुष संबंधों के विषय में खोखली सामाजिक मान्यताओं और रूढ़ियों के प्रति व्यक्ति चेतना के विद्रोह को कलात्मकता के साथ उभारता है ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में आधुनिकता के दबाव से वैयक्तिकता का आग्रह इतना बढ़ जाता है कि शिल्प की दृष्टि से प्रेमचंद परंपरा के कलाकार अमृतलाल नागर अपने उपन्यास " बूंद और समुद्र " (१९५६) में व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंध और सहयोग तलाशने का सार्थक प्रयास करते हैं । वस्तुत: आज का व्यक्ति समाज में अपने व्यक्तित्व की पूर्णता का आकांक्षी है पर वह अपना अस्तित्व समाज में विलीन करना नहीं चाहता । वैयक्तिक स्तर पर एक दूसरे से भिन्न होकर भी वह समाज की महत्वपूर्ण इकाई है । समाज के साथ उसका ~~संबंध~~ वही संबंध है जो जल की बूंदों का समुद्र के साथ । व्यक्ति की ऐसी महत्ता प्रेमचंद युग तक हिंदी साहित्य में स्पष्ट नहीं थी । किंतु प्रेमचंद परंपरा के परवर्ती उपन्यासकारों ने ~~इसी~~

१०९- " शेखर : एक जीवनी " भाग १, - अज्ञेय , पृ० १२० ।

११०- " शेखर : एक जीवनी " भाग २, " अज्ञेय ", पृ० १६ ।

१११- पूर्वोक्त, पृ० २०६ ।

कई पक्षों और स्तरों पर इस कमी को पूरा करने का यत्न किया । 'बूंद और समुद्र' को इसी शृंखला का महत्त्वपूर्ण उपन्यास बताते हुए नेमिचंद्र जैन ने लिखा है : "इसकी दुनिया वैसी ही व्यापक, विस्तृत और जनसंकुल है जैसी प्रेमचंद के उपन्यासों की हुआ करती थी । किन्तु साथ ही इसमें व्यक्ति मन की अत्यंत निजी भावनाओं, कुंठाओं, उलझनों और आत्म संघर्ष को समझने का बड़ा सच्चा प्रयत्न दिखाई पड़ता है ।"[११२]

स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के व्यापक विस्तार को समेटता है तो दूसरे स्तर पर पहले से सर्वथा अलग सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की गहराई के आयाम में चित्रित करता है । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में जीवन के विविध रूपों की पर्याप्त झांकी मिलती है तथा व्यक्ति और उसके आसपास के परिवेश, उसके संबंधों, उसके संघात को ईमानदारी के साथ खोलने का प्रयास मिलता है । नेमिचंद्र जैन के शब्दों में, "थोथी भावुक आदर्श-वादिता अथवा रोमांटिक दृष्टिकोण के बजाय वैयक्तिक ईमानदारी और निर्मम यथार्थपरकता" का आग्रह बढ़ता है ।[११३] पर नेमिचंद्र जी ने सुद 'झूठा सच' (१९५८-६०) के आदर्शवादी अंत की आलोचना की है ।[११४] यह अपने आपमें कम आश्चर्यजनक नहीं है कि मार्क्सवाद के साथ लड़खड़ाती आदर्शवादी सामाजिक विचारधारा को पांचवें-छठे दशक में पर्याप्त बल मिला । मार्क्सवादी विचारधारा के सहयोग से आदर्श-वादी विचारधारा दो दशकों तक हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रवाहित होती रही । इस तरह से ऐसा कहा जा सकता है कि यद्यपि हिन्दी उपन्यासकार ने आदर्शवादी या रोमांटिक दृष्टिकोण से मुक्त होने का प्रयत्न किया है, फिर भी वह इससे पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका । यही कारण है कि नेमिचंद्र जैन को आधुनिक हिंदी

११२- 'अधूरे साक्षात्कार', पृ० ५६ ।

११३- पूर्वोक्त, पृ० ३ ।

११४- "जितने दुष्ट लोग हैं उन सब को अपने किये का फल मिलता है और भले लोगों पर आई विपदा का आखिरकार अंत होता है । केवल एक वाक्य की ही कसर है कि 'जैसे इनके दिन फिरे सब के फिरे ।'" - 'अधूरे साक्षात्कार', पृ० ७३ ।

उपन्यास अपनी समस्त विविधता, क्षमता तथा उपलब्धि के बावजूद अंतत: अपर्याप्त और अधूरे दिखते हैं ।[११५] उपर्युक्त विवेचन से उनके इस कथन की पुष्टि होती है ।

सातवें दशक में यथार्थ के अनेक आयामी चित्रण ने उपन्यास के परम्परित शिल्प और रूपबंधन को छिन्न भिन्न कर उपन्यास के ढांचे को चरमरा दिया । हिन्दी उपन्यास ने आंतरिकता को पकड़ने के प्रयास में घटनात्मकता, कथा या चरित्रों की उपेक्षा करते हुए संवेदना के मूल रूप को उसकी यथार्थता में अंकित करने का प्रयत्न किया । प्रेमचंदोत्तर युग में समाज चेतना तथा सामाजिक आंदोलनों के आग्रह और व्यक्ति-मन के उन्मेष से समाज और व्यक्ति मन की टकराहट चित्रित की गई । सातवें दशक से हिंदी उपन्यास वैयक्तिक चेतना और सामाजिक दबावों की टकराहट से उभर रहे अजनबीपन को स्वर देने लगते हैं । इस युग के रचनाकारों की इतिहास और राजनीति में सक्रिय भूमिका न होने के कारण उन्हें फालतूपन और नगण्यता बोध घेर लेता है । इससे इन रचनाकारों ने मामूली आदमी के मामूलीपन को पूरी सृजनात्मक क्षमता के साथ साहित्य में रचा तथा उसकी विवशता असहायता या अजनबीपन को सजीव रूप में उभारा ।
डॉ० नामवर सिंह ने साठोत्तरी लेखन के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए कहा है :

' इस प्रकार युवा लेखन जिस ' बोध ' के आधार पर निर्मित हुआ है वह वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक स्थिति के सम्मुख बहुत-सी मनोगत सीमाओं के बावजूद वस्तुस्थिति को यथासंभव साहस के साथ देख सकने का आभास देता है । ' मानवीय नियति का साक्षात्कार ' और ' वास्तविकता का नंगे बदन संस्पर्श ' की आवाज़ इसी दौर में उठाई गई और उस दिशा में प्रयास भी किया गया है । समाजशास्त्रीय ' वस्तुनिष्ठ ' औज़ारों से आज की स्थिति देख सकने में समर्थ विद्वानों को युवा लेखन का संसार एकांगी, अधूरा , कुछ विकृत, कुछ अतिरंजित भी लग सकता है किन्तु इतना निश्चित है कि वह आत्मरंजित नहीं है ।'[११६]

प्रेमचंदोत्तर युग से हिन्दी उपन्यासों का कथातत्व लुप्त होने लगता है और चरित्रों पर आघात शुरू हो जाते हैं । सातवें दशक से हिन्दी उपन्यास

११५- ' अधूरे साक्षात्कार ', पृ० ८ ।
११६- 'आलोचना', जनवरी-मार्च, १९६८ , पृ० २४ ।

में चरित्रतत्व के अदम समाप्त होने के पीछे ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय कारण है। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अभूतपूर्व तकनीकी प्रगति और दिनों बढ़ती लोकतांत्रिक चेतना ने व्यक्ति की शक्ति-सामर्थ्य और उससे भी बढ़कर उ सीमाओं और विकलताओं का उत्कटता से बोध कराया। फलस्वरूप इस काल की रचनाओं में व्यक्ति की असहायता, विवशता, फालतूपन, अकेलापन, निव परायापन या अजनबीपन का स्वर प्रमुख है तथा चरित्रों की जगह परिवेशगत ए का महत्व बढ़ा है। डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर ने इसे 'परिवेशवाद' की संज्ञा देते हुए अस्तित्ववाद से जोड़ा है।[११७]

अस्तित्ववाद जीवन के केन्द्र में मनुष्य को रखकर मा नियति की विवेचना बौद्धिक ढंग से करता है तथा मनुष्य को रूढ़ सामाजिक-ध परम्पराओं और अंधविश्वासों से काटकर मूल्यों के स्तर पर मानवीय स्वतंत्रता दृढ़ता से प्रतिष्ठा व घोषणा करता है। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लि तत्कालीन अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रबल संघात से हिन्दी उपन्यासों में ब बदलाव को सातवें दशक से परिलक्षित किया जा सकता है। मानवीय अस्तित् समस्या से टकरानेवाले हिन्दी रचनाकारों में 'अज्ञेय', निर्मल वर्मा, मोहन रा लक्ष्मीकांत वर्मा, उषा प्रियम्वदा, राजकमल चौधरी, शिवप्रसाद सिंह, श्रील श्रीकांत वर्मा, मणि मधुकर, गंगा प्रसाद विमल, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित आ नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी के समानान्तर हिन्दी कहानी क्षे इस दशक से मन्नू भण्डारी, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, दीप्ति खंडेलवाल आदि के नाम चमकने लगते हैं तथा जिससे हिन्दी कहानी के संदर्भ में विद्वानों, आलोचकों की लंबी बहस नई कहानी, साठोत्तरी कहानी आदि क शुरू हो जाती है।

अस्तित्ववाद से प्रभावित औपन्यासिक रचनाओं अनेक आयामी यथार्थ चित्रण के कारण केवल बौद्धिक, भावात्मक या मानसि स्थितियां होती हैं तथा ठोस जीवन्त चरित्रों का अभाव होता है। साठोत्त

११७- 'उपन्यास : स्थिति और गति' - डॉ० चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, १९७७, पृ० १५।

उपन्यासों के इस रचनागत वैशिष्ट्य के संदर्भ में डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर ने लिखा है : " उपन्यास ने अधिकाधिक सामाजिकता, सामयिकता, जीवंत तात्कालिकता, इर्द-गिर्द के वातावरण का चित्रण, रोजमर्रा की जिंदगी से समस्याओं को उठाना और तफसीलों की बारीकियों के प्रति सजग रहना, अधिकाधिक जाने पहचाने जीवन के प्रसंग लेना, संभाव्यता और विश्वसनीयता का निर्वाह करना, सत्य का आभास होता है, इसके प्रति दत्तचित्त रहने का आंचल पकड़ा ।[११८]

अस्तित्ववाद के संघात से प्रेमचंद -परंपरा के कथाकारों का रहा-सहा प्रतिरोध सातवें दशक से समाप्त हो जाता है और ये रचनाकार भी व्यक्ति मन की अतल गहराइयों में उतरकर वैयक्तिक समस्याओं के साथ आधुनिक मनुष्य के अकेलेपन , अजनबीपन, निरर्थकता बोध, फालतूपन, ऊब आदि को चित्रित करना शुरू कर देते हैं । मोहन राकेश का " अंधेरे बंद कमरे "(१९६१) व " न आनेवाला कल " (१९६८) तथा गिरिराज किशोर का " लोग " (१९६६) व " यात्राएँ " (१९७१) इसी परंपरा के उपन्यास हैं जिनमें आधुनिक जीवन की विसंगतियाँ और विकृतियाँ पूरी भयावहता से स्थापित हुई हैं । प्रेमचंद-स्कूल की अन्य उल्लेखनीय रचनाओं में " अलग-अलग वैतरणी " (१९६७) व " राग दरबारी " (१९६८) इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें ग्रामीण व कस्बाई जीवन के चित्रण में सृजनात्मकता के नये क्षितिजों को तलाशा गया है ।

बौद्धिकता और अस्तित्ववादी विसंगतियों के गहरे दबाव से सेक्स- चित्रण में कितना बदलाव आया है, इसका उदाहरण सातवें दशक के कई उपन्यास[११९] प्रस्तुत करते हैं । नारी के रूप को चटखारे लेकर वर्णित करने की परंपरा किशोरीलाल गोस्वामी, चतुरसेन शास्त्री, पांडेय बेचन शर्मा " उग्र ", भगवती चरण वर्मा , उपेन्द्र नाथ " अश्क ", राजेन्द्र अवस्थी आदि कई लेखकों में मिलती है । पर ऐसी रचनाएँ स्तरीय नहीं हो पाती और न साहित्य समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट कर पाती हैं । साठोत्तरी उपन्यासकारों ने परंपरा से अलग

११८- " उपन्यास : स्थिति और गति, पृ० २० ।

११९- " टूटती इकाइयाँ "(१९६४) , " एक पति के नोट्स (१९६७), " दूसरी बार " (१९६८), " यात्राएँ "(१९७१) इत्यादि ।

हटकर सर्वथा नई दृष्टि से लेखन चित्रण किया । महेन्द्र भल्ला के 'एक प
(१९६७) का नायक, जिसने सीता के साथ प्रेम विवाह किया है, उससे ऊ
है । उसे लगता है जैसे उसके भीतर के रस का स्रोत सूख गया है । उसे तीव्र
असम्पृक्ती और निर्वासन का अनुभव होता है । अपनी ऊब व एकरसता
करने के लिए वह अपने पड़ोसी की पत्नी संध्या के साथ 'फ्लर्ट' करता है
पर अंत में पाता है कि उसमें कुछ भी नया नहीं था और वही निरर्थकता
मन को घेर लेती है ।[120] गंदगी और घिनौनेपन के अलावा कुछ भी हाथ
लगता है और वह सोचता है कि लोग इसको कैसे और क्यों झेलते हैं ।[1
कृति की संरचना में कामुकता के बजाय बौद्धिकता की तीव्रता झाँकती है
मनुष्य के भावात्मक-रागात्मक लगाव को काटकर कुछ नया मराव-जुड़ाव
जिससे कि वह ऊब, निरर्थकता, फालतूपन या अजनबीपन का अनुभव कर

आठवें दशक के शुरू में अतिकल्पनात्मक शैली में लिखे
बदीउज़्ज़माँ के उपन्यास 'एक चूहे की मौत' (१९७१) के संरचनात्मक विन्या
फैंटेसी का सफल और सार्थक प्रयोग किया गया है । उपन्यास की प्रतीक
से विभिन्न स्तरों पर फूटती अर्थों की व्यंजना जहाँ एक तरफ़ सत्ता की
और अमानवीयता का भयावह रूप में बोध कराती है वहीं व्यवस्था-तंत्र
व्यक्ति की निरीह और दयनीय स्थिति को साहित्यिक रचनाशीलता के
में उजागर करती है । इस उपन्यास के केन्द्र में कोई घटना या चरित्र या
नहीं, केवल संवेदना है । फैंटेसी के माध्यम से लेखक इस मूल संवेदना को
स्तरों पर व्यंग्यात्मक रूप में फैला देता है जिससे नौकरशाही और सत्ता
के दबाव के बीच मनुष्य की दारुण स्थिति और उसका अजनबीपन सृजन
स्तर पर उभर आता है : 'सारी दुनिया एक बहुत बड़ा चूहेखाना है जह
बनकर ही ज़िन्दगी बसर की जा सकती है।जो चूहे नहीं मार सकता उस

१२०- 'एक पति के नोट्स' - महेन्द्र भल्ला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,१
पृ० ७

१२१- पूर्वोक्त, पृ० ७८ ।

इस दुनिया में कोई जगह नहीं है।[१२२] इसमें लेखक दफ्तरी माहौल की एकरस यांत्रिक ज़िंदगी पर तीखा प्रहार करता है। औपन्यासिक रचाव के भीतर से उठते स्वर को अस्तित्ववादी बताते हुए डॉ० नरेन्द्र मोहन ने इसके शिल्पगत वैशिष्ट्य का महत्व आंकते हुए कहा है : "भयावह और क्रूर व्यवस्थातंत्र जो शरीर से आत्मा तक और व्यक्ति से समाज तक पसरा हुआ है, उसके सर्वग्रासी रूप को विजल्पित करके जिस जटिल और पेचीदा यथार्थ को अभिव्यक्त किया गया है, वह सीधी ठेठ वर्णनात्मक शैली में संभव नहीं था।[१२३] उपर्युक्त विवेचन से इस कथन के संदर्भ में साठोत्तरी उपन्यासों में आये शिल्पगत बदलाव की आवश्यकता व अनिवार्यता पर भरपूर प्रकाश पड़ता है।

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास मानवीय अस्तित्व की समस्याओं, सामाजिक जीवन की विडम्बनात्मक विसंगतियों, संबंधों के खोखलेपन और अजनबीपन के व्यापक दंश को अभिव्यक्ति देने के लिए रचनात्मक स्तर पर क्रियाशील है। साठोत्तरी उपन्यासों की संरचनात्मक बुनावट में आये इस गुणात्मक बदलाव से उपन्यासों में सामान्य व्यक्तियों की प्रतिष्ठा हुई।[१२४] इस तरह के उपन्यासों[१२५] में भीड़ के बीच के अकेलेपन और अजनबीपन को अंकित किया गया। जीवन के भयावह यथार्थ और तीव्र गहन वैयक्तिक अनुभूतियों के चित्रांकन से उपन्यास सामान्य जन के लिए क्लिष्ट होते गये तथा पाठकीय समझदारी की मांग करने लगे। उपर्युक्त विवेचन के बाद यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद की टकराहट से हिन्दी उपन्यासों के यथार्थ चित्रण को नया आयाम मिला। समाज और व्यक्ति मन की टकराहट से उत्पन्न अर्थहीनता, निरर्थकता, विवशता या अजनबीपन की स्थितियां सातवें दशक से प्रचुर रूप में चित्रित होने लगीं तथा हिंदी उपन्यास बौद्धिक स्तर पर प्रतिष्ठित हुए।

१२२- 'एक चूहे की मौत' - बदीउज्जमा, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, १९७१, पृ० ७३।

१२३- "आधुनिक हिन्दी उपन्यास", पृ० २६५।

१२४- सामान्य लोगों को ढूंढते हुए उपन्यास खेतों-खलिहानों गंदी बस्तियों में आ आ गया। उपेक्षित, पीड़ित व्यक्तियों के साथ निःशक्त और फालतू व्यक्तियों का अंकन करते हुए यथार्थ का एक-एक पहलू स्पष्ट किया जाने लगा। -उपन्यास स्थिति और गति" -डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृ०२१।

१२५- "वे दिन", "टूटती इकाइयाँ", "शहर था, शहर नहीं था", "समुद्र में खोया आदमी", "दूसरी बार", "धूप-छाँही रंग", "बेघर", "उसका शहर", "पत्थरों का शहर", कटा हुआ आसमान", "सफेद मेमने", "एक चूहे की मौत", "यारों धन न अपना", "बीमार शहर", "मरीचिका", लाल टीन की छत", मुरदाघर" इत्यादि।

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में अजनबीपन का संक्रमण

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में अजनबीपन का संक्रमण

उन्नीसवीं शती के अंतिम दो दशकों से हिन्दी उपन्यास-लेखन प्रारंभ हुआ । उस समय के हिंदी उपन्यासकार भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में बहुत कुछ प्रचारात्मक रूप से अंकित करते थे । उनका प्रयत्न यही होता था कि भारतीय संस्कृति के वैभव और गरिमा को पाश्चात्य संस्कृति के समानान्तर प्रदर्शित किया जाय । बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से हिन्दी उपन्यासकारों ने सामाजिक सुधार की प्रक्रिया को आत्मसात करके भारतीय समाज की गलत रूढ़ियों व परम्पराओं यथा बाल-विवाह , दहेज-प्रथा, विधवा-समस्या, अछूतोद्धार आदि पर अपना ध्यान सम्पूर्ण रूप से केन्द्रित किया और अपनी सारी रचनात्मक शक्ति इन कुरीतियों के उन्मूलन में लगा दी ।

बौद्धिकता के प्रबल संघात और आधुनिकता के दबाव से आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य का परम्परित संसार पर से विश्वास उठ गया है । आज का बुद्धिवादी मनुष्य जानता है कि व्यक्ति और समाज, मनुष्य और ईश्वर , स्त्री और पुरुष आदि से संबंधित पारम्परिक विश्वास, आस्थाएँ, आदर्श रूढ़ियां एवं विचार आदि झूठे और खोखले हैं । पर उसके पास कोई नया सकारात्मक, सृजनशील विश्वास नहीं है जिसको वह परम्परित आदर्शों का स्थानापन्न मान सके । कार्ल मार्क्स ने अपने 'अजनबी श्रम' शीर्षक वाले बहुचर्चित लेख में, पूंजीवाद के संदर्भ में उन सामाजिक दबावों की तरफ विशेष रूप से संकेत किया है, जिसके फलस्वरूप एक व्यक्ति समाज में अपने को भावना के स्तर पर अकेला और एक अजनबी महसूस करता है ।[1] मार्क्स के क्रांतिकारी सामाजिक विचारों से वैयक्तिक चेतना का एक सीमा तक विस्तार हुआ । और मनुष्य सदियों पुराने

१- 'एथेइज्म एण्ड एलिएनेशन' - पैट्रिक मास्टर्सन, पेलिकॉन बुक्स, १९७३, पृ०८७ ।

उन पुराने सड़े-गले बंधनों को फटकने को तत्पर हुआ जो उसकी अस्मिता के इर्द-गिर्द बुरी तरह से लिपटे हुये थे।

आगे चलकर अस्तित्ववादी चिन्तकों ने वैयक्तिकता का चरम रूप से दार्शनिक विश्लेषण करते हुए मनुष्य की नियति से साक्षात्कार करने का साहसिक और सकारात्मक उपक्रम किया। सुप्रसिद्ध अस्तित्ववादी चिन्तक सार्त्र ने अस्तित्ववाद के मंतव्य को स्पष्ट करते हुए कहा, "मनुष्य केवल वही होता है जो वह अपने आपके होने की इच्छा करता है।[१] इसलिए अस्तित्ववाद की पहली चेष्टा यह होती है कि" मनुष्य को वह जो है उससे परिचित करा दे और उसके अस्तित्व के समस्त उत्तरदायित्व को उसके ऊपर डाल दे।[२] इसी तरह से अस्तित्ववादी सत्य के लिए हर कीमत पर दृढ़ प्रतिज्ञ है। सार्त्र कहते हैं कि आशावादी किन्तु झूठे और यथार्थ से परे सिद्धान्तों की तुलना में" हम सत्य पर आधारित विचार व सिद्धांत चाहते हैं।[३] इस प्रकार अस्तित्ववाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो मनुष्य के व्यक्तित्व को कर्तृत्व की पूरी गरिमा प्रदान कर देता है। यह वास्तव में वैयक्तिकता का चरम निदर्शन है।

"मनुष्य की आंतरिकता की उपेक्षा" करके होनेवाले आज के वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के मूल में" निराशा और अलगाव के कीटाणुओं को देखते हुए डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने अस्तित्ववाद की सब से बड़ी देन यह मानी है कि "उसने आज के वातावरण में मनुष्य के अपने और समाज से हुए अलगाव को रेखांकित किया है।[४] वस्तुतः अस्तित्ववाद ने सर्वप्रथम मानव नियति की चिन्ता की। हिंदी उपन्यासकार ने विश्व के दूसरे देशों के रचनाकारों की तरह आधुनिक जीवन की विसंगतियों से मुंहामुंह साक्षात्कार करने की कोशिश की तथा इस मोहभंग की

१- "एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमन इमोशंस" - सार्त्र, द विजडम लाइब्रेरी, न्यूयार्क, पृ० १६।
२- पूर्वोक्त, पृ० २०।
३- पूर्वोक्त, पृ० ४०।
४- "आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद" - डॉ० शिवप्रसाद सिंह, १९७३, पृ० १४।

प्रमजालिक मुद्रा की पूरी उत्कटता के साथ इसकी संश्लिष्टता में वैयक्तिक संदर्भों में उकेरने का कलात्मक प्रयास किया । हिन्दी उपन्यासकार की इस उपलब्धि को 'विदेशी प्रभाव' के नाम पर नकारने का भी प्रयत्न किया गया । इस संदर्भ में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के विचार उल्लेखनीय हैं :" समस्त नये साहित्य का अध्ययन विदेशी प्रभाव के रूप में न होकर एक अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के रूप में होना चाहिए । बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में यूरोप, अमरीका तथा एशिया के कुछ देशों की समस्याएं एक-सी रही हैं । औद्योगिकता की प्रवृत्ति, महायुद्ध की विभीषिका, एक व्यापक शंका का वातावरण और मानवीय व्यक्तित्व के खतरे, विज्ञान के नये चरण, धार्मिकता का विघटन और आस्थाहीनता, समाजवादी प्रजातंत्र का उदय तथा एक व्यापक मानववाद में आस्था का पुन: स्थापन - आधुनिक इण्डो- यूरोपीय संस्कृति के विकास के पदचिन्ह हैं । प्राय: सभी देशों में किसी न किसी रूप में ये परिस्थितिय बीसवीं शती के प्रारंभ से रही है । साहित्यिक गतिविधियों का अध्ययन भी इसके समानान्तर रूप में किया जा सकता है ।[१]

वैयक्तिकता के इस प्रबल विस्फोटक आवेग के कारण चौथे दशक में आकर हिन्दी उपन्यास के आरंभिक युग की उपर्युक्त सामाजिक रूढ़ियों और समस्याओं का प्रश्न पीछे छूट जाता है और हिंदी उपन्यासकार अपना सारा ध्यान वैयक्तिक यथार्थ और मानव मनोविज्ञान के अंकन पर केन्द्रित कर देता है । परंपरित आदर्शों और आस्थाओं के ढहने से भारतीय संस्कृति की महत्ता, विशिष्टता या गरिमा की बात पार्श्व में पड़ जाती है ; जिसकी प्रतिष्ठा के लिए अब तक वह सचेष्ट था । अब उसे सारी टकराहट बेमानी, निरर्थक और अर्थहीन प्रतीत होने लगती है । इसी से चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में हिन्दी उपन्यासों में परम्परित सामाजिक आदर्शों की निस्सारता व खोखलेपन को उजागर करने का सार्थक प्रयास किया गया । और इस सारे प्रयास में आदर्शों या मूल्यों के प्रति बौद्धिक 'खरोंचे' को महत्व दिया गया । यह विद्रोहात्मक मुद्रा 'त्यागपत्र' और 'शेखर : एक जीवनी' में अपने पूरे चढ़ाव पर देखी जा सकती है । इस विद्रोहात्मक तेवर के खत्म होते ही एक अजीब तरह की विवशता, असहायता और नैराश्य का एहसास हुआ और इसकी चरम परिणति हुई अलगाव (एलिनेशन) में ।[२] आधुनिक-काल की विसंगतियाँ

१- हिन्दी नवलेखन - डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० २१२।
२- आधुनिक हिंदी उपन्यास (सं० नरेन्द्र मोहन)-डॉ० बच्चनसिंह,१९७५,पृ०४०।

मूल्यहीनता, निरर्थकता बोध के साथ महानगरीय सभ्यता, औद्योगिककरण और बढ़ती जनसंख्या के मनुष्य के वैयक्तिक रूप पर पड़ते असंगत दबावों ने आज के मनुष्य को अजनबी, मिसफिट, अकेला और संत्रस्त बना दिया ।"[1] 'समसामयिक हिंदी उपन्यास में आधुनिक तनाव की स्थितियां' नामक अपने लंबे लेख में डॉ० बच्चन सिंह ने आज के रचनाकार की रचना-प्रक्रिया में आये गहरे बदलाव को रेखांकित करते हुए स्वीकार किया है कि "इस परिप्रेक्ष्य में लिखे गये उपन्यासों में उन स्थितियों का आकलन स्वाभाविक है ।"[2] हिन्दी उपन्यासकार इस वैयक्तिक-सामाजिक समस्या से टकराने और उसे झेलने का सर्जनात्मक स्तर पर प्रयास कर रहा है । इस प्रक्रिया में हिन्दी उपन्यासों में अजनबीपन की भावना के संक्रमण को देखा जा सकता है । शुरू के उपन्यासों में अजनबीपन का केवल हल्का-सा संकेत मिलता है जो सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अवशिष्ट निष्ठा के कारण उभरकर भी दब जाता है । लेकिन सातवें दशक के शुरू होते ही अजनबीपन की भावना हिंदी रचनाकार से प्रबल रूप में टकराने लगती है और वह इसकी सशक्त कलात्मक अभिव्यक्ति विभिन्न स्तरों पर संश्लिष्ट रूप में करने लगता है । स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों की चर्चा करते हुए नेमिचंद्र जैन ने "पहले से सर्वथा भिन्न और अपरिचित बाह्य और आंतरिक जीवन"[3] की अभिव्यक्ति का संकेत किया है जिससे हिन्दी उपन्यासों में "वैयक्तिक ईमानदारी और निर्मम यथार्थपरकता"[4] का आग्रह बढ़ा है तथा "व्यक्ति" को एक नई प्रतिष्ठा मिली है । और जैसे-जैसे वैयक्तिकता का स्वर हिन्दी उपन्यासों में तेज हुआ है वैसे- वैसे उसमें अजनबीपन का संदर्भ व्यापक रूप से मिलना शुरू हो जाता है ।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में इस प्रकार अजनबीपन के संदर्भ को तलाशने और रेखांकित करने के प्रयास पर गहरी आपत्ति की जा सकती है। पर वास्तव में यह साहित्य को पढ़ने व समझने का एक तरीका है । आज के बदलते संदर्भों

१- आधुनिक हिंदी उपन्यास-(सं० नरेन्द्र मोहन)-डॉ० बच्चन सिंह,१९७५,पृ० ४५ ।

२- पूर्वोक्त,पृ० ४५ ।

३-'अधूरे साक्षात्कार' - नेमिचंद्र जैन, १९६६,पृ० २।

४- पूर्वोक्त,पृ० ३।

में जैसा कि डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने कहा है :" उपन्यास की पहचान-परख के लिए नये औज़ारों का इस्तेमाल भी लाज़मी हो गया है ।[1] प्रो० सुदीप्त कविराज के इस कथन से इस प्रयास को और बल मिलता है :" साहित्य को पढ़ने की परम्परागत "साहित्यिक" विधि के अलावा और भी विधियां हो सकती है । साहित्य के अध्ययन की तार्किक, संरचनात्मक, भाषा वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय पद्धतियां हो सकती हैं और यदि साहित्य के घटनात्मक (eventual) विज्ञान का विकास करना है तो ये सभी पद्धतियां आवश्यक होंगी ।[2]

१ - त्यागपत्र

"त्यागपत्र" (१६३७) जैनेन्द्र कुमार की बहुचर्चित कृति है जिसमें मातृपितृहीना लड़की मृणाल , जो अपने भाई-भाभी के संरक्षण में रहती है, की मर्मान्तक गाथा अंकित की गई है । मृणाल का अपनी सहेली शीला के भाई से प्रेम हो जाता है । भेद खुलने पर उसे बेतों की कड़ी सज़ा मिलती है तथा उसकी पढ़ाई-लिखाई छुड़ा दी जाती है । बड़ी तत्परता से उसका विवाह एक अधेड़ आयु के पुरुष से कर दिया जाता है । विवाहोपरांत वह और टूट जाती है । पुरुष प्रधान भारतीय समाज किस प्रकार दुहरे मानदण्डों का उपयोग करता है तथा हमारी परम्पराएं किस प्रकार नारी के शोषण पर आधारित है - इसका सशक्त कलात्मक अंकन" त्यागपत्र" में मिलता है । पूरे उपन्यास में मौन भाव से सड़ी-गली रूढ़ियों व परम्पराओं का स्पष्ट नकार है तथा इसकी मुद्रा विद्रोहात्मक है । मृणाल का रूढ़ियों व परम्पराओं के आगे शांत भाव से समर्पण व मूक विद्रोह जहां एक तरफ़ भारतीय समाज में नारी की निरीहता और विवशता को पूरी तीव्रता के साथ उभारता है वहीं हमारे आदर्शों व परम्पराओं के खोखलेपन को बड़ी साफ़गोई से चित्रित करता है। इसी प्रक्रिया में यह उपन्यास यथार्थ के और निकट आकर हृदयस्पर्शी हो जाता है ।

१-'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान,१६७५,पृ० १२४।
२-'एलिएनेशन एण्ड लिटरेचर' - सुदीप्त कविराज,पृ० ८०(इ०यू०मै ७३-७४)

हमारे सामाजिक नियमों-उपनियमों का ढांचा दबावमूलक है। यह अपने प्रमगांतिक शिकंजे में "व्यक्ति" की अस्मिता को कसकर और छीनकर किस प्रकार अजनबी और बेगाना बना देता है, मृणाल इसकी उदाहरण है। यह "परायापन" उस पर जबर्दस्ती लादा जा रहा है[१] और वह इसका प्रतिरोध भी करती है। किन्तु उसका निरीह प्रतिरोध उसे धीरे-धीरे इस दुनिया से अजनबी बना देता है। मृणाल प्रेमी और पति के द्वंद्व में उलझती-सुलगती रहती है। दुबारा वह ससुराल जाने के लिए अनिच्छुक है। कहती है, न यहाँ अच्छा लगता है, न वहाँ अच्छा लगता है।[२] अपने भाई द्वारा स्नेहिल स्वर में पतिगृह-महिमा सुनने के बाद प्रमोद से की गई प्रतिक्रिया "मैं जैसी गई वैसी मरी"[३] में उसकी सारी विवशता पीड़ा, मानसिक अंतर्द्वन्द्व तथा सामाजिक मर्यादाओं का दबाव समग्रता में रूपायित हो जाता है। इस अंतर्द्वन्द्व की चरम परिणति जमालगोटा मंगाकर आत्म हत्या करने के असफल प्रयास में होती है। मृणाल की यह पीड़ा भावनात्मक और संवेदनात्मक रूप में प्रमोद को छूती है। वह सोचता है: "बहुत कुछ जो इस दुनिया में हो रहा है वह वैसा ही क्यों होता है, अन्यथा क्यों नहीं होता।[४] प्रमोद की विद्रोहात्मक मुद्रा स्पष्ट है: "लीला तेरी है, जीते-मरते हम हैं। क्यों जीते, क्यों मरते हैं? हमारी चेष्टा हमारे प्रयत्न क्या हैं? क्यों हैं?[५] मृणाल से भावात्मक लगाव-जुड़ाव होने के कारण वह सोचता है और सोचता ही रह जाता है। सत्य के साक्षात्कार की ललक उसमें है, "स्वर्ग-नरक मैं नहीं जानता। विधाता के विधान को मैं नहीं जानता। बस इतना जानता हूं कि मैं हृदयहीन न हो सका, होता तो आज कामयाब वकील बनने के बाद जजी की कुर्सी में बैठना भी मेरे नसीब में न होता।[६]

१- "त्यागपत्र"-जैनेन्द्र कुमार, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, आठवां संस्करण, १६५७, पृ०१७

२- पूर्वोक्त, पृ० २७।

३- पूर्वोक्त, पृ० ३२।

४- पूर्वोक्त, पृ० ४२।

५- पूर्वोक्त, पृ० ४३।

६- पूर्वोक्त, पृ० ४६।

मृणाल के पास शीला के भाई का पत्र आता है कि "मैं अब सिविल सर्जन हूं, शादी नहीं हुई है, न करूंगा । तुम्हारा विवाह हो गया है, तुम सुखी रहो ।[१] इस पत्र को लेकर उसकी उधेड़ बुन शुरू हो जाती है और वह इसका जिक्र अपने पति से कर देती है ताकि पति के प्रति "सच्ची बनकर समर्पित"[२] हो सके । लेकिन सत्य के प्रति उसकी अतिरिक्त सोच और लगाव उसे घर से निकलवाकर दर-दर भटकने को मजबूर कर देता है । मृणाल अपनी सत्य के प्रति संसक्ति के कारण स्वयं से, समाज से और इस दुनिया से अजनबी हो जाती है । कोयलेवाले के प्रति उभरनेवाली उसकी करुणा व अनुकंपा के मूल में सत्य के प्रति "प्रयोगशील आग्रह"[३] और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति प्रच्छन्न विद्रोह का भाव है ।

मृणाल का इस प्रकार टूटना और अजनबी होना प्रमोद को भावनात्मक स्तर पर घेर लेता है :" जी होता था , कुछ होना चाहिए, कुछ करना चाहिए । कहीं कुछ गड़बड़ है । कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है । सृष्टि गलत है। समाज गलत है। जीवन ही हमारा गलत है ।[४] प्रमोद इस संसार की सहाय का अनुभव करता रहा है पर व्यावहारिकता उसे बार-बार दबाती रही है । लेकिन मृणाल की मृत्यु उसकी चेतना को झकझोर देती है और विस्फोटक रूप से उसके भीतर "अंगार सी जलनेवाली याद" उसकी अमानुषिकता के लिए और सत्रह वर्षों तक मृणाल के प्रति की गई उसकी उपेक्षा के लिए "महासंताप" का विषय बनकर काटने लगती है और वह त्यागपत्र दे देता है ।[५] इस त्यागपत्र के पीछे भी अजनबीपन की भावना सक्रिय रूप से कार्य कर रही है, जैसे कि मृणाल के उस त्यागपत्र के पीछे जो उसने अनौपचारिक रूप से इस संसार से दे रक्खा था ।

१- "त्यागपत्र" - जैनेन्द्र कुमार, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर ,बम्बई,आठवां संस्करण, १९५७, पृ० ६३ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ६२ ।

३- "त्यागपत्र", पृ० ७३ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ७६ ।

५- "त्यागपत्र ", पृ० ९८ ।

२- ' शेखर : एक जीवनी '

' शेखर : एक जीवनी ' (१९४१,४४) ' अज्ञेय ' का पहला उपन्यास है । अपने नयेपन और विद्रोहात्मक मुद्रा के कारण यह उपन्यास काफी चर्चित रहा है । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार इस उपन्यास की विशिष्टता एक ऐसी कथाकृति होने में है जिसने प्रथम बार हिन्दी कथा-साहित्य के पाठक को मानवीय स्तर पर एक संवेदनात्मक विस्तार दिया ।'[१] इस उपन्यास में जीवनीगत निबंधात्मकता बारम्बार उभर कर औपन्यासिक शिल्प को ढंकने का सफल प्रयास करती है । उपन्यास के प्रथम भाग का आच्छादन विशेष रूप से रोमांटिक है । यह उपन्यास लेखक ' अज्ञेय ' के लिए एक उपलब्धि माना जाता है । किंतु इसको पढ़ने पर जहां इसका इंद्रजाल समाप्त होता है वहीं ' अज्ञेय ' की प्रतिष्ठा का तिलस्मी महल भी ढहता नज़र आता है । प्रथम भाग में एक प्रकार का बिखराव , ढीला-ढालापन, ऊबड़-खाबड़पन और साधारण-नीरस वर्णनों की भरमार है । इस अंश में ऐसे भी स्थल मिल जाते हैं जिनका अनुभवपरक महत्व शून्यात्मक है ।

परन्तु दूसरा भाग कलात्मक रूप से काफी गठा हुआ है । भावों की सघनता, शिल्प का कसाव और शैली का प्रवेग उल्लेखनीय है । इसे युवाकालीन स्मृतियों का दबाव भी कह सकते हैं जिसके कारण इस अंश में एक प्रकार की तारतम्यता और सृजनात्मक प्रवाह लक्षित होता है । पहला खण्ड बाल्यकालीन स्मृतियों के कारण धुंधला और बिखरा-सा है । पहले भाग की शिल्पगत कसाव की कमी को बाल्यकालीन धुंधली स्मृतियों से जोड़ा जा सकता है । इस दूसरे भाग के कारण ही इस उपन्यास की गणना हिन्दी के प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में होती है । इस खण्ड में आकर उपन्यास में गहराई आ जाती है । लेखकीय आभिजात्य के कारण उसमें एक विशिष्ट प्रकार की गरिमा जुड़ जाती है ।

१- ' हिन्दी-नवलेखन ' - डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, १९६०, पृ० १०२।

"शेखर : एक जीवनी" में अजनबीपन का प्रत्यय अपने पारिभाषिक संदर्भ में मिलना मुश्किल है। पर "रोमांटिक आउट साइडर"[१] की स्थितियां शेखर में प्रचुर मात्रा में मिल जाती है। उसके मानस में कल्पना निर्मित स्वप्निल संसार बसा हुआ है जिसको वास्तविक जगत में मूर्तिमान देखने के लिए वह आजीवन संघर्षरत रहा है। आजीवन न लौटने का निश्चय करके घर से निकला शेखर उस समय का स्वप्न देखता है" जब किसी को भी किसी प्रकार का अत्याचार नहीं सहना पड़ेगा, चाहे घर में, चाहे बाहर।"[२] रास्ते में पड़े जलप्रपात को देखकर सोचता है :" जीवन ऐसा होना चाहिए, शुभ्र, स्वच्छ, संगीतपूर्ण, अरुद्ध, निरंतर सचेष्ट और प्रगतिशील। बार-बार के बंधनों से मुक्त और सदा विद्रोही -- ।[३] ये विचार उसके रोमांटिक आउटसाइडर के रूप को अच्छी तरह प्रकट करते हैं। श्रीनगर के परीमहल के खण्डहरों में पहुंचकर उसे सौन्दर्य की दिव्य अनुभूति होती है जो अपने चरित्र में वस्तुत: रोमानी है :" लेकिन जो बहुत सुन्दर हैं, बहुत भव्य, बहुत विशाल, बहुत पवित्र ---- इतना पवित्र कि शेखर को लगा वह उसके स्पर्श के योग्य नहीं है, वह मैला है, मल में आवृत है, छिपा हुआ है --- ।[४] वह दिवा स्वप्नों के कुहासे में भटकता हुआ अपने" त्राता की खोज " करता रहता है। उसे लगता है" जो जीवन वह जी रहा है, वह बाधा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ।[५] इसी से मौका पाते ही अपने बगीचे से केले के तनों को काटकर उस पर लेटकर, गंगा की धारा में बहते हुए उस" सोने के टापू" पर जाने का प्रयास करता है जहां" बादलों से बने हुए सूत के वस्त्र पहनने वाली राजकन्या रहती है।[६] अपने" जीवन के शून्य को भरने के लिए वह सोचा करता है कि" क्यों नहीं कोई ऐसी घटना होती जिससे वह टापू कहीं निकट आ जाय ---- इतना भी न सही, क्यों नहीं जब वह राह चलता ठोकर खाता है तब कोई इसी संसार की लड़की उसके

१- " द आउटसाइडर" - कॉलिन विल्सन, १९६०, पृ० ४९।

२- " शेखर : एक जीवनी" - अज्ञेय (खण्ड १) सरस्वती प्रेस, वाराणसी, पृ० ३६।

३- पूर्वोक्त, पृ० ४०।

४- पूर्वोक्त, पृ० ६६।

५- पूर्वोक्त, पृ० १०६।

६- पूर्वोक्त, पृ० १०६।

पास आकर स्नेह से उसे कहती ' आओ शेखर , मैं और कुछ नहीं कर सकती पर तुम्हारे इस एकरस जीवन में कुछ नयापन ला सकती हूं । [१] ये स्थल शेखर की रोमानियत और काल्पनिक दुनिया के विचरण पर भरपूर प्रकाश डालते हैं ।

रोमांटिक आउटसाइडर की ये स्थितियां, खासकर कल्पना की दुनिया में विचरण, सौन्दर्य की खोज, सत्य के लिए दृढ़ चाह उसे इस दुनिया से विद्रोही बना देती है । ईश्वर, समाज, परिवार, संसार, वर्तमान व्यवस्था-किसी से भी उसका तादात्म्य नहीं हो पाता । शेखर का यह विद्रोहीपन ' आउटसाइडरनैस' का एक पहलू है । बचपन से ही उसकी तर्कशीलता ईश्वर के प्रति अविश्वासी बना देती है । कभी जब मां कहती कि ' बेटा, घबराओ नहीं, ईश्वर सब अच्छा करेंगे तब वह चाहता फट पड़े, बरस पड़े, पूछे कि ' क्या युद्ध अच्छा हुआ है ? भूख अच्छी हुई है ? मामा नहीं आये यह अच्छा हुआ है ? वह जो घोड़ा मर गया, अच्छा हुआ है ? इतने लोग बीमार पड़े, अच्छा हुआ ? मरे, अच्छा हुआ है ? [२] सब कुछ ईश्वर करता है - इसमें उसे आपत्ति नहीं है। पर वह सब कुछ अच्छा करता है, - यह झूठ उस पर अत्याचार है, इसे वह किसी तरह नहीं सह सकता । इसी से कभी उसका छोटा-सा व्यक्तित्व अपना सारा साहस एकत्र करके पूछ बैठता है, ' कहीं ऐसा तो नहीं है कि ईश्वर है ही नहीं ?' [३] अपने पिता से कह बैठता है, ईश्वर झूठा है, ईश्वर नहीं है ।[४] वस्तुतः उसके लिए ' ईश्वर हमारे ज्ञान में सब से बड़ा झूठा और छलिया और मक्कार है ।' [५]

शेखर की यह अतिरिक्त तर्कशीलता और बौद्धिकता तथा अपने समवयस्कों से उसकी असाधारणता जगह-जगह स्वयं उभर आती है ।[६] अपनी प्रखर मेधा शक्ति और तीव्र बौद्धिकता के कारण शेखर ' आउटसाइडर ' हो जाता है किंतु शशि

१- ' शेखर : एक जीवनी ' - अज्ञेय,(खण्ड १) ,सरस्वती प्रेस, वाराणसी,पृ० १०७-१०८ ।

२- ' शेखर : एक जीवन (भाग १)- अज्ञेय, पृ० ८६ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ८७ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ८९ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ३५ ।

६- पूर्वोक्त, पृ० ५५ ।

का आत्म बलिदान उसे अजनबी होने से बचा लेता है । अधूरा होते हुए भी वह संपूर्णता महसूस करता है और दुनिया उसके लिए निरर्थक होते-होते रह जाती है :

" अब मैं अधूरा हूं पर मुझमें कुछ भी न्यूनता नहीं है; अपूर्ण हूं पर मेरी संपूर्णता के लिए कुछ भी जोड़ने को स्थान नहीं है ।"[१]

अजनबी व्यक्ति[२] की तरह शेखर इस संसार के सड़ांध और विभ्रमों का अनुभव करता है :" सर्वत्र कलुष है, ह्रास है, पतन है - एक अकेला समाज ही नहीं, जीवन आमूल दूषित है - ईश्वर, मानव , सब कुछ --- आमूल दूषित - दूषित और सड़ा हुआ ।[३]

शेखर के लिए जीवन अर्थहीन होकर भी नहीं होता । शशि के आत्म बलिदान से उसमें एक प्रकार के आत्म बल का उदय होता है जो उसे इस दुनिया से अजनबी होने से जबर्दस्ती रोके रहता है । इसी से वह मृत्यु को भी चुनौती देता हुआ ललकारता है :" मृत्यु, तू भी तो छाया है - ग्रस ले इस छाया को यदि शक्ति है तुझमें - यदि साहस है --- ।"[४]

३- " चांदनी के खण्डहर "

गिरिधर गोपाल का " चांदनी के खण्डहर " (१९५४) आर्थिक दबाव में टूटते एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार के विघटन की कथा है । परिवार के एक सदस्य बसंत की उच्च शिक्षा के आर्थिक प्रबंध के पीछे उत्पन्न हुई दुर्व्यवस्था और परेशानियों का मार्मिक वर्णन है । पांच वर्षों के लंदन-प्रवास के बाद बसंत अत्यंत उत्साह व प्रसन्नता के साथ घर लौट रहा है । पर घर में प्रविष्ट होते ही उसके भावुक मन पर पहला आघात होता है और वह पाता है कि घर का सारा ढांचा बदला हुआ है :" लगता है इस बीच सारे मकान को, समूचे घर को ही टी० बी० हो गया है

१- " शेखर : एक जीवनी " (खण्ड १) - अज्ञेय, पृ० १६।

२- " द आउटसाइडर " - कॉलिन विल्सन, पृ० २१४ ।

३- " शेखर : एक जीवनी " (खण्ड २) - अज्ञेय, पृ० २४२ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० २४८ ।

न उसमें स्नेह की वह सजलता शेष रही गई है न वह राग की रंगीनी।[1] सूखकर काँटा हुई स्नेहशीला भाभी, खून थूकती बहन बीना, फटे पैंट और फटे जूते पहने मुरझाया चेहरा लिए छोटा भाई राजू, दिन भर घर के काम-काज में पिसती आठ वर्षीय मीना, बचपन के सहज भोलेपन से वंचित नन्हा-सा कुँवर, बच्चों की तरह भावुक हो गये कर्मठ पिता ———————— सब की दुर्दशा के लिए वह अपने को दोषी पाता है क्योंकि उसी की पढ़ाई का खर्च जुटाने के लिए सारा परिवार अपना सब कुछ खोकर निःस्व हो चुका है। वसंत का भावुक संवेदनशील मन आहत हो उठता है। उसकी इस भावनात्मकता में पारिवारिक आत्मीयता और निम्नमध्यवर्गीय सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि झिलमिलाती है। चौबीस घण्टे की सीमित अवधि में उसके समक्ष अपने घर की सारी गरीबी उजागर हो जाती है। शिल्प की दृष्टि से चौबीस घण्टे की सीमित अवधि में उपन्यास का समाप्त हो जाना - लेखक की विशिष्ट उपलब्धि है जिसकी विशेष चर्चा इलाचंद्र जोशी ने उपन्यास की प्रस्तावना में की है।[2] क्रिया-रहित वाक्यों का प्रयोग जिसका आगे चलकर सर्जनात्मक स्तर पर प्रयोग अपने उपन्यासों में जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने किया है, इस उपन्यास के कुछ पृष्ठों पर मिलता है।[3] शैलीगत ताज़गी अनूठी है। लेकिन इस शैली पर लेखक टिकता नहीं। उपर्युक्त चार पृष्ठों में जो भाषिक तनाव और कसाव है वह आद्यन्त नहीं बना रह पाता। लेखक किस्सागोई के लोभ का संवरण नहीं कर पाता। आगे के पृष्ठों में भी इस शैली का छिटपुट प्रयोग है पर इसे केन्द्र में नहीं रखा गया है।

वसंत को लगता है अब घर, वह घर नहीं रहा तथा घर के सारे लोग भी बदल गये। लोहे की मशीन की तरह काम करते लोग मुस्कुराते हैं तो ऐसा लगता है जैसे पत्थर की मूरत मुस्करा रही है।[4] भावावेश में आकर वह अपनी भाभी से पूछता है: "किसने तुम लोगों की यह दशा कर दी। बोलो। यदि वह कोई आदमी

१- 'चाँदनी के खण्डहर' - गिरिधर गोपाल, साहित्य भवन प्रा०लि०, इलाहाबाद १९५४, पृ० ६।

२- पूर्वोक्त, प्रस्तावना, पृ० ५।

३- 'चाँदनी के खण्डहर', पृ० १०, ११, १२, १३।

४- पूर्वोक्त, पृ० ४३।

हो तो मैं उसका गला घोंट दूं, सरकार हो तो उलट दूं, ईश्वर हो तो उसके मुख पर थूक दूं।[१] उसके घर की आर्थिक दुरवस्था अपने आप प्रत्यक्ष हो उठती है :" उसका कमरा, दीवारों का उखड़ा प्लास्टर, टूटी मेजें, टूटी कुर्सी, टूटी तस्वीरें, गुसलखाने का फटा पर्दा, गंदा बिस्तर, काली नाली, जर्म्स, बीमारी, रसोई से उठता धुंआ पुराने जूते, क्रीम की खाली शीशी, पाउडर का खाली डिब्बा, तारा-सुमंत की चौपट तस्वीर, आंगन में कूड़े का ढेर , टूटी साईकिल , अंधियारा गलियारा---।[२] उसके पिता और सुमंत को पीड़ा में अजनबीपन का बोध है। वे जीवन के इस ढर्रे को गलत समझते हुए उसे बदलना चाहते हैं पर कभी-कभी नये सिरे से सब कुछ शुरू करते हैं लेकिन कुछ दिन बाद हर चीज़ की तरह यह नया जोश भी पुराना पड़ जाता है । फिर वही मनहूसियत।[३] अंतों को भी लगता है" हमारे सारे जीवन में कहीं कोई पेंच बदल गया है।[४] सुमंत की आर्त पुकार में अजनबीपन का बोध कांपने लगता है :

" मेरी जान छोड़ दो तारा । मेरी जान छोड़ दो । मेरे पास कुछ भी नहीं बचा है। मेरी हड्डियां और चमड़ा कोई खरीदे तो घर का खर्चा चला लो बाबा । लकड़ी न मिले तो मुझे चूल्हे में लगा दो । लेकिन मेरी जान छोड़ दो।[५]

आर्थिक तंगदस्ती से परिवार का हर पात्र बेगानगी के आलम में डूबा है। यहां तक कि बच्चों के चेहरे से" मुस्कान नहीं बीमारी टपकती है।[६] इसी से इस उपन्यास के रचनागत संवेदन को" मध्यवर्गीय परिवार के विशृंखलित संदर्भों" और" आर्थिक संकट की भूमिका" में खोजा गया है।[७] " टूटी दीवारों पर कांपती परछाइयां बसंत को मानसिक रूप से उद्विग्न कर देती है और इस उद्विग्नता में अजनबीपन की भावना छिपी है :" कोई नहीं सुनता । कब तक इस तरह सब से अलग, अकेला, निराश्रित, अजनबी की तरह जियूं ?[८]

१- चांदनी के खण्डहर, पृ० ४४
२- पूर्वोक्त, पृ० ३६ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ५१ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ८० ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ६४ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० ११७ ।
७-' आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास' - डॉ० अतुलवीर अरोड़ा, १९७४, पृ० १३३ ।
८-' चांदनी के खण्डहर', पृ० १२५ ।

लेखक उपन्यास के अंतिम अंश तक आते-आते अजनबीपन के बोध के ऊपर आशावादी अंत चिपकाकर अपनी आरोपित दृष्टि का परिचय देता है जिसकी चर्चा डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने की है ।[१] घुन धुकती बीना, बच्चों के समान बात-बात पर रोनेवाले पिता और आर्थिक दबाव में पिसता अर्द्धविक्षिप्त सा सुमंत धीरे-धीरे क्यों टूटते जाते हैं ? इनकी क्या ट्रैजेडी है । वस्तुत: ये पात्र आज़ादी के बाद हुए मोहभंग के प्रतीक हैं । सारे सुनहले सपनों के चकनाचूर होने की बात को लेखक प्रतीकात्मक रूप से सर्जनात्मक स्तर पर व्यंजित कर रहा है ।

४- " काले फूल का पौधा "

डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल का उपन्यास " काले फूल का पौधा " (१९५५) सांस्कृतिक अवरोध की समस्या को बड़ी कुशलता से चित्रित करता है । मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष संबंधों के तनावों और आत्मीयता रहित रिश्तों को संवेदनात्मक रूप में व्यंजित किया गया है । इस रचना में सांस्कृतिक संघर्ष और मूल्यगत द्वन्द्व पूरी उत्कटता के साथ उभारा गया है । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस उपन्यास की मूल प्रेरणा संस्कृति के संघर्ष की भावना में देखी है ।[२] इस उपन्यास की बुनावट काफी कसी हुई है तथा आद्यन्त एक प्रकार की गत्यात्मकता का प्रवाह बना रहता है । सुख के क्षणों का रोमांटिक आवेग, उन्माद सब कुछ धीरे-धीरे घुलकर , बह जाता है, कुछ भी शेष नहीं रहता । रह जाता है केवल रीतापन, संबंधों का खोखलापन, कभी न समाप्त होनेवाला अकेलापन और अजनबीपन का बोध । पर उपन्यास के आरोपित अंत और भारतीय संस्कृति की जय-जयकार से उपन्यास की रचनात्मक अन्विति टूटती है । सांस्कृतिक अवरोध और वैचारिक वैभिन्न्यता से वैयक्तिक जीवन में उत्पन्न तनाव की देवन-गीता के वैवाहिक संबंधों की निरर्थकता के बोध में आंकने का प्रयास किया गया है । इस निरर्थकता बोध को उभारने में अजनबीपन की भावना उपन्यास में उतराने लगती है । सुन्दर पति-पत्नी है, अच्छा घर है, छोटा बच्चा सागर है,

---

१- " आज का हिन्दी उपन्यास " - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ५८ ।

२- " आलोचना " : १७, पृ० १२३, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख ।

रुपये-पैसे की कमी नहीं । - पर फिर भी कुछ दोनों के बीच खटक रहा है । आत्मीय संबंधों के बीच कड़कती हुई चीज़ है जो दोनों को एक दूसरे के लिए अजनबी बना बैठती है । गीता और देवन के बीच उभर आई अजनबीपन की भूमिका को शिथिल करने के लिए लेखक ने इकलौते पुत्र सागर की मृत्यु दिखाई है जिससे देवन का हृदय परिवर्तन होता है और वह गीता को पुन: स्वीकार कर लेता है । लेकिन ऐसा करने से उपन्यास की संरचना और स्वाभाविकता में रचनागत अवरोध उत्पन्न होता है जो शिल्प की दृष्टि से उपन्यास की प्रभावान्विति को काफी कमजोर बना देता है । इस संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन के इस मत से सहमत हुआ जा सकता है कि इस उपन्यास में "किसी गहरी आधुनिक दृष्टि और कलात्मक सार्थकता"[१] का अभाव मिलता है ।

उपन्यास के शुरू में ही लेखक सरोज के पत्र के माध्यम से आधुनिक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की विडंबनाओं और विसंगतियों को आज के वैयक्तिक जीवन की टूटन और विघटन के संदर्भ में अंकित करता है । मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी संपूर्णता की कामना करते-करते बीच में न जाने कितनी बार टूट जाता है। इस तरह वह अधूरा ही नहीं रहता बल्कि छोटे-छोटे टुकड़ों में उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है । जब इस वर्ग के स्त्री-पुरुष आपस में मिलते हैं तो जोड़ लगाकर ।" और वे जोड़ बनावटी होते हैं जिनमें न जाने कितने इस तरह के सूराख रह जाते हैं जहां से वे बूंद-बूंद टपकते रहते हैं ।[२] यह उनकी विवशता होती है । इसी परिप्रेक्ष्य में लेखक देवन-गीता के संस्कारजन्य वैचारिक वैभिन्न्य की समस्या को उठाता है । गीता को अपनी मां के परंपरागत भारतीय संस्कार विरासत में मिले हैं जबकि देवन पश्चिम से अनुप्राणित है । वह चाहता है कि गीता "दौड़कर इस दुनियां का साथ ले ले ।[३] लेकिन गीता के परंपरागत संस्कार उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन चुके हैं । ~~इसी से~~ वह टूटते स्वर में कहती है, " इस बढ़ी हुई दुनिया को पकड़ने के लिए तुम मुझे मत दौड़ाना, नहीं तो हम रास्ते में ही टूट जाएंगे देवन !"[४]

१- "अधूरे साक्षात्कार' - नेमिचंद्र जैन, १९६६, पृ० १४६ ।
२- "काले फूल का पौधा" - लक्ष्मीनारायण लाल, भारती भण्डार, इलाहाबाद, १९५५, पृ० १५-१६ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ३५ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ४७ ।

परम्परित संस्कारों से आबद्ध गीता अपनी शालीनता व सौम्यता का अतिक्रमण कर उस तथाकथित अक्खड़ी आधुनिकता का वरण करना नहीं चाहती जहां केवल आत्मीयता रहित संबंधहीन संबंध है। यह वासनामूलक भोगवादी विचार-धारा उसके संस्कारों के विरुद्ध पड़ती है। इसी से वह इससे अलग-अलग रहती है लेकिन यह सब देखकर देवन के भीतर 'कुछ सुलग-सुलग कर बुझ जाता।'[1] और गीता अपने मन पर एक बोझ लिए 'स्वयं की पूर्णता में रिक्तता'[2] का अनुभव करती : 'मैं अपने घर में जब अपने स्वयं को ढूंढती हूं तो उसे कहीं नहीं पाती, चारो ओर पाती हूं आदर्श, सत, भावुकता, परम्परा की रबी- जो असंख्य वर्णों से उसी तरह से चली आ रही है, कहीं भी अपने में नया पृष्ठ नहीं जोड़ पाती।'[3] देवन समझाता है 'संबंधों में अपने को बांध देना, सदा बंधे रहना, ये पुराने दृष्टिकोण हैं।'[4] पर गीता के न समझने पर खीझकर कहता है, 'तुम मुझे ईश्वर बनाकर मंदिर में न बैठाओ, आदमी की तरह सांस लेने दो।'[5] उसके मन की पीड़ा और अंतर्द्वन्द्व इन पंक्तियों में तेज़ी के साथ रूपायित हुआ है : 'मुझे मेरी ज़मीन चाहिए, तेरा आकाश लेकर मैं क्या करूंगा।'[6] इसी मानसिक अंतर्द्वन्द्व की भूमि से अजनबीपन की भावना फूटती है। शराब में डूबा जौन, देवन अपने-अपने परिताप में झुलसते हुए शराब के पैग से गम गलत करना चाहते हैं। जीवनगत यथार्थ का साक्षात्कार करने और उसकी जटिलताओं से जूझने के बजाय लेखक समस्याओं का सरलीकरण कर अपनी आरोपित दृष्टि का परिचय देता है। लेखक ने वैवाहिक संबंधों के भीतर संस्कारों के द्वंद्व और तनाव को कुशलता से उभारकर 'नगर' में स्त्री-पुरुष के संबंधों में यौन आवेगों से आतंकित होकर एक सुविधाजनक हल खोजा है।[7] जो उपन्यास की रचनात्मकता को खंडित करता है। किशा का यह कथन 'हमारा जीना हमें नहीं बांध पाता। उसे बांधने के लिए हमें इस तरह जीने के मोह से अलग होना पड़ेगा।'[8]

१- 'काले फूल का पौधा' - लक्ष्मीनारायण लाल, भारती भंडार, इलाहाबाद, १९५५, पृ० ६६।
२- पूर्वोक्त, पृ० ५८।
३- पूर्वोक्त, पृ० ५८।
४- पूर्वोक्त, पृ० १०६।
५- पूर्वोक्त, पृ० १३२।
६- पूर्वोक्त, पृ० १८२।
७- 'आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास' - अतुलवीर अरोड़ा, १९७४, पृ० १४३-१४४।
८- 'काले फूल का पौधा', पृ० २१८।

तथा भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति उसकी कृतकृत्यता का भाव - इसी सरलीकरण का परिणाम है ।

५- " खाली कुर्सी की आत्मा "

प्रयोगवाद के समर्थ कवि और आजीवन साहित्य क्षेत्र में प्रयोगशील रहनेवाले रचनाकार लक्ष्मीकांत वर्मा का उपन्यास " खाली कुर्सी की आत्मा " (१९५८) वस्तुत: एक प्रयोगात्मक उपन्यास है । इस उपन्यास का मूल स्वर विसंगति बोध का है । उपन्यास में हास्य-व्यंग्य को रचनात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित करके जिन्दगी के मटैलपन को उसकी सारी विसंगतियों के साथ संपूर्णता में कलात्मक स्तर पर उभारा गया है । श्रीलाल शुक्ल के " राग दरबारी " (१९६८) में लेखक व्यंग कर रहा है जबकि इस उपन्यास में व्यंग्य स्वयं रचना-प्रक्रिया में से उभर रहा है । शिल्प की दृष्टि से यह साहसिक कदम प्रयोगशीलता का परिचायक है जिसकी तरफ़ संकेत डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने किया है ।[1] फंतासीनुमा घटाटोप और प्रतीकात्मकता के बीच से मोह भंग की कहानी कही गई है जो अपने आप स्वतंत्रता के बाद हुए मोहभंग से जुड़ जाती है । इस उपन्यास का वैशिष्ट्य वर्णन प्रधान प्रेमचंदीय शैली की घटनात्मकता और जासूसी उपन्यासों की सी रोचकता व रहस्यमयता में है । कहीं-कहीं तो इसे पढ़ते समय रतननाथ " सरशार " के " आज़ाद कथा " की याद ताज़ी हो जाती है । देवकीनंदन खत्री की तिलस्मी रहस्यात्मकता व भयावहता को फंतासी में ढालने का प्रयोग इस उपन्यास में लक्ष्मीकान्त वर्मा ने किया है । कहीं-कहीं व्यंग्य करते-करते लेखक सीमा के बाहर भी चला जाता है । ऐसे स्थलों पर पात्रों को परे हटाकर वह भाषण देना शुरू कर देता है । फिर भी इस उपन्यास का मिज़ाज नया है

जीवनगत विसंगतियों को उभारने के लिए लेखक " जंग लगी मिल-सी जिन्दगी का चित्रण करता है । " लाल मिर्च, लाल टमाटर और लाल इन्कलाब " वाली नई नज़्म लिखनेवाले शायरे आज़म व जनाब बरबाद दरियाबादी यह महसूस

१- " हिन्दी नवलेखन " - डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १२६-१२८।

करते हैं कि आज के आदमी की अहमियत उससे छीन ली गई है ।[१] शायर दरियाबादी के फक्कड़पने में हास्य-व्यंग्य के बीच छटपटाती हुई करुणा की भावना गहराती जाती है । वस्तुत: उनका जीवन टूटे सपनों और मोह भंग की कहानी है । पूरे उपन्यास के रचनातंत्र से अत्यंत संवेदनशील रूप में एक व्यापक करुणा की भावना पनपती है जो इस उपन्यास के पूरे कथ्य को एक नया अर्थ प्रदान करती है । डॉ० वनढोले के रोमांस और प्रसिद्ध संगीत प्रवीणा श्रीमती दिव्या देवी और उनके साथी ज्वाला प्रसाद के 'अलौकिक संबंधों' के चित्रण द्वारा लेखक ने विसंगति बोध को और गहराया है । जीवन का यह खोखलापन केवल लौह-पुरुष का खोखलापन न होकर सारे व्यक्तियों का खोखलापन है जिस पर अपनी विभिन्न सनकों के माध्यम से वे आवरण डालने का असफल प्रयास करते हैं ।[२] डॉ० संतोषी के ये विचार कि 'मौत के निकटतम पहुंचकर ही मनुष्य जीवन की सार्थकता को समझ पाता है'[३] अस्तित्ववादी चिन्तन के निकट पड़ता है । डॉ० संतोषी स्वयं अनुभव करते हैं :' यद्यपि भीतर का खालीपन इतना भयंकर है जो उनके एकाकीपन में उनके मस्तिष्क में धुक्यां-सा छु भी देता है । लगता है यह मोटी-मोटी किताबें, यह प्रयोग, यह जिज्ञासा इनमें कोई तत्व नहीं है ----- सब निरर्थक है ---- तत्वहीन और सारहीन है ---- ।[४] इसी अर्थहीनता में से अजनबीपन की भावना धीरे-धीरे विकसित होती है ।

डॉ० संतोषी अपनी परिष्कृत सौन्दर्य भावना का परिचय देने के लिए बरसाती मेढकों को पकड़ते हैं और बलपूर्वक कहते हैं :' आखिर आप इंद्रधनुष , उषा और बादलों में ही वह अखण्ड सौन्दर्य क्यों देखना चाहती है --- यह मेढक क्या कम खूबसूरत है --- इनमें कम सौन्दर्य है ---- ?[५] डॉ० संतोषी सौन्दर्य सत्य के गहरे अन्वेषक है और इसीलिए 'आउटसाइडर' भी है । आंख, नाक, कान, मुंह सभी नाबदान के कीचड़ में सने हैं पर डॉ० संतोषी को इसकी परवा

१- 'खाली कुर्सी की आत्मा'- लक्ष्मीकान्त वर्मा, लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद, १९७३,पृ० १०५ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० २२६ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० २५५ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० २५६ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० २५७ ।

नहीं है क्योंकि सौन्दर्य का उन्होंने सूक्ष्म स्तर पर साक्षात्कार किया है, क्योंकि "अनन्त ज्योति राशि को अपनी मुट्ठियों में कस रखा है।" लेकिन यह सारा व्यंग्य अपनी चरम सीमा पर उस समय पहुंचा जब डॉ० संतोषी ने उस अखण्ड सौन्दर्य को इतना विस्तृत रूप दे दिया कि तितली, कोयल, कौआ, चूहा, बिल्ली, यहां तक कि कबून्दर तक में वह सौन्दर्य की कल्पना करने लगे।[1] यहां अतिबौद्धिकता से ग्रस्त डॉ० संतोषी के माध्यम से "आउटसाइडर" की स्थिति को हल्के व्यंग्य के स्पर्श से उभारने का कलात्मक प्रयास किया गया है। जसवंत के इस कथन में कि "तुम्हारी बौद्धिकता में एक रिक्तता है" - इसी स्थिति की स्वीकृति है।

विवाहोपरांत डॉ० संतोषी को लगता है कि उनके जीवन में एक भयंकर खालीपन है।[2] "भीतर का खोखलापन जैसे उनकी समस्त आत्मनिष्ठा को खाये जा रहा था। उनके समस्त व्यक्तित्व को निगले जा रहा था"।[3] उन्हें इसकी अनुभूति होती है: "---- आदमी से अपरिचित और अनभिज्ञ हो गया है --- शायद उनकी मूल भावनाओं से बहुत दूर चला है ----- बहुत दूर।[4] डॉ० संतोषी के लिए ज़िन्दा रहना उतना ही कठिन हो जाता है जितना कि मरना।[5] महिमको ज़िंदगी "एक भ्रम-सी, निरर्थक और निष्प्रयोजन"[6] लगती है। महिम की इस अनुभूति में सात्र और उसकी अस्तित्ववादी मान्यताएं बोल रही है: "संसार के किसी मनुष्य को सुख भोगने का अधिकार नहीं है। संसार के पीड़ामय वातावरण में भी इंसान कैसे सुखी जीवन बिता पाता है। कैसे वह क्षण भर के लिए भी अपने ज़ख्मों की पीड़ा भूल जाता है।"[7] ग्रामर और भाषा की सही सीख के लिए "बेनाम" लेक्चर" देने वाले मास्टर दादा की बातों में महिम को "भटकी-हुई ज़िन्दगी की गुमराह अनुभूतियों का साक्षात्कार होता।[8]

१- "खाली कुर्सी की आत्मा", पृ० २५६।
२- पूर्वोक्त, पृ० २७६।
३- पूर्वोक्त, पृ० २७७।
४- पूर्वोक्त, पृ० २७७।
५- पूर्वोक्त, पृ० २६०।
६- पूर्वोक्त, पृ० ३२२।
७- पूर्वोक्त, पृ० ३२३।
८- पूर्वोक्त, पृ० ३५१।

डॉ० संतोषी का मेजर नवाब के रूप में रूपान्तरण उनके टूटने की कहानी है। मास्टर दादा, बरबाद दरियाबादी, मझिम टूटी जिंदगियों को जोड़ने की कोशिश में स्वयं टूट कर रह गये हैं। स्वयं लेखक डॉ० संतोषी के विषय में कहता है :" इसने इतना कड़ुवा जहर पी लिया है और उसको हजम करने की चेष्टा में अपने को तोड़ चुका है कि उसकी हरकत विषय और संदर्भ में असंगत-सी लगती है।[1] इस उपन्यास में व्यवस्था पर बड़ा तीखा और धारदार व्यंग्य किया गया है जिसमें से विसंगति -बोध का तीव्र स्वर उभरता है जो हल्का सा हास्य का पुट लिए हुए है। जब खाली कुर्सी कहती है" यह आग ---- यह चारों ओर की आग, आग नहीं मानी जायेगी ---- यह रोशनी कही जाएगी। सारा वातावरण ही भीषण आग में है, आग में ---- इस आग को कोई नहीं देख रहा है। केवल यही तीन व्यक्ति देख रहे हैं। ज्याग्रिक डॉ० नवाब, सहज मानव हवलदार और भाषा-ग्रामर वाले मास्टर दादा।"[2] इसमें वस्तुत: युगबोध बोल रहा है जो अजनबीपन की भावना से जुड़ा हुआ है। बच्चे की अनवरत बढ़ती हुई चीख को स्वर देता हुआ उपन्यास समाप्त हो जाता है। पर यह चीख एक लावारिस बच्चे की नहीं, सारी मानवता की चीख है जिसे लेखक गुंजित करके छोड़ देता है।

६-" तंतुजाल "

समाजवादी चिन्तक-आलोचक डॉ० रघुवंश की कृति" तंतुजाल " (१९५८) का वैशिष्ट्य" मानवीय जीवन के अस्तित्व के सवाल को शरीर की मांसलता से लेकर दार्शनिक अमूर्त चिन्तन के स्तर"[3] तक एक साथ स्वीकार करने में है।" तंतुजाल" की रचना में घटना, पात्र, परिस्थिति और वातावरण किसी सुनियोजित वस्तु की परिकल्पना के स्थान पर अनुभव की एकतानता और समग्रता को निर्मित और व्यंजित करते हैं। इस उपन्यास में निरंतर बीमारी से संघर्ष करती और धीरे-धीरे

१-" खाली कुर्सी की आत्मा ", पृ० ४१२ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ४२६ ।

३- "तंतुजाल"- डॉ० रघुवंश, साहित्य भवन प्रा०लि०,इलाहाबाद,नया संस्करण, १९७४, फ्लैप पर प्रकाशकीय वक्तव्य ।

अपंग होती नीरा की जीने की गहरी आकांक्षा सर्वोपरि है ।[१] डॉ० देवराज की "अजय की डायरी" (१९६०) की दीपिका और नीरा के चरित्र में अद्भुत समानता मिलती है । नीरा वस्तुत: देश की बौद्धिक चेतना की प्रतीक है । नीरा की अपंगता सारे देश की बौद्धिक चेतना के कुंठित होने को बड़ी अच्छी तरह से व्यंजित करती है । "तंतुजाल" एक फैंतासी है जिसके माध्यम से डॉ० रघुवंश ने अपनी "चिन्ता" को स्वर प्रदान किया है । रघुवंश जी का विश्वास आधुनिकता तथा मानवीय मूल्यों में है । उनके इसी विश्वास की रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति "तंतुजाल" में हुई है । डॉ० देवराज की तुलना में डॉ० रघुवंश का स्वर अधिक आत्मीय है । "मइया", "बच्चा" जैसे आत्मीयतापूर्ण शब्दों से लेखक ने पारिवारिक आत्मीयता का वातावरण सहज में ही उत्पन्न कर दिया है । इस उपन्यास का मूल संग्रथन रोमांटिक है । पर लेखकीय संयम उसे बार-बार छलकने से बचा लेता है । नीरा की अपंगता और लंबे समय तक चलनेवाली भयंकर बीमारी में उसके परिवार और आस-पास के व्यक्ति अत्यंत आत्मीय रूप में प्रस्तुत होते हैं । साथ ही लेखक ने भी अतिरिक्त स्नेह नीरा को दिया है । इसी से इस उपन्यास में अजनबीपन , अकेलापन, संत्रास आदि की स्थितियाँ पार्श्व में खड़ी रह जाती हैं, खुलकर सामने नहीं आती ।

नरेश आज के व्यक्ति का प्रतीक है, जो देख रहा है पर विवश है । कुछ कर नहीं पाता । नीरा उसकी आँखों के आगे अपंग होती जा रही है । किन्तु अंत में आकर नरेश के व्यक्तित्व पर छाया रोमांटिक आच्छादन तार-तार हो जाता है। उसकी शादी और उसकी जड़ता उसकी टूटन को प्रकट करती है । जो उसे एक सीमा तक अजनबी भी बनाती है । अपनी संवेदनशीलता में अत्यंत मार्मिक होने के कारण इस उपन्यास की नीरा की पीड़ा पाठकों की पीड़ा बन जाती है। आधुनिकता उसके दरवाज़े पर दस्तक दे रही है। उपन्यास के पूरे रचना-तंत्र से व्यापक करुणा की भावना उमड़ रही है । रोमांटिक आच्छादन के इन्द्रजाल के टूटते ही आस्था और जिजीविषा मर जाती है तथा नरेश और नीरा दोनों अजनबीपन की

१- "तंतुजाल" - डॉ० रघुवंश, साहित्य भवन प्रा० लि०,इलाहाबाद, नया संस्करण,१९७४, लेखकीय वक्तव्य,पृ० ७ (" क्या कहें ?")

भावना से घिर जाते हैं । नरेश-नीरा का टूटना, पूरी युवा पीढ़ी और उसके सपने का टूटना है ।

नीरा एक बौद्धिक युवती है । वह शुरू से ही " विवाह की अनिवार्यता "[1] के विपक्ष में रही है । अपनी माँ की आस्था पर उसने सदा प्रश्नचिन्ह लगाया है ।[2] उसके मन में " विवाह जैसे किया जाता है, जैसे होता है " पर कभी विश्वास नहीं जमा ।[3] अतिशय बौद्धिकता से ग्रस्त होने के कारण उसका विश्वास परम्परित आदर्शों और जीवन मूल्यों में नहीं है । इसी से वह प्रश्न करती है : " विवाह ऐसी अनिवार्यता क्यों है ? क्यों है कि उसके बिना चलेगा नहीं । फिर सारी परवशता स्त्री को लेकर ही है, पुरुष चाहे मुक्त रह सकता है । पर स्त्री की विवाह के बिना कोई गति ही नहीं है जैसे ।[4] उपर्युक्त कथन से उसकी बौद्धिक मानसिकता और परम्परित जीवन पद्धतियों के विरुद्ध उसका विद्रोहात्मक तेवर परिलक्षित होता है ।

नरेश अनुभव करता है कि आज का पात्र रंगमंच पर " यांत्रिक " अभिनय कर रहा है पर आज का दर्शक " उस सारे अभिनय में कुछ कमी पाता है, लगता है देयर इज़ समथिंग लैकिंग ---- और वह कुछ ऐसा है जिससे उसके अभिनय और उसके अस्तित्व में व्यवधान पड़ गया है ।[5] आरती को देखकर ऐसा लगता है जैसे उसका अपना कुछ खो गया है : उल्लास की वह पहली उमंग सिनेमा, नुमाइश, पिकनिक, सैर आदि की वह व्यस्तता उतरते हुए भाटे के समान उसके मन से उतरती जा रही है ।[6] नीरा भी " अज्ञात " विकलता " का अनुभव कर रही है ।[7] इन्हीं त्रासद, विघटनकारी स्थितियों के बीच से अजनबीपन की भावना पनपती है ।

१- 'तंतुजाल', पृ०१६
२- पूर्वोक्त, पृ० २१ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० २५ ।
४- पूर्वोक्त,तंतुजाल, पृ० २७ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ५३ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० ६१ ।
७- पूर्वोक्त, पृ० ६८ ।

नरेश का ध्यान हरी-भरी घाटी, तितलियों के नृत्य और चिड़ियों के कलरव को छोड़कर सुनसान, जलहीन, रेतीली सरिता की ओर आकृष्ट हो रहा है। ट्रेन की धीमी गति, रेत, ऊंट, ढिउल और बबूल के पेड़ भीतरी उदासी को प्रतीकात्मक रूप में व्यंजित कर रहे हैं। नरेश को अनुभव होता है, "घाटी का सारा आकर्षण, सारा सम्मोह उसके लिए जैसे निरर्थक हो गया है।"[१] उसे लग रहा है कि "आज वह अपने जीवन में अकेला है, बिलकुल साथी-विहीन, बंधु-परिजन विहीन।[२]

अपने और संसार को पहचानने की एक नई दृष्टि यह रचना देती है। पूरे उपन्यास में न तो कसाव है और न बिखराव ही। लगता है जैसे एक अत्यंत मीठा, मधुर, आत्मीय प्रवाह हमारे ऊपर से गुज़र रहा है। नरेश को लगता है जैसे उसका सारा जीवन घनी उदासी से घिरा है।[३] आज उसके सारे अस्तित्व में "अजब-सा बिखराव और विचित्र -सा शून्य" है जो सब कुछ को निगलता जा रहा है।[४] वह सोचता है कि "उसकी ज़िंदगी के पीछे से चुपचाप उसकी ज़िंदगी का सूरज निकल गया है।[५] एक प्रकार की "शिथिलता उसकी उदासी को अतिक्रांत करती जा रही है।[६] इसी प्रकार के अनुभवों से गुज़रकर नरेश धीरे - धीरे अजनबीपन की स्थिति के करीब पहुंच रहा है।

मीरा को भी अपने इस जीवन से चिढ़ होती जा रही है, वह सोचती है "यह मेरा जीवन क्यों ?"[७] जीवन की इस अर्थहीनता और निरर्थकता की प्रतीति के साथ अजनबीपन का बोध उसके मानस में गहराने लगता है। मीरा के इस टूटने के क्रम में नरेश भी टूट रहा है। उसको यह अर्थहीनता की प्रतीति सोचने के लिए उसके मानस को आंदोलित करती है : "मुझ में जो व्यथा महसूस करने की शक्ति नष्ट हो गई है, उसे मैं वापस चाहता हूं।[८] पर वह जितना ही अपनी

१- तंतुजाल, पृ० १०५।
२- पूर्वोक्त, पृ० १३८।
३- पूर्वोक्त, पृ० १३८।
४- पूर्वोक्त, पृ० १७५।
५- पूर्वोक्त, पृ० २००।
६- पूर्वोक्त, पृ० २००।
७- पूर्वोक्त, पृ० ३०१।
८- पूर्वोक्त, पृ० ३५५।

अस्मिता या चेतना को बचाने का प्रयत्न करता है, उतना ही वह अजनबीपन की भावना से आक्रांत होता जाता है। प्रकृति के उल्लास, तितलियों के नृत्य, पक्षियों के कलरव और धरती की हरियाली से तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता और उसे एहसास होता है कि उसकी चेतना, उसका अस्तित्व सारा का सारा निरर्थक हो गया है ---- वह जैसे निरर्थक शून्य में तैरता हुआ घूम रहा है।[१]

७- " पत्थर युग के दो बुत "

किशोरी लाल गोस्वामी की परम्परा के तथा प्रेमचंद युग के अप्रतिम कथाकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री का प्रस्तुत आदर्शवादी उपन्यास " पत्थर युग के दो बुत " (१९५९) परम्परित ढंग से लिखा गया है। यह एक वक्तव्य प्रधान निबंधात्मक उपन्यास है। अति उच्चवर्गीय जीवन को केन्द्र बनाकर आधुनिक जीवन की विसंगतियों और उसकी इन्द्रजालिक भंगिमाओं को उद्घाटित करने का प्रयास इस रचना में किया गया है। यह कृति आचार्य चतुरसेन शास्त्री की रचनात्मक जागरूकता को बड़ी कुशलता से प्रतिबिम्बित करती है जो अपने आप में एक सुखद आश्चर्य है। स्वयं शास्त्री जी ने आधुनिकता को साहित्य का अनिवार्य गुण माना है[२] तथा अपने इस मंतव्य को इस उपन्यास में मूर्तिमान करने का सृजनात्मक प्रयास किया है। इसकी शैली आलंकारिक होते हुए भी सरल, सरस तथा रोचक है। इसके वक्तव्य कहीं भी कृति को बोझिल नहीं बनाते अपितु उपन्यास की रचनात्मकता और आंतरिक संगति में से स्वयमेव उभरते हैं। परम्परित शैली का उपन्यास होने पर भी विवाह, सेक्स, प्रेम, नारी-पुरुष संबंधों आदि की निरर्थकता का सार्थक विश्लेषण किया गया है। यही इस रचना की आधुनिकता है।

किस प्रकार परस्पर प्रेम करनेवाले स्त्री-पुरुषों के संबंधों में हल्की-सी दरार आकर किस तरह उन्हें एक दूसरे से अजनबी बना डालती है तथा

१- 'संतुलाउ', पृ० ३५८।

२- " वैशाली की नगरवधू' - आचार्य चतुरसेन शास्त्री, उत्तरार्द्ध, पृ० ४१६।

उनका यह अजनबीपन उनमें कैसे निरर्थकता का एहसास उभारता है - इसका प्रभावशाली अंकन इस उपन्यास में मिलता है । सुनीलदत्त पांच वर्षों के वैवाहिक जीवन के बाद ही अपनी पत्नी रेखा के लिए अजनबी हो जाता है और संबंधों की उष्णता ठंडेपन में बदल जाती है । रेखा अपने इर्द-गिर्द जकड़ी हुई निरर्थकता, अर्थ-हीनता और ऊब को तोड़ने के लिए मूल्यों व आदर्शों को परे धकेलकर दिलिप कुमार राय की अंकशायिनी बन जाती है । इधर राय की पत्नी का बाइस वर्षीय जीवन भी आपसी तनावों की भूमिका में समाप्त हो जाता है । पर कोई सुखी नहीं हो पाता । सुख की तलाश में सभी मृगतृष्णा के शिकार होते हैं और सुख उन्हें हर बार छलता जाता है । सुनील-रेखा संबंधों का ठंडापन और माया-राय संबंधों का बासीपन जीवन की कृत्रिम मुद्राओं के बीच से अजनबीपन के प्रत्यय को उभारता है ।

सुनीलदत्त हाकिमाना रौब वाले व्यक्ति थे, जिनके साथ नौकर-चाकरों, चपरासियों और दूसरे कर्मचारियों की फौज सदैव लगी रहती थी । इसके विपरीत रेखा एक साधारण गृहस्थ परिवार के लाड़-प्यार में पली, अपने मां-बाप की इकलौती बेटी थी । यहां पारिवारिक वातावरणों के अंतर के कारण उत्पन्न सांस्कृतिक अवरोध की स्थिति को रेखांकित किया जा सकता है जो आपसी संबंधों में तनाव उत्पन्न करता है । दत्त के ज्वलंत वैभव, उल्लास, प्यार के अकथ उन्माद, विलास और भोग के ऐश्वर्य के बीच जो रेखा के चारों ओर बिखरकर बह रहा था, शुरू में वह कुछ पराया-सा, अपरिचित-सा अनुभव करती है ।[1] लेकिन शराब के कारण यह आनन्द चिरस्थायी नहीं रहता । शराब रेखा के मानस-पटल पर दैत्य की भांति चढ़ बैठती है और जिसके चलते सारा दाम्पत्य जीवन विषाक्त और तनावपूर्ण हो जाता है ।[2] शराब को लेकर हुई बहस से जैसे आंधी का एक बवंडर आया और पहाड़ की चोटी से रेखा को नीचे धकेल गया । दत्त को कलब से आते देखते ही उसकी प्रसन्नता

१- पत्थर युग के दो बुत - आचार्य चतुरसेन शास्त्री, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पांचवां संस्करण, १९६६, पृ० ७ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १४ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० १५ ।

गायब हो जाती, मन क्षोभ से भर जाता और उधर वह भी कुछ खिंचे-खिंचे रहने लगे । इस तरह दोनों के संबंधों के बीच एक प्रकार का ठंडापन धीरे-धीरे पसरने लगता है । दूसरी बर्थ-डे पर ड्रिंक को लेकर विरक्ति का रंग और गाढ़ा हो जाता है ।[1] राय अपनी घात में रहता है और उपयुक्त समय पाकर रेखा की सुप्त कामुक प्रवृत्ति को उकसा देता है । राय की मान्यता है कि औरत मर्द की सब से बड़ी खुशी का माध्यम है, एक तंदरुस्त जवान मर्द के लिए औरत पुष्टिकर आहार है ।[2] उसकी मान्यता है कि विवाह होते ही औरत खत्म हो जाती है तथा बच्चों के जन्म के बाद दयनीय जीवन बिताती "पतिनामधारी एक स्वेच्छाचारी व्यक्ति की दुम बन जाती है ।"[3]

रेखा की परम्परागत समझ को तोड़कर राय उसे प्यार की "प्यास" जगाता है और वह खुशामद की बाह में राय की अंकशायिनी बन जाती है ।[4] पति से उसकी घृणा और प्रबल हो जाती है, उनके प्रेमालाप से उसे जरा भी खुशी नहीं होती । उनके अंक में मिट्टी के लोथड़े की भाँति पड़ी रहती है तथा उसका दम घुटने लगता है और उनकी सारी चेष्टाएँ असह्य लगने लगती है ।[5] रेखा की इस मानसिक स्थिति के परिवर्तन से अजनबीपन पति-पत्नी के संबंधों के बीच पनपने लगता है ।वह आपसी संबंधों के बासीपन से घबड़ाकर उसकी चीरफाड़ करते हैं परंतु कुछ भी उनके हाथ नहीं लगता । वे विदेशों के बारे में सोचते हुए पत्नी की संकीर्णता को इसके मूल में मानते हैं जो "केवल ड्रिंक" को लेकर महाभारत खड़ा कर देती है ।[6] संस्कारजन्य वैभिन्न्य से दोनों एक दूसरे के लिए अजनबी हो जाते हैं ।

अपनी माता-पिता की रजामंदी के विरुद्ध राय से प्रेमविवाह

१- पत्थर युग के दो बुत' - आचार्य चतुरसेन शास्त्री, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली पाँचवा संस्करण, १९६६, पृ० ३५।
२- पूर्वोक्त, पृ० २४ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० २५ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ३३ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ३४ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० ४०-४१ ।

करनेवाली माया एक दिन पाती है कि उसका प्यार उसके आंचल में ही पड़ा-पड़ा खाली हो रहा था ।[१] उसके जीवन में वर्मा का आगमन होता है और वह अपने जीवन की निरर्थकता के एहसास को तोड़ने के लिए वर्मा की ओर झुकती है । पर राय, माया दोनों का निरर्थकता का अहसास और ज्यादा बढ़ जाता है । अपने गम को गलत करने के लिए रात को देर तक राय ड्रिंक करने लगता है । वह माया जो बाइस वर्षों तक राय के प्रति वफादार रहती है, घुट-घुटकर विस्फोटक रूप से विद्रोह कर देती है, पतिव्रता धर्म के औचित्य पर प्रश्न चिन्ह लगाती है तथा पुरुष सत्तात्मक समाज के सामंती मूल्यों के विरुद्ध संघर्षात्मक रूप में जूझने लगती है ।[२] उसकी वर्षों की दुनिया उजड़ जाती है और वह अपने परिवार और पति के जीवन से उखड़कर अकेली रह जाती है तथा जीवन की ढलती दोपहरी में वह प्रेम का नाटक खेलती है जो उसे स्वयं भी हास्यास्पद लगता है ।[३] वह घर से बेघर होकर चौराहे पर आ खड़ी होती है, सारे सभ्य समाज से बाहर - बहिष्कृत, अकेली न वह किसी की है न उसका कोई है ।[४] माया स्वतंत्र विचारों वाली बौद्धिक स्त्री है जो समाज के सर्वोच्च शिखर पर रहने और प्रतिष्ठा व आनन्द पाने के लिए कृत संकल्प है :" आत्मनिष्ठा और आत्म सम्मान के नाम पर अपना घर, पति, पुत्री, प्रतिष्ठा और समाज को त्यागा है, और उसे मैं खोऊँगी नहीं, प्राप्त करूँगी ।[५] इसी प्रक्रिया में वह अपने से भी अजनबी हो जाती है ।

फ्लाबेयर की मादाम बोवारी की तरह रेखा के मन में भय की काली छाया हर समय घेरे रहती है । इससे मुक्त होने के लिए वह राय से शादी करने का निर्णय लेती है पर राय कतराने लगता है । रेखा की शादी की जिद पर वह उसे टका-सा जवाब दे देता है ।[६] रेखा के पैरों के नीचे की धरती

१- " पत्थर युग के दो बुत " पृ० ४६ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ६१ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ७२ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ७५ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ७७ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० १५०।

खिसक जाती है और अपने को वह कहीं का नहीं पाती। इस तरह अजनबीपनकी भावना उसको अपने गिरफ्त में ले लेती है। दद सब कुछ जानकर पहले तो इस धक्के को शराब के पैग में डालकर पी जाना चाहता है पर वह इसे झेल नहीं पाता और राय की गोली मारकर हंसते- हंसते फांसी के फंदे पर चढ़ जाता है।

८- " अजय की डायरी "

दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के पंडित डॉ० देवराज कृत " अजय की डायरी " (१९६०) आधुनिकता का संस्पर्श लिए मूलत: एक रोमांटिक उपन्यास है। नेमिचंद्र जैन ने इसे आत्मगाथात्मक उपन्यास कहा है।[१] इस उपन्यास में संवेदनशील मनुष्य की गहनतम जरूरतों का उद्घाटन करते हुए संस्थाबद्ध जीवन की सूक्ष्मतर कमजोरियों को मार्मिकता के साथ उभारा गया है।[२] स्वयं डॉ० देवराज ने स्वीकार किया है :" डायरी " का विषय है मूल्यों के विघटन के विरुद्ध निश्चयात्मक संघर्ष - मूल्य चेतना का पुनराख्यान करते हुए उसका मंडन।"[३] इस प्रकार इस उपन्यास में आधुनिकता की गति अवरुद्ध हो जाती है। अजय एक बौद्धिक व्यक्ति है किन्तु उसकी पत्नी शीला संकीर्ण और स्वार्थी वृत्ति की भौतिकवादी मूल्यों में विश्वास रखनेवाली स्त्री है। वैयक्तिक मूल्यों और विचारों में मतभेद के कारण अजय का व्यक्तिगत जीवन सुखी नहीं है। उसकी दृष्टि में परंपरागत विवाह से प्राप्त पति-पत्नी का यह संबंध " राटन लव " से अधिक कुछ नहीं है।[४] अजय अनुभव करता है कि उसके और शीला के बीच मनोवृत्तियों और रुचियों का व्यवधान है।[५] उसकी आकांक्षा थी कि शीला " भौतिक रूप में ही नहीं, मन और बुद्धि के धरातल पर भी " सम्पूर्ण जीवन की साझेदार हो।[६] पर ऐसा नहीं

१- " अधूरे साक्षात्कार " - नेमिचंद्र जैन, १९६६, पृ० २५३।

२- " अजय की डायरी " - डॉ० देवराज, राजपाल एण्ड संस,दिल्ली, दूसरा संस्करण १९७०, फ्लैप पर प्रकाशकीय वक्तव्य

३- पूर्वोक्त, दो शब्द।

४- पूर्वोक्त, पृ० ३६।

५- पूर्वोक्त, पृ० २४४ ।

६- पूर्वोक्त, पृ० २४५।

हुआ । परिणामस्वरूप धीरे-धीरे दोनों के बीच तनाव और एक प्रकार का लगाव आने लगा जो खीझ व आक्रोश से सहचरित था ।[1] पति-पत्नी की इस तनावपूर्ण स्थिति और मानसिक अतृप्ति के फलस्वरूप अजय हेम की ओर आकृष्ट होता है । यहीं से रोमांटिक बोध उपन्यास में गहराने लगता है । अजय हेम को समग्रता में पाना चाहता है ।[2] वह शीला को अस्वच्छ और अनैतिक दाम्पत्य संबंध तोड़ देने की सलाह देता है । पर शीला सामाजिक मर्यादा के कारण ऐसा सोच नहीं सकती और दोनों को न चाहते हुए भी इस संबंधहीन संबंध को ढोते रहना पड़ता है । अजय की शीला से 'घृणा, भयंकर घृणा,' वह घृणा जो जाल में फंसे पक्षी को बहेलिये से होती है - जो कैदी को जेलर के प्रति महसूस होती है' उत्पन्न होती है ।[3]

अजय अपने व्यक्तित्व के संस्कारों के आधार पर पूर्व हो या पश्चिम जीवन को संपूर्ण संदर्भ में रखकर देखता है । उसके व्यक्तित्व में जीवन-मूल्यों के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है । अजय ने पूर्व ही नहीं पश्चिम वालों की कमजोरी पर भी इसी दृष्टि से विचार किया है । बौद्धिकता के साथ -साथ उसमें भावात्मकता प्रचुर मात्रा में है जो उसकी वृत्तियों को कोमल बनाती हुई रोमांटिक बोध को पल्लवित करती है । दीपिका के चरित्र में आधुनिकता व बौद्धिकता की चमक है । वह नैतिकता को बहुत हद तक रूढ़ि मानती है,[4] सार्त्र के इस मंतव्य की कायल है कि जिसे मैं पसंद कर लूं वही मेरे लिए भलाई है ।[5] वह घोर नास्तिक है, धार्मिक रूढ़ियों को अंधविश्वास मानती है तथा उन्हें किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन देने के विरुद्ध है ।[6] उसकी सब से बड़ी विशेषता है तर्क या बहस करने की प्रवृत्ति ।[7] एक जगह वह कहती है, :

१- 'अजय की डायरी' - डॉ० देवराज, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, दूसरा संस्करण, १९७०, पृ० २४७।

२- पूर्वोक्त, पृ० २४७ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० २८८ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ६३ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ६३ ।

६- पूर्वोक्त, पृ० ७२ ।

७- पूर्वोक्त, पृ० ४१ ।

" मेरी कोई नियति नहीं है। मैं सनकती हूँ मेरी और मन की एक ही नियति है, यानी- मृत्यु की शून्यता।"[१] नदी देखकर वह सोचती है" इसमें कैसे आत्महत्या की जा सकती है, नदी आपकी गहरी तो है नहीं।[२]

अजय अपने वैवाहिक जीवन में आये गतिरोध को दूर करने के लिए शीला से एक नार्मल पति व प्रेमी जैसा व्यवहार करने का प्रयास करता है। पर वह पाता है कि इस प्रकार का व्यवहार उसके भीतर के एकांत को भरने या विचलित करने में एकदम असमर्थ रहता है और इस तरह उसे जीवन की अपूर्णता और अधूरेपन का एहसास होता है।[३] अजय को समाज के अधिकांश संबंध जो लेन-देन पर निर्वैयक्तिक सेवा-विनिमय पर आधारित है निरर्थक लगते हैं क्योंकि वह केवल जीवित रहना नहीं चाहता - उसे सार्थक अस्तित्व की कामना है।[४] ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि को वह बिल्कुल नहीं मानता।[५] प्रेम से वह कहता है कि कभी कभी लगता है कि मैं एक घने जंगल में हूँ, कहीं बाहर निकलने का रास्ता नहीं है और मैं एकदम अकेला हूँ।[६] कभी वह रोमांटिक व्यक्ति की तरह दूसरे संसार का रंगीन सपना देखता हुआ दिवा-स्वप्नों में खो जाता है कि कोई आयेगा, जिसकी वह बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहा है तथा उसके आते ही सारा अनुभव मिटकर अर्थपूर्ण बन जायेगा और उसका रास्ता साफ दीखने लगेगा।[७] वह अस्तित्ववादियों जैसी विवशता का अनुभव करता है।[८] उसे अपने पुराने परिचित परिवेश में एक " अजीब परायेपन" का अनुभव होता है।[९] उपन्यास में वैयक्तिकता का स्वर भी उभरता है:" मैं मानवता को नहीं जानता, सिर्फ व्यक्ति को पहचानता हूँ।[१०] मानवता उसे झूठ, धोखा और छलावा लगती है

१-'अजय की डायरी', पृ० १२५।

२- पूर्वोक्त, पृ० १६०।

३- पूर्वोक्त, पृ० ३७।

४- पूर्वोक्त, पृ० ४८।

५- पूर्वोक्त, पृ० ६०।

६- पूर्वोक्त, पृ० १२४।

७- पूर्वोक्त, पृ० १२४।

८- पूर्वोक्त, पृ० २३२।

९- पूर्वोक्त, पृ० २३३।

१०- पूर्वोक्त, पृ० २६७-२६८।

क्योंकि मानवता और समाज और उसके कानून उसे उस सब से वंचित रखना चाहते हैं जो उसके मानव की ऊर्ध्वगति के लिए ज़रूरी है।"[1] "आज के मनुष्य की आंतरिक आकुलता" के पीछे वह औद्योगिकता के तीव्र दबाव को मानता है।[2] इस प्रकार इस उपन्यास के रचाव में कई एक नये तत्व हैं जो आधुनिक जीवन, उसके बढ़ते हुए दबावों व तनावों तथा उनसे उभरनेवाली अजनबीपन की स्थितियों का सार्थक संकेत देते हैं।

६- "पचपन खंभे लाल दीवारें"

उषा प्रियम्वदा की रचना "पचपन खंभे लाल दीवारें" (१९६१) अजनबीपन की भावना को कलात्मक ढंग से स्थापित करनेवाली एक सशक्त कृति है। इनकी गणना हिन्दी के उन रचनाकारों में होती है जिन्होंने आधुनिक जीवन की ऊब, विफलता, विवशता, संत्रास, अकेलापन और अजनबीपन की स्थिति को सृजनात्मक स्तर पर अंकित किया है। प्रस्तुत उपन्यास में पारिवारिक सीमाओं में जकड़ी, निम्न मध्यवर्गीय शिक्षित नारी की सामाजिक-आर्थिक विवशताओं से उपजी मानसिक यंत्रणा का मार्मिक अंकन हुआ है। छात्रावास के पचपन खंभे और लाल दीवारें उन परिस्थितियों की प्रतीक हैं जिनमें रहकर सुषमा को ऊब तथा घुटन का तीखा अहसास होता है। फिर भी वह इनसे मुक्त नहीं हो पाती क्योंकि उसकी संस्कारबद्धता के कारण उन परिस्थितियों के बीच जीना ही उसकी अंतिम नियति है।

अपने चारों ओर के परिवेशगत सन्नाटे और खोखलेपन के बीच फँसी सुषमा को आभास होता है कि बाहर का अभेद्य, सर्वग्रासी अंधकार उसके जीवन में सिमटता आ रहा है। इस अकेलेपन और रिक्तता की अनुभूति

१- अजय की डायरी, पृ० २६८।

२- पूर्वोक्त, पृ० ३३७।

को तोड़ने के लिए वह संवेगों की दहलीज़ पर खड़ी होकर अतीत में झाँकने और मन की धुँधली गलियों में भटकने का प्रयास करती है ।[1] अब वह उस स्थान पर आ पहुँची है जहाँ पीछे मुड़कर देखने से आशाएँ कड़ी ओझली नज़र आती हैं और जहाँ यथार्थ की प्रखरता में कोमल स्वप्न कुम्हला जाते हैं ।[2] अविवाहिता सुषमा की आय पर चिपटकर चलनेवाले घर-परिवार के बीच प्राय: वह अपने को अकेला और उपेक्षित सा अनुभव करती है । उसके जीवन में आ गये बिखराव को समझने का प्रयत्न स्वयं उसकी माँ भी नहीं करती ।[3] अनुकूल जलवायु न पाने के कारण कुम्हलाया हुआ एक तरुण किशोरी का स्वप्न उसके मन में अटका हुआ था ।[4] सुषमा को रह-रहकर अकेलापन घेरने लगता है । खिन्न मन:स्थिति में इसके लिए उसे अपने माता-पिता दोषी प्रतीत होते । उसके जीवन में नील के आगमन से पहली बार उन खोये हुए बीते वर्षों का दुख उमड़ता है जो जीवन की भाग-दौड़ और आजीविका के प्रश्नों में चुपचाप विलीन हो गये थे । और अब तो उसके चारों ओर अपने पद की गरिमा, परिवार के दायित्व और कुंठाओं की दीवारें खिंच गई थी । उसे न तो प्रेमी की आकांक्षा थी और न पति की । फिर भी जाने क्यों उसका मन कभी-कभी डूबने लगता और सारे परिवार का सारा बोझ अपने ऊपर लिए वह काँपने लगती, उसके कदम लड़खड़ाने लगते ।[5]

नारायण, जिसको केन्द्र में रखकर उसने बचपन में एक स्वप्न संजोया था, उसके पुत्र होने के उपलक्ष्य में जब वह उसके घर जाती है तो लोगों की शुभकामनाओं और आशीषों की वर्षा के मध्य वह एक अपरिचित-मात्र बनी, बहुत दूर से यह सब देखती है ।[6] यह परायापन उसके मन में ज़िंदगी के प्रति कितनी कड़वाहट घोल देता है । मीनाक्षी अपनी शादी तय हो जाने के बाद लिखती है कि

१- 'पचपन खंभे लाल दीवारें' - उषा प्रियम्वदा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९७२, पृ० ७ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ८ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० १५ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० १७ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ३१-३२ ।

६- पूर्वोक्त, पृ० ४३ ।

वह अपने इस हॉस्टल और ट्यूटोरियल्स में बंधी संकुचित ज़िंदगी से ऊब गई थी । अभी भी अंत तक द्वार मेरे सामने खुल रहा है तो मैं उससे क्यों न निकल जाऊँ ।" लेकिन सुषमा सोचती है - सोचती क्या है बल्कि उसके भीतर से एक आह उठती है - " जिसके चारों ओर द्वार बंद हो जाएं क्या करे ? उसकी नियति यही है कि वह उसी कारागार में रहे, खिड़कियों से आती धूप और मद्धिम प्रकाश केवल पर नहीं लेती रहे ।[1] इस विवशता के क्रोड़ से उपजती हुई अजनबीपन की भावना से अपने को मुक्त करने के लिए कामों का अम्बार लगाकर व्यस्तता का ढोंग रचती है पर इन सब के बावजूद वह अभाव अखरती, घुटन सी जाती है । सहज स्नेह की आकांक्षा की कमी उसे बराबर खलती रहती है ।

नील उससे जब इस बात की शिकायत करता है कि उसका परिवार उसका 'अनड्यू एडवान्टेज' लेता है या उसके भाई-बहन उसके माता-पिता की ज़िम्मेदारी हैं, स्वयं उसकी नहीं । तो ऐसा नहीं कि वह इस बात को नहीं महसूस करती, पर नील की बात उसे कहीं गहरे खरोंच जाती है । और अपनी विवशता पर उसे रोना आ जाता है ।[2] इस विवशता और उससे उत्पन्न उदासी घोर- अकेलेपन से वह लाख चाहकर भी मुक्त नहीं हो पाती । नील के कारण पारिवारिक-सामाजिक बंधनों में छटपटाती और अपने जीवन की एकरसता से उकताई सुषमा प्रसन्न और आत्म विभोर हो जाती है । पर मीनाक्षी द्वारा यह सुनकर कि हॉस्टल की लड़कियों में स्टाफ रूम में, नौकरों में हर जगह उसी की चर्चा है, वह फिर से उसी चिरपरिचित उदासी के आलम में डूब जाती है । उसके सुनहले स्वप्न यथार्थ की ठोकर से बिखर जाते हैं । इस जीवन में कहीं भी तो उसका अपनापन नहीं है और उसकी आंखों में वही सूनापन झाँकने लगता है। ऐसी मनःस्थिति में अजनबीपन का बोध उसके मानस में गहराने लगता है । नील के सम्पर्क से उसकी तंद्रा, जड़ता, एकरसता, सूनापन, ऊब, अकेलापन और इन सब के योग से विकसित होते अजनबीपन के बोध को तोड़ दिया था, उसकी कल्पना उन्मुक्त हो गई थी , उसके हृदय में आत्म विश्वास उल्लास व प्रसन्नता का सागर

१- 'पचपन खंभे लाल दीवारें', पृ० ४६ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ५७-५८ ।

उलझाने लगा था, लेकिन ------ । नीरु से वह कहती है :" मेरी ज़िंदगी खत्म हो चुकी है । मैं केवल साधन हूं । मेरी भावना का कोई स्थान नहीं । विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ देना मेरे लिए संभव नहीं । प्राचीरों में बंदी ज़िंदगी के लिए उसने अपने को ढाल लिया है ।[१]

नीरु का सलज्ज सौन्दर्य और गदराया यौवन उसे भीतर तक झकझोर कर खोखला कर जाता है और उसके विचार फिर उन्हीं बंद गलों में मुड़ जाते हैं जिससे निकलने की कोई राह नहीं । ज़िंदगी के खोखलेपन का अहसास रह-रहकर उसे कचोटता है और उसके चेहरे पर फीकी मुस्कराहट पसर जाती है । जब उसकी मां नीरु को देखने के लिए आये मेहमानों से उसकी और उसके पद-गरिमा का बखान करती है तो वह इस सारहीन सम्पदा के खोखलेपन से अच्छी तरह परिचित होने के कारण एक प्रकार की कड़ुवाहट से भर उठती है । ज़िंदगी के इस कसैलेपन के स्वाद में से अजनबीपन की भावना उत्पन्न होकर उसके मानस पटल को घेर लेती है । उसकी अपनी सगी मां तक उसका दर्द नहीं समझती । वह सुषमा के अरमानों की चिता पर नीरु, प्रतिभा, संजय का भविष्य संवारने से नहीं हिचकती । ज़िंदगी की भ्रम-जालित अनुभूतियों के कसैलेपन को पारिवारिक पृष्ठभूमि में सजीवता के साथ लेखिका ने उभारा है । अपने औलादों की फूटी तकदीर को कोसते हुए उसकी मां सुषमा के कामों में मीनमेख निकालते हुए कई सलाह दे डालती है ताकि " फिजूलखर्ची " को रोककर नीरु और प्रतिभा की शादी कर सके । यह बात सुषमा को कहीं गहरे चुभ जाती है, वह झल्ला ही उठती है और अपनी मां को आड़े हाथों लेती हुई कहती है कि " ज़रा अपने दिल के अंदर झांककर देखो कि तुमने मेरे लिए क्या किया है । मेरा आराम से रहना ही तुम्हें खटकता है । मैं कुंवारी रह गई तो कौन-सा आसमान फट पड़ा । हम दोनों की भी अगर शादी नहीं हो सकी तो क्या हो जाएगा ?[२] यह कहकर वह अपनी समस्त कड़ुवाहट उड़ेल देती है । शाम के समय प्रसन्न मूड में मां यह पूछकर कि नील, नीरु के लिए कैसा रहेगा- उसके हृदय को बेध देती है ।

१-'पचपन खंभे लाल दीवारें', पृ० ६८ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ६५ ।

इन्हीं विपरीत स्थितियों के बीच से उभरकर अजनबीपन का बोध पूरे वातावरण में छा जाता है और सब एक दूसरे के लिए अजनबी हो जाते हैं ।

प्रत्येक दिन की छोटी - छोटी समस्याओं के समाधान में उसकी ज़िंदगी चुकती जा रही है । मिसेज़ राय चौधरी मिसेज़ अग्रवाल, मिस शास्त्री और शीमा की हरकतें उसके मन में जीवन के प्रति कड़ुवाहट पैदा कर देती हैं । यही कड़ुवाहट अलगाव उत्पन्न करती है । मनुष्य जीवन में कितना विवश है । सार्त्र ने इस विवशता का यथार्थिक रूप में साक्षात्कार किया है ।[1] प्रस्तुत उपन्यास में मानव जीवन की प्रत्याशित भंगिमाओं और विवशताओं को उसकी समग्रता में समेटने की चेष्टा लेखिका ने बड़ी साफ़गोई से की है । पूरे उपन्यास में प्रवाहमयता के साथ स्पैदिशस अलगाव का भी पूरा अनुभव होता है ।

सुषमा के लिए जो मूल्य और स्वर्गिक था, दुनिया की आंखों में वह कितना सस्ता और उपहासास्पद बन गया था ।[2] उसकी अपनी लड़कियां-छात्राएं जिन्हें वह प्यार से समझाती है, उनकी सुख-सुविधाओं का ख्याल रखती है, आवश्यक न हो तो दंडित भी नहीं करती, वे ही छात्राएं उसके कमरे में झांकती हैं, उसके बारे में अश्लील किस्से कहती हैं और उसकी शिकायत प्रिंसिपल से करने की धमकी आपस में देती हैं । सुषमा के भीतर कुछ टूट जाता है । क्या टूटता है विश्वास ? प्रेम ? आस्था ? और वह पूरे परिवेश में अपने को अजनबी पाती है । खिलखिलाती लड़कियां, सब की निगरानी करनेवाली और रस ले लेकर सब के चरित्र की चर्चा करनेवाली मिस शास्त्री, वार्डेन बनने का ख्वाब देखनेवाली मिसेज़ राय चौधरी , मिसेज़ अग्रवाल , शीमा, घर पर उससे आशा लगायेबैठी मां, उसकी बहनों का उफनता यौवन सब उसे अजनबी बना देते हैं और उसको सब कुछ अर्थहीन लगने लगता है । कड़ुवाहट मिली ऊब उसके चारों ओर पसर जाती है । कालेज के पचपन

१-'एक्जिस्टैंशियलिज़्म एण्ड ह्यूमन इमोशंस' - सार्त्र, पृ० २७ ।

२-'पचपन खम्भे लाल दीवारें', पृ० १११ ।

खंभों की तरह मन को स्थिर, अचल मानने वाली आत्मपीड़क सुषमा के हृदय में कितना गहरा अवसाद छिपा है - यह उसकी आँखों की उदासी, सूनेपन और खोये-खोयेपन से पता चल जाता है । लेकिन वह एक कमज़ोर, समझौतापरस्त नारी निकलती है । नील के प्रस्ताव को न चाहते हुए भी ठुकराती है ।

नील की शादी की हलचल में सभी व्यस्त हैं पर वह कहीं इससे बहुत दूर अलग-अलग उदास पड़ी है । उसका मन बिलकुल रीता है, कोई हिलोर नहीं । विवाह की सारी खुशियाँ उसे अछूता छोड़ जाती हैं ।[1] माँ का कृत्रिम प्यार-दुलार उसे और भी बेगाना बना देता है । मीनाक्षी के कमरे में लेटी सुषमा मन ही मन नील का इंतज़ार कर रही है । पर उसने ही तो नील को अपने जीवन से उखाड़ फेंका है । भीतर ही भीतर वह घुट रही है किन्तु मीनाक्षी को नील के लिए कालेज आने को मना कर देती है । वह सोचती है कि नील के बगैर मैं कुछ भी नहीं हूँ । केवल एक काया, एक खोये हुए स्वर की प्रतिध्वनि, और अब ऐसी ही रहूँगी, मन की वीरानियों में भटकती हुई ।[2] वह अपने को `चुनी हुई पंखुड़ियों के ढेर पर` बैठा पाती है ।[3] और वह नील को दुबारा वापस लौटा देती है । इस उपन्यास में उसका बिम्ब एक कमज़ोर, विवश स्त्री का उभरता है जो मन में उसके प्रति करुणा की भावना जगा देती है । उसके जीवन में न जाने कहाँ कुछ ऐसी बात बिगड़ गई थी, जो अब लाख बनाने पर भी न बनेगी । इतने लोगों से घिरी रहने पर भी वह अकेली रहेगी ।[4] जीवन उसे नीरस, अर्थहीन प्रतीत होने लगता है तथा अजनबीपन का बोध उसकी चेतना को जकड़ लेता है । यही अजनबीपन उस समय और गहराने लगता है जब वह टैक्सी मंगवाकर नील को विदा करने एयरोड्रम नहीं जाती और टैक्सी लौटा देती है ।

इस उपन्यास में कुछ कृत्रिमता भी झलकती है जो इसकी रचनात्मक अन्विति को खंडित करती है। ऐसा लगता है जैसे लेखिका `सैडिस्ट` प्रवृत्तियों के चित्रण के लिए प्रतिबद्ध है। यही कारण है कि उत्तरार्द्ध तक आते-आते उपन्यास बिखराव का शिकार होकर लड़खड़ा जाता है ।

१-'पचपन खंभे लाल दीवारें', पृ० १२७ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० १३३ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १३५ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १३६ ।

१०- ' अँधेरे बंद कमरे '

मोहन राकेश का ' अँधेरे बंद कमरे ' (१९६१) प्रेमचंद-परम्परा का एक श्रेष्ठ, आधुनिक उपन्यास है जिसमें मानवीय जीवन की विसंगतियाँ व विवशताओं का कलात्मक अंकन किया गया है । इस उपन्यास में ' आधुनिक संवेदना दाम्पत्य जीवन की अभिशप्त और तनावपूर्ण स्थितियों को उठाने में है ।[१] डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने इस कृति में आधुनिकता बोध को आंका है । उनका कहना है कि उपन्यास में महानगरी है और महानगरी में मानवीय संबंधों के टूटने की स्थिति और अकेलेपन का बोध है ।[२] एक आलोचक ने इस उपन्यास का वैशिष्ट्य मनुष्य के अजनबीपन को विशेष रूप से विवाहित जीवन की परिधि में प्रस्तुत करना माना है ।[३] नेमिचंद्र जैन[४] और डॉ० रामदरश मिश्र[५] को यह उपन्यास निराश अधिक करता है । फिर भी नेमिचंद्र जैन यह स्वीकार करते हैं कि ' मोहन राकेश ने एक ऐसी स्थिति को उठाया है जिसमें तीव्र-से-तीव्र और गहन से गहन वैयक्तिक तथा सामूहिक, कलात्मक और सामाजिक अंतर्द्वन्द्व की, विस्फोटक भावसंघात की संभावनाएं हैं और इन संभावनाओं की ओर उन्मुखता ही इस उपन्यास का सब से बड़ा आकर्षण है ।[६]

इस उपन्यास में महानगरीय जीवन को उसकी बारीकियों के साथ यथार्थ रूप में उतारा गया है । रचना में एक प्रवाह है तथा शिल्प निखरा हुआ है । ठकुराइन, मधुसूदन, हरबंस, सुरजीत, नीलिमा, शुक्ला, सुषमा आदि

१-' आधुनिक हिन्दी उपन्यास' (सं० नरेन्द्र मोहन) पृ० ६ ।

२- 'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि'- डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ६८-६९ ।

३-' आधुनिक हिन्दी उपन्यास', पृ० २८ ।

४-' अधूरे साक्षात्कार ', पृ० १३०-१३१ ।

५-' आधुनिक हिन्दी उपन्यास ', पृ० ६९-७० ।

६-' अधूरे साक्षात्कार' , पृ० १३० ।

जीते जागते चरित्र हैं। इन सब की आपसी नोंक-झोंक व टकराहट से पूरे उपन्यास को गति मिलती है। आधुनिक जीवन का अकेलापन व अजनबीपन का बोध मधुसूदन के चरित्र में झलकता है। पर जैसा कि आलोचकों[१] ने स्वीकार किया है कि वह एक कमजोर व्यक्तित्ववाला निरर्थक पात्र है तथा जिसमें आकर आधुनिकता की गति अवरुद्ध हो जाती है। अत: अजनबीपन की भावना अपने विविध आयामों के साथ उसके चरित्र में मूर्त नहीं होती। वैसे अजनबीपन की भावना से संबंधित छिटपुट प्रसंग उसके जीवन में दिखलाये जा सकते हैं।[२]

अजनबीपन की भावना अपने विशद रूप में सम्पूर्णता के साथ हरबंस कुल्लर और नीलिमा के दाम्पत्य जीवन में अवतरित हुई है। लेखक ने इसे यथार्थ रूप में उभारने के लिए मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का रचनात्मक स्तर पर प्रयोग किया है। नाटकीय तत्वों के समायोजन से ये चरित्र बड़े सशक्त व जीवन्त हो उठे हैं।

हरबंस- नीलिमा पति-पत्नी हैं। दोनों की अपने बारे में तथा एक दूसरे के लिए कुछ आकांक्षाएं हैं। दोनों की परस्पर चाहों से उनके व्यक्तित्व और अहं की टकराहट शुरू हो जाती है। इस टकराहट और उससे उत्पन्न अंतहीन छटपटाहट, खीझ, निराशा, कुंठा - नेमिचंद्र जैन को " आरोपित, असंतुलित और रुग्ण या बचकानी और सतही " लगती है।[३] वस्तुत: यह आलोचक की आरोपित दृष्टि का निष्कर्ष है। स्वयं श्रीकान्त वर्मा जैसे आलोचक ने स्वीकार किया है कि " जहां तक इसकी घुटन, ऊब और एकरसता का संबंध है शायद यह पहला उपन्यास है जिसने इतनी तीव्रता के साथ इसे प्रतिष्ठित किया है।[४] नीलिमा और हरबंस आधुनिक हैं। वैयक्तिक चेतना दोनों की अत्यंत प्रखर है। हरबंस के भीतर का पुरुष आधुनिकता की नकाब के नीचे उसी परम्परित सामंती मानसिकता वाला है जो बात तो आधुनिकता और नर-नारी समता की करता है

१- (i) 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास', श्रीकान्त वर्मा, पृ० २११।
   (ii) 'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि', पृ० ७०।

२- 'अंधेरे बंद कमरे' - मोहन राकेश, तृतीय सं० १९७२, पृ० ११, ६१, ३६२ इत्यादि।

३- 'अधूरे साक्षात्कार' - नेमिचंद्र जैन, पृ० १३०।

४- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास', पृ० २०५।

लेकिन जिसके संस्कार सामंती और मनोवृत्तियाँ आदिम हैं। इसी से वह औरत को गुलाम बनाकर रखना चाहता है, अपने संकेत पर कठपुतलियों की तरह उसे नचाना चाहता है। पर नीलिमा का आधुनिक मानस, उसकी प्रबल वैयक्तिक चेतना अपनी नियति स्वयं निर्मित करना चाहती है। और उसके इस चाहने में हरबंस के अहं को खरोंच लगती है तथा वह फींकने, चीखने और चिल्लाने के साथ अपनी सारी असफलताओं का दोष नीलिमा के ऊपर मढ़कर बरी हो जाता है। इसी से डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने हरबंस को शेखर का 'जेबी संस्करण' बताते हुए कहा है :' यह पुरुष और नारी में एक-दूसरे पर अधिकार पाने की दौड़ है।'[१]

नीलिमा की कामना भरतनाट्यम सीखने की है पर हरबंस उसकी कत्थक की प्रैक्टिस को भी छुड़ा देता है। उसकी नृत्य की आकांक्षा को कुचलकर वह उसे चित्रकला में प्रवीण देखना चाहता है। और वह उसके हठ को पूरा करने के लिए पेंट करना शुरू करती है यद्यपि पेंट करने में उसकी कोई रुचि नहीं है। उसे तो रंग तैयार करने में भी बहुत कोफ्त होती है। जो वह चाहती है उसे हरबंस करने नहीं देता। इस विवशता की मार्मिक अभिव्यक्ति विद्रोहात्मक रूप में उसके इस कथन में होती है :' हमलोग कितना ही नये रंग से रंग जायें, हमारे संस्कार तो आज तक वही हैं।[२] तीन साल के वैवाहिक जीवन के बाद भी वह हरबंस को आज तक नहीं समझ सकी है और हरबंस का आरोप है कि तुम कभी भी मुझे समझ नहीं सकोगी।[३] आधुनिक जीवन की विसंगतियों और विवशताओं का मोहन राकेश ने अपनी कृतियों में सर्जनात्मक स्तर पर साक्षात्कार किया है। इनके सारे नाटकों - उपन्यासों और कुछ कहानियों में इस विवशता से जूझते हुए आधुनिक मनुष्य की नियति का मार्मिकता से अंकन हुआ है। उपर्युक्त संदर्भों में डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह कथन कितना प्रासंगिक है:

१-' हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ७१।

२-'अँधेरे बंद कमरे' - मोहन राकेश, पृ० ६३।

३- पूर्वोक्त, पृ० ७०।

उनके पास एक दूसरे को नोंच मारने या काटने के सिवाय और चारा ही क्या है । इस तरह शायद पहली बार हिन्दी उपन्यास में विवाहित जीवन की अर्थ-हीनता का सजीव और सशक्त चित्रण हुआ है ।[१]

इस विवशता और अर्थहीनता के बीच से अजनबीपन का बोध कौंधने लगता है । हरबंस को लगता है कि उसका कोई घर-बार नहीं है, कोई सगा-संबंधी नहीं है और वह बिलकुल अकेला है ।[२] उसके साथ अंदर ही अंदर कोई दुर्घटना हो रही है ।[२] वह अब बिलकुल अकेला रहना चाहता है और अपनी ज़िंदगी बिलकुल नये सिरे से आरंभ करना चाहता है ।[३] किन्तु एमिल जोला के उपन्यास 'जेस्ट फार द लाइफ' के नायक लज़ारे की भांति यह शुरुआत कभी नहीं हो पाती । और जैसे अस्थिर मन:स्थिति का लज़ारे जीवन में हमेशा असफल रहता है वैसे ही हरबंस भी असफलता का मुंह देखने के लिए विवश है । हरबंस कई वर्षों से एक उपन्यास लिख रहा है जिसका नायक रमेश खन्ना कई साल तक एक लड़की के प्रेम में तड़पता रहा है । पर जब उस लड़की से विवाह हो गया तो वह यह सोच-सोचकर तड़पने लगा कि उससे किस तरह छुटकारा पाया जाये । हरबंस स्वीकार करता है "मैं वह उपन्यास दरअसल अपने बारे में ही लिखना चाहता था"[४]। वह अनुभव करता है कि जिस घर में वह रहता है, वह उसका घर नहीं है । वह जिसको अपनी पत्नी समझता है, वह उसकी पत्नी नहीं है ।[५] हालात पर झींकने वाले हरबंस और तुनुकमिज़ाज नीलिमा जिस विवशता व विफलता को झेल रहे हैं उसको श्रीकान्त वर्मा ने एक रूपक द्वारा यों प्रकट किया है :" आधुनिकता की फैली हुई पृष्ठभूमि पर प्रेम एक दु:खांत नाटक है जिसका हर अभिनेता कर्तव्य की भावना से संग-संग अभिनय करने तथा विविध मुद्राओं में जीवित रहने के लिए बाध्य है । हर अभिनेता का अपना मन है, अकेलापन है, जो उसका नेपथ्य है ।

१- 'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि', पृ० ७२ ।

२- 'अंधेरे बंद कमरे', पृ० ८१।

३- पूर्वोक्त, पृ० ८२ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ८३ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ८६ ।

हरबंस और नीलिमा इसी नैपथ्य में छटपटाती, झुंझलाती, खीझती आकृतियां हैं जो एक दूसरे के लिए अर्थहीन हैं ।[1]

हरबंस के जीवन की विडम्बना आधुनिक जीवन की विडम्बना है । वह नीलिमा के साथ भी नहीं रह पाता और दूर भी नहीं रह पाता । लंदन जाते ही वह नीलिमा के लिये बेचैन हो उठता है और बड़े भावुक स्वर में मार्मिक पत्र काव्यात्मकता के साथ बुलाने के लिए लिखने लगता है ।[2] धुएं और कोहरे से लदे नये शहर में आकर उसे पूर्वकल्पित प्रसन्नता का किसी प्रकार से अनुभव नहीं होता । अपने जीवन के बारे में वह पाता है कि एक तरफ सहजीवन की यंत्रणा और प्रताड़ना है तो दूसरी तरफ़ भीड़ से लदी हुई दुनिया के बीच अकेलापन और निगलता हुआ सूनापन है ।[3] हर शाम उसके मन पर उदासी छा जाती है और कोई नई शुरुआत नहीं हो पाती । वह नहीं जानता कि उसके ऊपर हर समय एक जड़ता-सी क्यों छायी रहती है । वह पूरे मन और शक्ति से किसी किसी काम में अपने को नहीं लगा पाता । वह अपनी इस अभिशप्त नियति की विवशता को कितनी मार्मिकता के साथ उकेरता है : " अतीत, वर्तमान और भविष्य, और इन सब के ऊपर अपना अकेलापन, मेरे ऊपर बाघ की तरह झपटते रहते हैं । तुम्हारे साथ और तुम्हारे बिना, दोनों ही तरह ज़िंदगी मुझे असंभव प्रतीत होती है ।[4] इस प्रकार के सोच से अजनबीपन का बोध बड़ी तीव्रता के साथ फैलकर उसके मानस में छा जाता है ।

इस उपन्यास की सब से बड़ी विशेषता है - इसकी जीवंतता । इसके पात्रों में जीवन का स्पन्दन पूरी गतिशीलता के साथ कलात्मक संदर्भों में उतरा है । हरबंस का उसकी आत्मा के साथ संबंध इतना बिगड़ा हुआ है कि वह भविष्य की बात नहीं सोच पाता । सार्त्र ने अपने " अस्तित्ववाद " वाले सुप्रसिद्ध व्याख्यान में कहा है कि बहुधा अपनी बदकिस्मती या निकम्मेपन को छिपाने के लिए लोगों के पास एकमात्र मार्ग यह सोचना रहता है कि

१- " आधुनिक हिन्दी उपन्यास ", पृ० २०७ ।

२- " अंधेरे बंद कमरे ", पृ० ११६।

३- पूर्वोक्त, पृ० १२० ।

४- पूर्वोक्त, पृ० १२२ ।

परिस्थितियाँ हमारे प्रतिकूल रही हैं । जो मैं रह चुका हूँ और कर चुका हूँ- मेरे इसी मूल्य को प्रकट नहीं करते । इसलिए मेरे भीतर की तमाम अभिरुचियाँ प्रवृत्तियाँ और संभावनाएँ जो पर्याप्त और सकाम रूप में मौजूद हैं, प्रकाश में नहीं आ पाईं ।[१] ठीक इसी तरह की बात हरबंस करता है । वह साहित्यकार नहीं बन सका तो नीलिमा के कारण । और गहराई में जाकर वह सोचता और कहता है :" शायद मेरा जन्म ही किसी ऐसे नक्षत्र में हुआ है जिसने मेरे चारों ओर विरोध और कठिनाइयों का वातावरण पैदा कर रखा है । ऐसी स्थिति में आदमी केवल डे-ड्रीमिंग कर सकता है और वही मैं करता हूँ । फिर भी मैं समझता हूँ कि हमारे पास एक-दूसरे के साथ चिपके रहने के सिवा कोई चारा नहीं है ।[२] यह विवशता की नियति आधुनिकता की प्रकृति के अनुकूल है जो कि इस उपन्यास के केन्द्र में प्रतिष्ठित है ।

लंदन में हरबंस अपने को बहुत अकेला महसूस करता है । वह जानता है कि यह अकेलापन पाँच हजार मील की दूरी के कारण या शारीरिक प्राप्ति के अभाव से नहीं है । अपितु यह अकेलापन वर्षों से उसे अंदर ही अंदर कीड़े की तरह खा रहा है ।[३] उसके अंदर कहीं एक खालीपन है जो धीरे-धीरे इतना बढ़ता जा रहा है कि उसके व्यक्तित्व के सब कोमल रेशे झड़ते जा रहे हैं ।[४] आदर्शों के खंडहरों से नई इमारत खड़ी करने के लिए असीम साहस चाहिए किन्तु हरबंस बहुत थक चुका है, ऊब गया है । उसके अंदर ही अंदर घुन लग चुका है जो उसकी सारी जीवंतता और कार्य क्षमता को चाटता जा रहा है । वह वर्षों से अपने अंदर तिल-तिलकर घुल रहा है, आत्महत्या में ही उसे छुटकारे का एक मात्र उपाय दिखलाई पड़ता है । उसके इस कथन से उसके दिमाग़ में गहराती हुई अजनबीपन की भावना साकार हो उठती है :-

मुझे लगता है जैसे मैं दुनिया से बिलकुल कट गया हूँ और

१-'एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमन इमोशंस'- सार्त्र, पृ० ३६ ।

२-" अंधेरे बंद कमरे ", पृ० १२४ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० १२८ ।

अपने में बिलकुल अकेला हूं। हर नया आदमी मुझे बिलकुल अपरिचित दुनिया का आदमी लगता है और मैं उससे अपने 'अंदर' की कोई चीज़ नहीं बांट सकता।[१]

उसे लगता है कि वह हमेशा के लिए जिंदगी के अंधेरे में गुम हो गया है। उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ इस दलदल में खो गया है। और वह इसमें से बाहर निकलने के लिए जितनी कोशिश करता है उतना ही गहरे और धंसता जाता है।[२] नीलिमा की इस स्वीकारोक्ति से दोनों के बीच पसरे हुए अजनबीपन पर पर्याप्त रोशनी पड़ती है : "तुम जानते हो कि हम दोनों के बीच कहीं कोई चीज़ है जो हम दोनों को खटकती रहती है। हम दोनों चेष्टा करके भी उसे अपने बीच से निकाल नहीं पाते।[३] मोहन राकेश ने मानवीय मनोविज्ञान की पीठिका पर अपने पात्रों के स्वरूप को निर्मित किया है। बर्मी कलाकार उना से संबंध जोड़ते-जोड़ते वह रह जाती है क्योंकि वह स्वयं भी हरबंस के बिना नहीं रह सकती। इसके बाद पांच दिन, पांच रातें हरबंस नीलिमा की परीक्षा करता रह जाता है कि उस व्यक्ति को उसने कहां तक और कितना बढ़ावा दिया था, इत्यादि।[४] बर्मी कलाकार उना के साथ पेरिस घूमते हुए भी नीलिमा को पर्यटन का वास्तविक सुख नहीं मिल पाता क्योंकि कोई चीज़ उसके अंदर दुखती रही है, कोई नोक उसके मन को छीलती रही है। उसे थोड़े समय के पेरिस के प्रवास से ही आभास हो जाता है कि वह उससे अलग रहकर भी उससे मुक्त नहीं हो सकती।[५] आधुनिक मानवीय जीवन की यह विवशता सब से बड़ा अभिशाप है। यही विवशता मनुष्य को एक दूसरे से, यहां तक कि इस संसार से भी अजनबी बना देती है। हरबंस और नीलिमा का दाम्पत्य जीवन इसका प्रमाण है। धीरे-धीरे उनके दाम्पत्य जीवन में रिसती हुई विवशता आपसी संबंधों में कड़वाहट घोलती हुई तनावों की पीठिका पर संबंधों के अजनबीपन को विकसित करती है।

१- "अंधेरे बंद कमरे", पृ० १७४।

२- पूर्वोक्त, पृ० १७५-१७६।

३- पूर्वोक्त, पृ० २०२०।

४- पूर्वोक्त, पृ० २०६।

५- पूर्वोक्त, पृ० २१०।

नीलिमा हरबंस के स्वभाव से दुखी रहती थी और हरबंस उसके स्वभाव से। फिर भी साथ-साथ रहने की एक मजबूरी थी जिससे वे निकल नहीं पाते थे।[1] इस मजबूरी में हरबंस को लगता है, "जैसे हम पति-पत्नी न होकर एक दूसरे के दुश्मन हों और साथ रहकर एक-दूसरे से किसी बात का बदला ले रहे हों।[2] नीलिमा की पीड़ा है कि कोई भी उसे आज तक नहीं जान सका और "जो भी जानता है, ऊपर-ऊपर से जानता है। मैं अंदर से क्या हूँ, यह कोई भी नहीं समझ सकता।[3] हरबंस महसूस करता है कि वह और नीलिमा पति-पत्नी हैं परन्तु "पति-पत्नी में जो चीज़ होती है, जो चीज़ होनी चाहिए, वह हममें कब की समाप्त हो चुकी है।[4] इस अनुभूति की अन्तिम परिणति अजनबीपन के बोध में होती है। हरबंस कहता है : "हम आज तक भी एक दूसरे के लिए अजनबी थे, मगर इस बात को मानना नहीं चाहते थे। अब आगे के लिए इतना ही फ़र्क होगा कि हम इस बात को मानकर रहेंगे।[5] इस तरह उपन्यास का मूल स्वर अजनबीपन का है जिसे बहुत सजगता के साथ लेखक ने महानगरीय परिवेश के मानवीय संबंधों में से उभारा है।

११- "अपने-अपने अजनबी"

मृत्यु-साक्षात्कार को विषय बनाकर अस्तित्ववादी दृष्टि से लिखे गये "अज्ञेय" के प्रस्तुत उपन्यास "अपने-अपने अजनबी" (१९६१) की रचनात्मक प्रकल्पना अस्तित्ववादी साहित्य की परंपरा का अनुगमन करती है। डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार इस उपन्यास में "अस्तित्ववादी दर्शन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में उभारा गया है।[6] डॉ० चंद्रकान्त बांदिवडेकर के अनुसार इस उपन्यास में अस्तित्ववादी मनोविज्ञान का प्रयोग कलात्मकता एवं कथ्य का तकाजा है क्योंकि इसमें अस्तित्ववादी

१- "अँधेरे बंद कमरे", पृ० २३५।
२- पूर्वोक्त, पृ० २५३।
३- पूर्वोक्त, पृ० ४१८।
४- पूर्वोक्त, पृ० ४२२।
५- पूर्वोक्त, पृ० ४३१।
६- "हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा" - डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० १०४(सन् १९६८)

चिंतकों द्वारा प्रस्तुत मानव-जीवन से संबंधित कतिपय महत्त्वपूर्ण सूत्र उपन्यास के अनुभव संसार का आधार बन गये हैं।[1] इस उपन्यास में दो नारियां, जो शील, स्वभाव और विचारों में सर्वथा भिन्न हैं, आकस्मिक रूप से हुए हिमपात से बर्फ से दबे काठ के मकान में तीन-चार महीनों के लिए कैद हो जाती हैं। परिस्थितियों के दबाव से मृत्यु की छाया में दोनों साथ रहने के लिए विवश हैं। जीवन को पकड़ने की चरम आतुरता युवती योके में परिलक्षित होती है वहीं वृद्धा सेल्मा उस भय से मुक्त है, क्योंकि वह मृत्यु साक्षात्कार के एक अनुभव से गुजरकर दृष्टि पा चुकी है।

मौत का सन्नाटा बर्फ के साथ युवती योके और वृद्धा सेल्मा के चारों ओर मंडरा रहा है। दोनों के बीच फैला हुआ अकेलापन और वैचारिक स्तर अजनबीपन की सृष्टि करता है। सेल्मा कहती है मैं तो अजनबी वाली बात कह गई - अभी तो हम-तुम भी अजनबी से हैं, पहले हम लोग तो पूरी पहचान कर लें।[2] संबंधों का अजनबीपन योके और सेल्मा के बीच एक अलगाव के रूप छितराया हुआ है। आंटी सेल्मा उसके लिए अजनबी है, उसमें कुछ ऐसा है जिसको उसने जाना नहीं है। कभी उसके भीतर अपरिचय का भाव इतना घना हो जाता है कि एकाएक उसे अपने आपसे डर लगने लगता है। उसके मन में रह-रहकर मृत्युबोध गहराने लगता है। जबकि सेल्मा कैंसरग्रस्त होने के बावजूद मृत्युबोध को परे ढकेलने के लिए बड़े उत्साह से क्रिसमस मनाती है। क्रिसमस की खुशी की नाजुकता का बोध दोनों को है। दोनों में से कोई भी इस खुशी के हल्के क्षण को दाल-विदाल नहीं करना चाहता। लेकिन फिर भी दोनों के बीच एक बोझिल मौन पसरने लगता है। सेल्मा कहती है, कुछ भी किसी के बस का नहीं है, योके। एक ही बात हमारे बस की है - इस बात को पहचान लेना।[3]

देव शिशु के आसन्न अवतरण की जगह मौत का सन्नाटा उनके बीच फैल रहा है। वृद्धा सेल्मा के विरुद्ध योके के मन में, उसकी प्रसन्नता,

---

१- 'उपन्यास : स्थिति और गति' - डॉ० चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७७, पृ० २६६।

२- 'अपने अपने अजनबी' - 'अज्ञेय', १९६१, पृ० १६।

३- पूर्वोक्त, पृ० २६।

उल्लास व सक्रियता से, घृणा का भाव और प्रबल होता जाता है । वह अपने को जितना रोकती है उतने ही हिंस्र रूप में यह घृणा प्रकट होती है । परिस्थितियों के दबाव से उत्पन्न विवशता उसे अपने प्रति भी असहनशील बनाती है । सेल्मा का उल्लास उसे भीतर तक बींध देता है और वह उसके लिए और अजनबी हो जाती है । डॉ० गोपाल राय के शब्दों में, " वे साथ रहकर , खा-पीकर, बातें करके भी एक दूसरे के लिए अजनबी बनी रहती है । जीवन और मृत्यु के प्रति दोनों के दृष्टिकोण" में इतना अंतर है कि उनके बीच कोई रागात्मक संबंध नहीं बन पाता ।[1] सेल्मा योके से कहती है :

" और स्वतंत्रता- कौन स्वतंत्र है ? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा या नहीं रहेगा ? मैं क्या स्वतंत्र हूँ कि बीमार न रहूँ या कि अब बीमार हूँ तो क्या इतना भी स्वतंत्र हूँ कि मर जाऊँ ? मैंने चाहा था कि अंतिम दिनों में कोई भी मेरे पास न हो । लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी ? तुम क्या समझती हो कि इससे मुझे तकलीफ नहीं होती कि जो मैं अपनों को भी नहीं दिखाना चाहती थी उसे देखने के लिए - भगवान ने - एक अजनबी भेज दिया ?[2]

अस्तित्ववादी शैली में इस विवशता के साक्षात्कार के साथ संबंधों के तनावों के बीच अजनबीपन की भूमिका गहराने लगती है । क्षण भर के लिए यदि दोनों के बीच नैकट्य किसी कारणवश उत्पन्न होता है तो वह भी तुरत लुप्त हो जाता है । एक दिन आविष्ट होकर स्वचालित गति से योके के हाथ बुढ़िया की गर्दन के आगे अर्धमंडलाकार घेर लेते हैं । पर जब बुढ़िया जग जाने के कारण कहती है" लेकिन तुम क्यों रुक गई ?" तो वह सहसा चीख पड़ती है । बुढ़िया उसके लिये अपने को दोषी ठहराती है -" लेकिन मैंने ही तुम्हें ऐसे संकट में डाला कि तुम्हें अपने भीतर ही दो हो जाना पड़े ।"[3] इसी क्रम में वह अस्तित्ववादी भाषा में कहती है :" तुम जो अपने को स्वतंत्र मानती हो, वही सब कठिनाइयों की जड़ है । न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतंत्र हैं । बल्कि अकेले नहीं है और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतंत्र नहीं है और इसीलिए चुनने या फैसला

१-" अज्ञेय और उनके उपन्यास" - डॉ० गोपाल राय, पृ० ११३, प्र १९७५ ।

२-" अपने- अपने अजनबी" - अज्ञेय, पृ० ४७ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ५९-६० ।

करने का अधिकार अपना नहीं है। मैंने तुम्हें बताया है कि मैं चाहती थी कि मैं अकेली मरूँ। लेकिन क्या वह निश्चय करना मेरे बस का था ?"[१]

"योके और सेल्मा" बिना कफ़न की कब्र में क़ैद हैं। अकेलापन एकरसता और अजनबीपन के बोध को तोड़ने के लिए सेल्मा अपना अतीत उधेड़ती है। अभूतपूर्व बाढ़, भूकम्प और प्रलयंकर विनाश के बीच में बेतुका सा खड़ा रह गया था तीन खंभों पर टंगा हुआ पुल के बीच का हिस्सा और उसके ऊपर थी तीन-चार दूकानें और उनमें बचे हुए तीन-चार लोग। प्रलय की विभीषिका से थरथर काँपते तीनों प्राणी निस्संग भाव से सब कुछ देख रहे थे। परिस्थितियों के दबाव से तीनों प्राणी एक दूसरे के लिए अजनबी हो जाते हैं, उनके बीच केवल अमानवीय वस्तुपरक संबंध रह जाते हैं। यान, फ़ोटोग्राफर और सेल्मा के बीच अलगाव की दीवार खड़ी हो जाती है और अपरिचय बना ही जाता है। सेल्मा की क्रूरता से बीमार फ़ोटोग्राफर के मानस में गहराता अजनबीपन का बोध उसे पागल बना देता है और वह अपनी दुकान में आग लगाकर आत्महत्या कर बैठता है। सेल्मा और यान अपने बीच पनपे अलगाव को पाटने की असफल कोशिश करते हैं। यान की उदारता से प्रभावित सेल्मा जब अचानक विवाह का प्रस्ताव करती है तो यान बिफर पड़ता है। सेल्मा के मन में परायेपन की अनुभूति तीखे रूप में कौंध जाती है और वह सोचती है कि टूटे अर्थहीन पुल की नियति उसकी भी है। बाद में उसके पूर्ण आत्मसमर्पण पर यान उसे स्वीकार कर लेता है।

वही सेल्मा जब मृत्यु का ग्रास बन जाती है और योके को सर्वत्र फैली हुई मृत्युगंध, सड़ने और घिनौनेपन की प्रतीति विकल कर देती है। योके इस मृत्युगंध से विक्षिप्त-सी हो जाती है। ईश्वर के प्रति उसका आक्रोश प्रबल हो जाता है और वह उसको गालियाँ देने लगती है। अपने साथी पाल सोरेन की सहायता से वह बर्फ से बाहर निकलती है। लेकिन वह बाहर आकर और भी अजनबी हो जाती है। उसका साथी पाल उसे धोखा देता है और जर्मन सैनिक उसे

१-"अपने-अपने अजनबी" -"अज्ञेय", पृ० ६० ।

वेश्या का जीवन बिताने को मजबूर कर देते हैं । युद्ध की काली छाया के बीच वह आत्महत्या का वरण जगन्नाथन् के सामने कर लेती है । योके का कारुणिक अंत युद्ध की विभीषिका को उभारते हुए अजनबीपन के बोध को गहराने लगता है । अज्ञेय ने बड़ी कलात्मकता के साथ विशिष्ट स्थितियों का चयन करके ' बिना कफ़न की कब्रगाह ' के अजनबीपन, मानवीय संबंधों की क्रूरता से पनपे अजनबीपन, और भीड़ के भीतर के अजनबीपन को सर्जनात्मक स्तर पर उभारा है :

' अजनबी चेहरे, अजनबी आवाज़े, अजनबी मुद्राएं और वह अजनबीपन केवल दूसरे को दूर रखकर उससे बचने का ही नहीं है, बल्कि एक दूसरे से संपर्क स्थापित करने की असमर्थता का भी है - जातियों और संस्कारों का अजनबीपन और उन के मूल्यों का अजनबीपन ।[१]'

उपन्यास का यह अजनबीपन पाठकों को भी दंशित कर देता है । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में ' रचनाकार की सारी कुशलता के बावजूद समूची कृति के वातावरण में हम कुछ अजनबी से हो जाते हैं, मूल रचना-दृष्टि के साथ दूर तक तादात्म्य का अनुभव नहीं कर पाते ।[२] यह उपन्यास की रचनाशीलता को खंडित करता है और यही इस उपन्यास की सीमा है ।

१२- ' यह पथ बंधु था '

प्रेमचंद संस्थान की वर्णनात्मक शैली और शरत्चंद्र की रूमानियत का प्रभाव लिये नरेश मेहता के उपन्यास ' यह पथ बंधु था ' (१९६२) में आधुनिकता बोध को देखा जा सकता है । डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने अकेलेपन और अपने ही घर में परायेपन के बोध को इस उपन्यास का मूल स्वर माना है ।[२] इस पर और ज़ोर देते हुए कहते हैं कि यदि इस उपन्यास के नायक श्रीधर के जीवन में संबंधहीन संबंध है और वह स्वयं को अकेला और पराया महसूस करता है तो यह सब कुछ उसके व्यक्तित्व का

१- ' अपने अपने अजनबी - ' अज्ञेय ', पृ० ११८ ।

२- ' क, ख, ग ' अंक १, १९६३ - डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख, पृ० २६।

३- ' हिन्दी -उपन्यास : एक नई दृष्टि ' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ७३।

अभिन्न अंग है ।[1] एक विद्वान ने इस चर्चा को और आगे बढ़ाते हुए इस उपन्यास के अन्य नारी पात्रों इन्दु दीदी और मालिनी के चरित्र में भी अजनबीपन के बोध को रेखांकित किया है । उनके अनुसार "आज के जीवन की भाग दौड़ में उभरनेवाली अपरिचय, अपूर्णित और परायेपन की भावना को यदि इस उपन्यास के प्रमुख स्वरों में से एक स्वर मान लिया जाये " तो" जीवन का सब कुछ होते हुए भी इंदु जिस आत्म अपरिचय और परायेपन का अनुभव करती है वह चेतना के स्तर पर मालिनी के सब कुछ खोकर पाये जाने वाले अपरिचय और परायेपन से भिन्न नहीं है ।[2]

स्वयं नरेश मेहता के शब्दों में यह एक निपट साधारण जन की दुखगाथा है ।[3] इस उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक दायरे में होनेवाले मूल्यगत विघटन और व्यापक मोहभंग का सशक्त अंकन सर्जनात्मक स्तर पर किया गया है । नेमिचंद्र जैन के अनुसार इसमें एक युग के सामाजिक - राजनीतिक जीवन-मूल्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक जीवन का संवेदनशील और आत्मीयतापूर्ण चित्र है जो भावसंकुल, तीखा और संयत है।[4]

श्रीधर और सरस्वती पति-पत्नी है । श्रीधर मालवा के एक स्कूल में अध्यापक है । श्रीधर के चरित्र में व्यावहारिकता का संस्पर्श नहीं है तथा वह हमेशा अपने आदर्शों व मूल्यों की दुनिया में खोया रहता है । वह एक इतिहास-पुस्तक लिखता है जिसमें उसके विभागीय अधिकारी संशोधन कराना चाहते हैं । पर वह इसके लिए किसी कीमत पर तैयार नहीं होता ।[5] फलस्वरूप उससे त्यागपत्र की माँग की जाती है और वह त्यागपत्र देकर सत्य को हर कीमत पर कहने और अराजक व्यवस्था का सामना करने के लिए उद्यत हो जाता है । परिवार की आर्थिक विपन्नता उसे आजीविका के लिए कुछ सोचने को बाध्य करती है और वह एक दिन इसकी तलाश में बिना किसी को बताये चुपचाप घर छोड़ देता है । पच्चीस वर्षों की निरुद्देश्य

१- ' हिन्दी-उपन्यास : एक नई दृष्टि' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ७५ ।
२- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास'(सं० नरेन्द्र मोहन), डॉ० विनय का लेख, पृ० २१६।
३- 'यह पथ बंधु था' - नरेश मेहता, हिंदी ग्रंथरत्नाकर ,बम्बई,१९६२।भूमिका .
४- ' अधूरे साक्षात्कार' - नेमिचंद्र जैन, पृ० ४३ ।
५- ' यह पथ बंधु था' - नरेश मेहता , पृ० ३३ ।

अभिन्न अंग है ।[1] एक विद्वान ने इस चर्चा को और आगे बढ़ाते हुए इस उपन्यास के अन्य नारी पात्रों इन्दु दीदी और मालिनी के चरित्र में भी अजनबीपन के बोध को रेखांकित किया है । उनके अनुसार 'आज के जीवन की भाग दौड़ में उभरनेवाली अपरिचय, असंपृक्ति और परायेपन की भावना को यदि इस उपन्यास के प्रमुख स्वरों में से एक स्वर मान लिया जाये ' तो ' जीवन का सब कुछ होते हुए भी इंदु जिस आत्म अपरिचय और परायेपन का अनुभव करती है वह चेतना के स्तर पर मालिनी के सब कुछ खोकर पाये जाने वाले अपरिचय और परायेपन से भिन्न नहीं है ।[2]

स्वयं नरेश मेहता के शब्दों में यह एक निपट साधारण जन की दुखगाथा है ।[3] इस उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक दायरे में होनेवाले मूल्यगत विघटन और व्यापक मोहभंग का सशक्त अंकन सर्जनात्मक स्तर पर किया गया है । नेमिचंद्र जैन के अनुसार इसमें एक युग के सामाजिक - राजनीतिक जीवन-मूल्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक जीवन का संवेदनशील और आत्मीयतापूर्ण चित्र है जो भावसंकुल, तीखा और संयत है।[4]

श्रीधर और सरस्वती पति-पत्नी है । श्रीधर मालवा के एक स्कूल में अध्यापक है । श्रीधर के चरित्र में व्यावहारिकता का संस्पर्श नहीं है तथा वह हमेशा अपने आदर्शों व मूल्यों की दुनिया में खोया रहता है । वह एक इतिहास-पुस्तक लिखता है जिसमें उसके विभागीय अधिकारी संशोधन कराना चाहते हैं । पर वह इसके लिए किसी कीमत पर तैयार नहीं होता ।[5] फलस्वरूप उससे त्यागपत्र की माँग की जाती है और वह त्यागपत्र देकर सत्य को हर कीमत पर कहने और अराजक व्यवस्था का सामना करने के लिए उद्यत हो जाता है । परिवार की आर्थिक विपन्नता उसे आजीविका के लिए कुछ सोचने को बाध्य करती है और वह एक दिन इसकी तलाश में बिना किसी को बताये चुपचाप घर छोड़ देता है । पच्चीस वर्षों की निरुद्देश्य

१- ' हिन्दी-उपन्यास : एक नई दृष्टि ' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ७५ ।
२- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' (सं० नरेन्द्र मोहन), डॉ० विनय का लेख, पृ० २१६।
३- 'यह पथ बंधु था' - नरेश मेहता, हिंदी ग्रंथरत्नाकर, बम्बई, १९६२। भूमिका ।
४- ' अधूरे साक्षात्कार ' - नेमिचंद्र जैन, पृ० ४३ ।
५- ' यह पथ बंधु था ' - नरेश मेहता , पृ० ३३ ।

भटकन के बाद अर्थहीनता का अहसास लिए श्रीधर घर लौटता है और घर का बदला हुआ परिवेश, आर्थिक-सामाजिक दबावों के नीचे यक्ष्मा की शिकार उसकी पत्नी सरस्वती, पंगु हो गई उसकी बेटी गुणवंती श्रीधर के मानस को झकझोर देती हैं। लेखक ने इसका बड़ा कारुणिक और सर्जनात्मक चित्रण किया है। श्रीधर अपने को इस परिवेश में बिलकुल अकेला और अजनबी पाता है। डॉ० रामदरश मिश्र ने इस उपन्यास को "मध्यवर्ग के टूटते हुए संवेदनशील व्यक्ति और उसके मानसिक उद्वेलन की अनुभूति गाथा" कहते हुए टिप्पणी की है :" आज का एक ईमानदार प्रबुद्ध और साधनविहीन मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी निजता को बचाता हुआ, अपने को परिवेश से जोड़ता हुआ और जोड़ने की प्रक्रिया में निरन्तर टूटता हुआ चलता है। उसके पास एक स्वप्न होता है, अभिमान होता है, अपने को सार्थक करने के लिए जो पग-पग पर आहत होता है, टूटता है। मूल्य तथा सार्थकता का बहुत बड़ा स्वप्न ह लेकर चलनेवाला व्यक्ति अंत में अपने को चारों ओर से हारा हुआ अकेला और अजनबी पाता है।[१]

सरस्वती और गुणवंती की यातना के माध्यम से लेखक ने सामाजिक-पारिवारिक यंत्रणाओं का जीवन्त चित्रण किया है। यद्यपि लेखक ने देवरानी-जेठानी के उसी पुराने लटके को लेकर उपन्यास के कथात्मक ढाँचे को खड़ा करने की कोशिश की है फिर भी अपनी संवेदनशीलता के कारण ये अंश महत्वपूर्ण हो उठे हैं। पूर्वार्द्ध का घटनात्मक विस्तार नीरस और उबाऊ, वर्णनों से भरा हुआ है तथा सीधी-सादी भाषा के प्रयोग से शिल्प कमज़ोर तथा अभिव्यक्ति ढीली हो गई है। इससे इस उपन्यास की साहित्यिक रचनाशीलता को ठेस पहुँचती है तथा उपन्यास की रचनात्मक अन्विति खंडित होती है। यह बात इस उपन्यास के आस्था-आरोपित अंत के बारे में भी कही जा सकती है जिसका संकेत प्राय: सभी आलोचकों ने एक स्वर से किया है। उत्तरार्द्ध तक आते-आते लेखक पूरे फार्म में आ जाता है तथा उपन्यास में एक प्रकार की प्रवाहमयता और सहजता आ जाती है। यहाँ लेखक के साथ लिपटी छायावादी सौन्दर्य दृष्टि का उल्लेख किया जा सकता है।

श्रीधर के भावुक और संवेदनशील चरित्र में "रोमांटिक आउट साइडर"[२] की स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। स्वप्न में पहाड़ों के शिखरों पर, फील

१- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' (सं० नरेन्द्र मोहन) पृ० ६८।
२-'द आउट साइडर' - कॉलिन विल्सन, पृ० ४८-४६।

के बीच में, नदी की काली चट्टानों पर भटकनेवाला श्रीधर कहता है, "दादी, तुम सब से पवित्र हो, क्रमशः धूप और जल से शुचिक।" उसके इस कथन में रूमानी चरित्र की झलक स्पष्ट है। इसी इंदु दीदी के जाने के बाद श्रीधर सहसा "रिता" जाता है। जिस "निपट अकेलेपन" का वह शिकार होता है, उसकी उसने पहले कल्पना भी नहीं की थी। उसकी अनुभूति है कि वह एक "घने अंधेरे कमरे" में बंद है, जिसमें वह जिधर जाता है, उसके दरवाज़े पहुंचने के पहले ही बंद हो जाते हैं।[1] इन्दु का श्रीधर को लिखा गया पत्र इन्दु की विवशता की अनुभूति और उससे पनपे अजनबीपन की भावना पर पर्याप्त प्रकाश डालता है: "हमें जन्म ही दूसरे देते हैं, इसीलिए तो हमारा जीवन भी अपने लिए नहीं होता।[2] श्रीधर अतीत जीवी है, उसमें उसे एक अजीब तृप्ति मिलती थी। बाकी सामने का यथार्थ उसे अजीब, ओछा और वितृष्णा करनेवाला लगता।[3] यह भी उसकी रूमानियत का एक पहलू है।

बाहर का निर्जन सन्नाटा श्रीधर को अपने भीतर धंसता महसूस हो रहा है। उसे ऐसा लगता है जैसे वह इस "निर्जन एकाकीपन का सूना खंड" हो।[4] उज्जैन में बैठकर श्रीधर सोचता है: "ऐसे में हमारा सोचना, स्थिति सब संबंधहीन हो जाते हैं। पूर्वापर संबंध, संदर्भ सब मिट जाते हैं। न हम देखते हैं, न सोचते हैं, बस केवल देखते हैं, सोचते हैं। वह भी अपना नहीं जैसे किसी दूसरे का हो जिसमें हम कहीं नहीं हैं।[5] उसे लगता है जब वह अपने कस्बे में था तो इतना "रिताया" हुआ नहीं था। लेकिन अब यह खालीपन, निष्क्रियता उसे एकदम खोखला और उसे स्वयं से भी अजनबी बना देगी।[6] उसके मानस में अजनबीपन का बोध धीरे-धीरे गहराने लगता है और वह अपने को कुरेद देखता है कि कहीं वह अपने को छोड़ तो नहीं आया है या कहीं स्वयं तो नहीं छूट गया है?[7]

१- "यह पथ बंधु था" - नरेश मेहता, पृ० १५७।
२- पूर्वोक्त, पृ० १५२।
३- पूर्वोक्त, पृ० १५६।
४- पूर्वोक्त, पृ० १६५।
५- पूर्वोक्त, पृ० १८५।
६- पूर्वोक्त, पृ० २१०।
७- पूर्वोक्त, पृ० २२४।

श्रीधर के मन में बार-बार यह प्रश्न घुमड़ने लगता है कि क्या इसी निरुद्देश्यहीनता के लिए घर छोड़ा था ?[१] कई बार तो स्वयं संशय में पड़ जाता कि क्या वह श्रीधर ही है या कोई और ? श्रीधर की अनुपस्थिति और सामाजिक-पारिवारिक यंत्रणाओं के बीच सरो भी टूट रही है । उसे लगता है कि जीवन भर वह विवश रही, विवशता से कोई मुक्ति नहीं । उसने जिन आदर्शवादी भावनाओं से जीवन का आरम्भ किया था, उसके जो संचित, परम्परित जीवन भर के विश्वास, आदर्श और आस्थाएं थी, वह सब अब ढह रही हैं ।[२] और वह टूटकर मूल्यों के स्तर पर अपने को अकेली पाती है । सरो का यह मोहभंग और मूल्यगत विघटन उसमें अजनबीपन की सृष्टि करता है और वह अजनबी होती जाती है । उपन्यास के इस अंश की मार्मिकता, करुणा और तीखेपन का संकेत करते हुए नेमिचंद्र जैन कहते हैं : "इस दृष्टि से "यह पथ बंधु था" पुराने ढंग के सम्मिलित परिवार के विघटन की भी कथा है, और उसकी चक्की में एक सुकुमार, आस्थावान स्त्री के पूर्णत: पिस जाने की कथा भी, जो भारतीय नारी के विडम्बनापूर्ण जीवन के एक समूचे युग को रूपायित करती है ।[३]

श्रीधर को अपनी निरुद्देश्यता और अर्थहीनता की प्रतीति से अपने घर की याद आती है । वह अपने क्रमश: टूटने को स्पष्ट देख रहा था । वह अपनी मिट्टी से उखड़ी जड़ था जो न गमलों में पनप पा रहा था और न अन्य स्थानों पर ।[४] अजनबीपन का बोध अपनी पूरी भयावहता और विवशता के आयामों के साथ श्रीधर के जीवन में मूर्त होने लगता है । श्रीधर की बेटी गुणवंती ससुरालवालों की निर्दयता और घोर पाशविकता को भुगतने के बाद टूट जाती है । फटी आंखों से हर तरफ़ देखने-सुनने वाली गुनी के लिए जीवन अर्थहीन हो जाता है तथा वह अपने परिवार-समाज से व स्वयं अपने से भी अजनबी हो जाती है । श्रीधर के माता-पिता अपने लड़कों के ओछे आचरण व स्वार्थी व्यवहार से भीतर तक टूट जाते हैं । गुनी के इस मार्मिक कथन में विवशताजन्य करुणा के साथ उसके जीवन की व्यथा और "जिधी" से

१- "यह पथ बंधु था" - नरेश मेहता, पृ० २७७ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ३७९ ।

३- "अधूरे साक्षात्कार", पृ० ४६ ।

४- "यह पथ बंधु था", पृ० ४१२ ।

उनका लगाव-जुड़ाव प्रकट होने लगता है :" जिजी ! जीवन में न आँसुओं का मूल्य है न भावना का । केवल सहना ही सत्य है । बिना सहे तो कोई गति नहीं है ।[1] वेदनापरक ममत्व की दृष्टि से कुनी की गाथा सामाजिक स्तर पर बड़ी संवेदनशीलता के साथ सामाजिक-पारिवारिक नृशंसताओं और यंत्रणाओं को तीव्रता के साथ उभारती है ।

श्रीधर को अपने जीवन की भ्रमजालिक भंगिमाएं और छलनाएं उद्विग्न कर देती हैं । वह अत्यंत विकलतापूर्वक अनुभव करता है :" दीदी ! तुम्हारा श्रीधर संपूर्ण पराजित व्यक्ति रहा । अनिर्णय जेल और प्रयोग इसी में सारा जीवन खो दिया ।[2] इस अर्थहीनता की प्रतीति के बाद निरवलंबित होकर भीतर से टूटकर, प्रकाशकों द्वारा किये गये अपमान-तिरस्कार झेलकर, अपना संपूर्ण जीवन, स्वास्थ्य, कर्मठता काशी को सौंपकर वृद्ध , बीमार श्रीधर 'अनुत्सवी" ढंग से अपने घर मालवा लौटता है । उसके मन को यह प्रश्न बारम्बार कचोटता है कि घर-परिवार से विलग होकर, जाने कहाँ भटकते- भटकते उसने क्या पाया ? श्रीधर की टूटन और पराजय के बोध के साथ अजनबीपन का बोध संश्लिष्ट रूप में गुंथा हुआ है । उसको लगता है कि पुस्तकों में पढ़कर जिन आदर्शों को संबल बनाकर वह बाहर के लोगों के बीच गया था," वे सड़े हुए थे ।"[3] घर पहुंचकर अपनी और अपने परिवार की दयनीय स्थिति देखकर, जीवन की निरुद्देश्यपूर्ण और अर्थहीन भटकन उसके मन को कचोटने लगती है । इस मूल्यगत विघटन और मोहभंग के साथ अजनबीपन का तीव्र स्वर मिला हुआ है । डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में और श्रीधर इस टूटे घर में अकेला और अजनबी बनकर रह जाता है ।[4] लेखक ने श्रीधर की इस मन:स्थिति को बड़ी सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ अंकित किया है :" पच्चीस वर्ष एक संपूर्ण जीवन की आहुति । उसकी आँखें धुल रही थी । अंग-अंग से थकान वैसे ही फूट रही थी जैसे कि इस समय दीवारों से वृष्टिजल मनमाने ढंग से फूटकर बह रहा था .... उनका पुरुषार्थ दीमक खाई पुस्तक था । आज उसका कोई मूल्य नहीं था । उन्होंने क्या अर्जित किया । ---- वे चीख पड़े -- सब व्यर्थ गया श्रीधर ! सब व्यर्थ गया ।[5] "

१- 'यह पथ बंधु था' - पृ० ४८८ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ५६१ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ५७६ ।
४- 'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि', पृ० ७२ ।
५- 'यह पथ बंधु था' - पृ० ५६२ ।

१३- " वे दिन "

संवेदनशील रचनाकार निर्मल वर्मा का प्रस्तुत उपन्यास " वे दिन " (१९६४) क्रिसमस के चंद शांतिपूर्ण दिनों की कथा है। इस उपन्यास में उन्होंने आधुनिक मनुष्य की विडम्बनात्मक नियति और विवशता का अंकन अस्तित्ववादी शैली में किया है। नरेन्द्र मोहन के शब्दों में निर्मल वर्मा ने इस कृति में जिस डर, आतंक और कातरता की अभिव्यक्ति की है वह एक " अदृश्य नियति " द्वारा संचालित है और अपनी प्रकृति में अस्तित्ववादी है।[1] निर्मल वर्मा का रचना-संसार " सोफिस्टीकेटेड " है ; मानसिक रूप से अतिपरिष्कृत बौद्धिक वर्ग का साहित्य है। इनके पात्रों में अतिरिक्त संवेदनशीलता, बौद्धिकता और परिष्कृत भावुकता परिलक्षित होती है। इनकी साहित्यिक रचनात्मक ऊर्जा जीवन की भ्रमजालिक भंगिमाओं और तल्ख़ अनुभूतियों को अत्यंत सूक्ष्मता के साथ संश्लिष्ट रूप में अभिव्यक्त करने में विशेष रूप से सक्षम है। इनके इस उपन्यास का महत्व आंकते हुए डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने कहा है कि इस रचना से हिन्दी उपन्यास " अपनी विकास यात्रा " में नया मोड़ लेता है, एक नई संवेदना को उजागर करता है जो आधुनिकता -बोध का परिणाम है।[2]

इनकी रचनाएं इतनी गठी और कसी हुई होती है और इनके पात्र आभिजात्यता के परिष्कृत ताने-बाने से इस प्रकार बंधे रहते हैं कि सामान्य पाठक की बुद्धि चकरा जाती है। बर्फ़ और धूप, छुट्टियों के खालीपन, पुराने शहर के पुल और टावर, अंतहीन आकाश, बियर, शैरी और वोद्का, रुई-सी बर्फ़, पार्क की बेंचों पर ऊंघते हुए बूढ़ों, गिरजे की घंटियों के समवेत उनींदे स्वर आदि के माध्यम से निर्मल वर्मा बड़ी कुशलता से रहस्यमय संसार को, उसकी यथार्थता में पूरी जीवंतता के साथ ईमानदारी से उकेर देते हैं। वातावरण और स्थितियों की विभिन्न मुद्राओं से निर्मल वर्मा बड़ी सहजता से आधुनिक जीवन की विवशताओं, ऊब,

---

१- " आधुनिक हिन्दी उपन्यास " (सं० नरेन्द्र मोहन) पृ० २३०-२३१ ।

२- " हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि " - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ७८ ।

उदासी, अर्थहीनता, अकेलापन और अजनबीपन की स्थितियों को कलात्मक ढंग से संवेदनात्मक धरातल पर उभार कर रख देते हैं ।

इस उपन्यास में संकेतों के माध्यम से जटिल संवेदनाओं को उभारते हुए जीवनगत यथार्थ को गहराया गया है । लेखक ने बड़ी तटस्थता के साथ आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं और भ्रमजालिक भंगिमाओं से टकराने का साहसिक और सार्थक प्रयास किया है । इस उपन्यास के सारे पात्र " मैं", रायना, मीता, टी०टी फ्रांज़, मारिया आदि सभी आधुनिक जीवन की विसंगतियों को झेल रहे हैं तथा उसके दबाव का अनुभव प्रतिक्षण कर रहे हैं । इन सब के जीवन में खालीपन, रिक्तता, परायापन और अवसाद छाया हुआ है । ये सब पात्र अपनी नियति की खोज में उससे जूझ रहे हैं । इसी उपक्रम में आधुनिक परिवेश में होनेवाली अकेलेपन और अजनबीपन की अनुभूति पूरी चित्रात्मकता के साथ उभर आई है । इस अकेलेपन और अजनबीपन के बोध को तोड़ने के लिए ये पात्र शराब के आलम में डूबे और संभोगीय मुद्राओं में लीन दिखाई देते हैं । इसलिए उपन्यास की मूल संवेदना शराब की झाग छ और संभोगीय मुद्राओं के परे दूसरे स्तर पर समानान्तर रूप छ से ध्वनित हो रही है ।

इस रचना में आधुनिक मनुष्य की जटिल मन:स्थिति को पूरी पेचीदगी और गहराई के साथ, सूक्ष्म रूप में इस प्रकार उभारा गया है कि कथात्मक घटनाएं अपने आप वृहत्तर संदर्भों को ध्वनित करती हुई, औपन्यासिक संरचना में गलती-घुलती चली गई हैं । लेखक अतीत के उन्हीं प्रसंगों का प्रयोग करता है जो संवेदना को गहराने के लिए अत्यंत ज़रूरी हैं । अतीत के प्रसंगों और स्मृतियों को कलात्मक कुशलता के साथ कथा तथा चरित्रों के आंतरिक ताने-बाने में पिरो दिया गया है । इस उपन्यास के पात्रों को उनका अतीत कहीं गहरे में दबोचे हुए है जिससे वे आतंकित और बुरी तरह से आक्रांत हैं ।

निर्मल वर्मा के उपन्यासों की भाषिक संरचना का वैशिष्ट्य उसकी बिम्बात्मकता में है ।" अज्ञेय " के उपन्यासों के भाषिक रचाव में कविता और गद्य के अंतर को स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है । लेकिन निर्मल वर्मा के उपन्यासों में गद्य और काव्य का घुला-मिला रूप अपनी

संश्लिष्टता में उभरता है। उपन्यास के शुरू में ही " सूखी उबली झाड़ियाँ", " रोशनदान में फंसे फड़फड़ाते अखबार" और " पंख फड़फड़ाते असहाय पक्षी "[१] के बिम्बों के माध्यम से लेखक वातावरण के साथ ही नायक की मन:स्थिति, उसकी विवशता और असहायता को सूक्ष्मता से व्यंजित कर देता है । यहां रतुलवीर अरोड़ा के इस कथन से सहमति प्रकट की जा सकती है :" समूचे उपन्यास में जो कुछ अनकहा है उसे लेखक ने बिम्बों में आँका है । बिम्बों की पारदर्शी नोंक ने अनकहे की धुंध को चीरा और फाड़ा है ।[२] डॉ० रमेश कुंतल मेघ ने निर्मल वर्मा के उपन्यासों की भाषिक संरचना के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हुए उसकी सीमाओं की तरफ भी संकेत किया है :-

" अनजानेपन के बोधक उनके अपने शब्द हैं - इतने बरसों में - इतने बरसों बाद, पहली बार - पहला दिन, इतनी दूर , मौन, अकेलापन, इस रात, उस शाम, वह इत्यादि । इन शब्द संवाहकों के द्वारा वे रहस्य और आश्चर्य, अजनबीपन और अकेलापन, आत्मरति और आत्म परायापन, व्यथा और मौन, व्यतीत और परिवर्तन, अनुभूति की गहराई तथा अभिव्यक्ति की ईमानदारी को उभारने की कोशिश करते हैं । इसके लिए भी उनके शिल्प में " लगा ", " लगता है, " सोच आदि की भाषा-क्रीड़ा के प्रयोग शब्द एवं अर्थ के बीच के मौन को भाषा देने की चेष्टा करते हैं । यहीं उनकी महत्तम शिल्पात्मक श्रेष्ठता की विद्यमानता मिलती है । उनकी संवेदना के आरंभ बिंदु " किसी शहर में पहली बार आना ", " कल या एक सप्ताह बाद चले जाना ", " एक रात बिताना ", "एक शाम घूमना " आदि से जुड़ा वर्तमान समयखण्ड रहता है । इस क्रम में पात्र एवं घटनाएं भी " वे ", वह ", " वहां " , " कुछ " , " उसे ", " उस तरफ " की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं । इस तरह अजनबी शहर में अकेला यात्री अपना प्रिय कोना, प्रिय वस्तुएं, प्रिय मित्र, प्रिय या भयानक घटनाएं खोज लेता है - और अजनबी शहरों में अपने को नये सिरे से जोड़ देता है । इसका परिणाम " संकेतों की भाषा " की रचना होती है किंतु

१-" वे दिन " - निर्मल वर्मा, १९६४ , राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० ७ ।
२-" आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास ", पृ० २११ ।

इस भाषा में उभानेवाली आवृत्ति, रिक्तता की सीमा तक फैलनेवाला सूक्ष्म विस्तार और वातावरण को उभारनेवाला संगीत या आर्केस्ट्रा अथवा पेंटिंग जैसा चित्र पटल अभिव्यंजना को नयापन पहुंचाता है।'[1]

रायना के साथ बिताये गये, क्रिसमस के चंद दिन 'मैं' को हमेशा घेरे रहते हैं। रायना की फुसफुसाहट भरी आवाज़ 'तुम विश्वास करते हो? सच बताओ।' --[2] एक विवश आग्रह के साथ 'मैं' को हर दिन इसी घड़ी में पकड़ लेती है। अतीत की यादें, रायना के साथ बिताये गये वे दिन 'मैं' के मन को जकड़े हुए हैं। उसका अपना कमरा, जिसके साथ रायना की यादें जुड़ी हुई हैं, पराया लगने लगता है।[3] दीवार पर मद्धिम रोशनी में चमकते जाले के रेशे, पिघली हुई बर्फ का मैलापन, लगातार गिरती हुई बर्फ और उसके खामोश टुकड़े एक प्रकार से वातावरण की उदासी और खोखलेपन को और घना करते हैं।

तीन साल प्राग में रहने के बावजूद टी०टी० अपने को यहां अजनबी-सा पाता था।'[4] बियर और अपने देश के अखबार - से बाहर उसे कोई चीज़ ज्यादा आकर्षित नहीं करती थी। लेकिन वह घर जाने के लिए भी उत्सुक नहीं है। अपना देश उसे इस देश से भी कम आकर्षित करता है।[5] 'मैं' इसकी सफाई देता हुआ कहता है:

'हम ऐसे वर्षों में घर को छोड़कर चले आये थे जब बचपन का संबंध उससे छूट जाता है और बड़प्पन का नया रिश्ता जुड़ नहीं पाता। अब घर अवास्तविक-सा जान पड़ता था, जैसे वह किसी दूसरे की चीज़ हो, दूसरे की स्मृति। उसका मतलब यहां कुछ भी नहीं था। पहले जो भी मतलब रहा हो, वह दिन,

---

१- 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण - डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, १९६९, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पृ० ३२३।

२- 'वे दिन' - निर्मल वर्मा, १९६४, पृ० ७।

३- पूर्वोक्त, पृ० ९।

४- पूर्वोक्त, पृ० ३०-३१।

५- पूर्वोक्त, पृ० ३१।

महीनों, वर्षों के साथ धुंधला पड़ता गया था । वह अब अर्थहीन था - किंचित हास्यास्पद ।[१]

वातावरण की उदासी और अपने अकेलेपन के कारण अजनबीपन या परायेपन का भाव पात्रों की आंखों में रह-रहकर कौंध उठता है । अकेलेपन और अजनबीपन के सम्मिलित बोध को तोड़ने के लिये ये पात्र पीने का सहारा लेते हैं और पीकर अनेक संदर्भहीन बातें कहते और करते हैं - पर इससे इनकी अजनबीपन की भावना और ज्यादा गहराती है । अपने देश से हजारों मील दूर, ये पात्र बिलकुल अकेले हैं । न प्राग से ये अपने को जोड़ पाते हैं और न अपने देश से अपने लगाव-जुड़ाव को बनाये रख पाते हैं । इस विवशता के बीच से वे अपनी नियति से साक्षात्कार करने का प्रयास कर रहे हैं ।

रायना की आतंकग्रस्त आंखें, इन चमकती आंखों का अजीब-सा ठंडापन, आंखों की उत्सुकता और उनमें से झांकती हल्की-सी बेचैनी ।[२] - अतीत से आक्रांत और आतंकित रायना की मन:स्थिति पर भरपूर प्रकाश डालती है । उसकी अंगुलियां अस्वस्थ ढंग से अस्थिर हैं तथा जो मन में एक फिजूल -सी बेचैनी उत्पन्न कर देती हैं ।[३] " मैं " के यह पूछने पर कि आप सर्दियों में प्राग आई हैं, जब यहां कोई नहीं आता ; उसके चेहरे पर एक मलिन-सी छाया सिमट आती है जो उसके भीतर अवस्थित गहरे विषाद को प्रकट करती है । इस प्रश्न के दौरान दोनों के बीच उभर आये अचानक अजनबीपन के बोध को लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से बांधा है । " मैं " को लगता है कि " उसका चेहरा वह नहीं है जिसका मैं धीरे-धीरे आदी हो चला था । उसने पहली पहचान को उतारकर अलग रख दिया था - एक पहने हुए कपड़े की तरह । मेरे लिए एक अलग अनुभव था । हमेशा मुझे पहली पहचान आखिर तक सही मालूम देती थी । उसने उसे फेंक दिया था - बिना एक भी शब्द कहे ।[४]

बड़ी अलकोहलिक आंखों वाले फ्रांज़ को पूर्वी जर्मनी से यहां

१- " वे दिन " - निर्मल वर्मा, पृ० ३१ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ४५ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ४१ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ४६ ।

सिनेमा-स्कूल में अध्ययन करने का स्कालरशिप मिला था । फ्रांज़ कहता है "जानते हो, पिछले एक साल में मैंने एक भी फ़िल्म नहीं बनाई---- एक पंद्रह मिनट की फ़िल्म भी नहीं, जिसे मैं अपना कह सकूं । जब तक वे तुम्हारी थीम को मान न लें, तुम कैमरा छू नहीं सकते । वे कहते हैं, मेरी किसी थीम में हेल्थ नहीं होती ---- सुनो, मैं अट्ठाईस पार कर चुका हूं । फ़िल्म स्कूल में मैं हेल्थ खोजने नहीं आया था । उसके लिए बर्लिन में सैनिटोरियम है । मैं वहां रह सकता हूं ।"[1] फ्रांज़ का यह कथन पूरी सिक्तता के साथ उसकी मन:स्थिति को उभारता है । और फ्रांज़ प्राग से कहीं भी बाहर, वेस्ट जर्मनी, स्वीडन, पौलैण्ड जाने के लिये उतावला होकर, वीसा के चक्कर में उलझ जाता है ताकि प्राग के इतने जड़ बुद्धि, इतने ईडियट सिनेमा स्कूल के अध्यापकों से उसका किसी तरह पिंड छूटे ।[2]

"मैं" महसूस करता है ", तुम मदद कर सकते हो, लेकिन उतनी नहीं, जितनी दूसरे को ज़रूरत है ; और यदि ज़रूरत के मुताबिक मदद नहीं कर सको तो चाहे कितनी भी मदद क्यों न करो, उससे बनता कुछ भी नहीं ।"[3] यहां विवशता का तीखा अहसास है । सारे पात्र विवशता को किसी न किसी स्तर पर झेल रहे हैं । पिछले दो साल से मारिया वीसा के लिए कोशिश कर रही है, पर उसे नहीं मिलता । फ्रांज़ को वीसा मिल जाता है । और वह बर्लिन जा रहा है । मारिया फ्रांज़ पर अनुरक्त है पर उसे वीसा नहीं मिलता । उसका आक्रोश और उसकी विरक्ति छिपती नहीं । विवाहित होने पर मारिया को वीसा मिल सकता था पर फ्रांज़ और मारिया वीसा के लिए विवाह की सार्थकता महसूस नहीं कर पाते । मारिया के वीसे को लेकर टी०टी०, "मैं" फ्रांज़ और मारिया - सब के मन में एक अव्यक्त तनाव है जो उनकी विवशताओं से जुड़ा हुआ है । मारिया को लगता है कि फ्रांज़ को अब उसकी ज़रूरत नहीं है ।[4] मारिया को वीसा नहीं मिल रहा है लेकिन इसमें वह क्या कर सकती है । टी० टी०, "मैं", फ्रांज़ भी उसकी कोई मदद नहीं कर सकते थे । यही उनकी सीमा थी । नियति की रहस्यमयता और अपनी

१- वे दिन - निर्मल वर्मा, १९६४, पृ० ६३ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ५८ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ५८ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ६५ ।

विवशता का तीखा बोध मैं को होता है :" लगता था कोई बाहर का फंदा है, जिसकी सब गाँठें, सब सिरे, दूसरे के हाथों में है --- जिन्हें हम देख नहीं सकते ।"[१] यह विवशता -बोध अजनबीपन की अनुभूति को उभारता है ।

द्वितीय महायुद्ध का काली छाया अपने भयंकार त्रासद रूप में सब पात्रों पर मंडरा रही है । रायना को बंदूकों से नफ़रत है, वह उन्हें खिलौनों के रूप में भी बर्दाश्त नहीं कर सकती । फ्रांज़ मुली मुस्कुराहट के साथ " मैं" से कहता है, " तुम्हें अपना बचपन लड़ाई में नहीं गुज़ारना चाहिए ---- वह ज़िंदगी भर पीछा नहीं छोड़ती ।"[२] रायना और " मैं" के संबंधों में न नयेपन का भ्रम है, न पास होने का कौतूहल और न दूर होने का ठंढापन । रायना की भावहीन आंखों का खालीपन ; उसके होठों की अनिश्चित मुसकराहट, जिसका उदासी से कोई संबंध नहीं था पर जो मन में किसी प्रकार का उल्लास भी उत्पन्न नहीं करती थी -" मैं " के मानस में संबंधों के अजनबीपन को विकसित करने में योग देती है । सारे पात्रों का दैनिक जीवन खाली और घटनाविहीन एकरसता में डूबा रहता है । कहीं कुछ भी ऐसे नहीं होता जिससे जीवन में किसी प्रकार का बदलाव आता । " मैं " इसका इस प्रकार विश्लेषण करता है :" हम एक ऐसी स्थिति में थे, जो हमारी नहीं थी । फिर भी जैसे हम एक अज्ञात षाडयंत्र का हिस्सा हो ।"[३]

मैं घर के बारे में नहीं सोचता । वह सोचता है कि एक उम्र के बाद कोई वापस घर नहीं जा सकता । कोई उसी घर में वापस नहीं जा सकता जैसा कि उसे छोड़ा था ।[४] रायना जाक के बारे में सोचती हुई हल्के से विषाद के साथ " मैं" से कहती है " तुम किसी चीज़ को पूरी तरह खो नहीं सकते ।[५] कुछ ऐसा है जो हमसे बाहर है लेकिन इतना बाहर नहीं कि हमें अकेला छोड़ सके । अतीत के बोझ

१- वे दिन- निर्मल वर्मा, १९६४, पृ० ६३ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ६३ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १०१-१०२ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ११३ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ११५ ।

का और उससे उत्पन्न विवशता का मार्मिक चित्रण यहाँ उपलब्ध होता है । ये पात्र जीवन में सहजता लाने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, कुछ ऐसा अनचाहा रह जाता है जो रह-रहकर कचोटता रहता है । भावनात्मक रूप से संवेदनशील होकर ' मैं ' रायना पर चुम्बनों की बौछार कर देता है, पर ' मुझे लगा मैं वापस लौट आया हूं, लेकिन उसी जगह नहीं, जो चंद लमहे पहले छूट गई थी । --- मुझे वह भयावह सी लगी - वह अ-पहचान, जो हम दोनों के बीच चुपचाप चली आई थी।[1]

टी०टी० जो यहाँ वहाँ घुटा-घुटा सा ' लगता है, वह कहीं बाहर आना चाहता है - इस ऊब , एकरसता और अकेलेपन को तोड़ने के लिए । किन्तु वह घर वापस जाने के बारे में नहीं सोचता ।[2] उसे जर्मन पसंद नहीं है और फ्रांज़ भी उनमें से एक है । वह सोचता है अगर मारिया विवाहित होती तब तो वीसा मिल सकता था ।[3] वह सोचता है कि फ्रांज़ हम सब से ज्यादा सौभाग्यवान है । मारिया-फ्रांज़ -प्रकरण को लेकर टी० टी० के मन में तनाव है और चेहरे पर एक ठंडी सी वीरानी । उसकी आँखों में विवशता के आँसू छलक पड़ते हैं । ' मैं ' की बरसों से फ्रांज़ को जानने की बात पर वह बड़े क्षोभ व आक्रोश से कहता है : ' हम बहुत कम जानते हैं, लेकिन वह हमेशा काफ़ी होता है ।'[4]

रायना को ' मैं ' के साथ चलते हुए कभी-कभी लगता है ' यह मैं नहीं हूं ।' अतीत से ग्रस्त पात्रों का अकेलापन अपनी पूरी विवशता और भयावहता के साथ उपन्यास में रूपायित हुआ है । शिल्प का कसाव पूरे उपन्यास में एक तनाव बनाये रखता है जिससे कई अर्थ विभिन्न स्तरों पर फूटते हैं । मीता जैसा बालक भी अतीत के दबाव को झेल रहा है । मीता की कारुणिक सिसकियों से ' मैं ' को अपने और रायना के बीच जाक की अप्रत्यक्ष उपस्थिति का तीक्ष्ण अनुभव होता है :' पहली बार उस शाम मुझे आभास हुआ । मानो हम तीनों के

१- वे दिन, पृ० १२० ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १५१ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० १५४ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० १५५ ।

अलावा कोई और व्यक्ति है जो हमेशा हमारे बीच में है । उसे हम देख नहीं सकते, किन्तु वह हमसे अलग नहीं हो सकता -- वह नहीं है, इसलिए वह शायद हम सब से अधिक है ।[१]

रायना कहती है कि हम एक दूसरे के बारे में कितना कम जानते हैं । "मैं" और रायना एक बीहड़-सी नीरवता में खड़े रहते हैं । "मैं" को लगता है कि दोनों के बीच अलंघ्य-सी दूरी है, एक गड्ढे-सा मौन है जिसे शब्दों से नहीं ढंका जा सकता । और यह उसके अतीत से जुड़ा था जिसे मैं देख नहीं सकता था । कुछ घर होते हैं, जिनके भीतर जाकर भी लगता है कि हम बाहर खड़े हैं । दरवाजे का खुला रखना कोई भी मानी नहीं रखता ।[२] "मैं" को लोगों की भीड़ में रायना का सिर पराया-सा लगता है जिसमें उसका कहीं -भी कुछ भी साझा न था'।[३] डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है : "समकालीन मनुष्य का यह अनुभव कि वह तमाम तब्दीलियों के बाद भी एक न एक निर्वैयक्तिक ढांचे पर निर्भर है जो उसकी पकड़ से बाहर और सक्रिय है, नियति के प्रति एक भिन्न दृष्टि-कोण देता है । प्रेम संबंधों के भीतर यह अनुभव कहीं जाकर गहरे बैठा हुआ है जो एक अर्थ में असहायता, अजनबीपन या परायेपन का अहसास कराता है । यहां प्रेम का सुख तो दिखाई देता है पर दुःख अदृश्य रहता है ।[४]

"मैं" अपने मित्रों के बारे में सोचता है कि हम आपस में कितने अलग है और हममें से कोई भी किसी की मदद नहीं कर सकता ।[५] रायना को लेकर उसे लगता है जैसे वह उसके बारे में कुछ भी नहीं जानता । वह अपने और रायना के बीच पनप आई सारी आत्मीयता के बावजूद उसे पराया और दूर का महसूस करता है।[६]

१-'वे दिन' , पृ० १२८।

२- पूर्वोक्त, पृ० १३७।

३- पूर्वोक्त, पृ० १३६।

४-" उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा" - डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७६, पृ० १३० ।

५-" वे दिन", पृ० १६० ।

६- पूर्वोक्त, पृ० १८५ ।

उस रात को " मैं " पहली बार यह अनुभव करता है कि एक व्यक्ति दूसरे के लिए अंधेरा है, जैसे रायना उसके लिए थी और वह रायना के लिए था । उनके जीवन की अर्थवत्ता " सुलगते क्षण " में अंधेरे के बीच " उस " ताप " को पकड़ने में है जो वस्तुत: जीवित नहीं रहेगा ।[१] अपने कमरे में रायना को देखना उसे " अवास्तविक -सा " लगता है । बाहर भी उसने अकेलेपन को उसकी संपूर्णता में नहीं अनुभव किया था किन्तु कमरे में रायना के साथ उसे सहसा सूने-से " पड़ने की अनुभूति होती है । रायना अपने बीते दिनों का स्मरण करते हुए कहती है कि जाक के साथ रहते हुए उसे ऐसा लगता था जैसे उसने कोई चीज़ हमेशा के लिए खो दी है, उसे जाक के साथ रहने में " कान्सन्ट्रेशन कैम्प " में रहने की अनुभूति होती थी ।[२] वह जानती थी कि वैवाहिक जीवन के दायरे में रहकर वे दोनों जी सकते थे । यह जानते हुए भी वह बाहर आ गई और अब वह किसी काबिल नहीं रह गई है ---" नाट इवन फार लव । पीस किल्ड इट -- ।"[३] वह कहती है " लड़ाई में बहुत लोग मरते हैं - इसमें कुछ अजीब नहीं है -- लेकिन कुछ चीज़े हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती है - शांति के दिनों में -- हम उनमें थे ।"[३] रायना की इन स्मृतियों में छिपी व्यथा और अजनबीपन के बोध को रेखांकित करते हुए डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने टिप्पणी की है :-

" रायना की इन यादों में यूरोप की आधुनिकता है जो उसके बचपन के युद्धांतक की यादों तथा यौवन में पति जाक से मिलने की घटनाओं में रूपायित हो गई है । इस तरह युद्ध का गहरा आघात और जाक से अलगाव - रायना को तटस्थ, अजनबी, आत्मनिर्वासित तथा अनिवर्चनीय बना चुका है : आत्मनिर्वासित रायना ! वह वाणी से अधिक मौन मांगती है और लेकिन इसी ही शब्द देने को छटपटाता है ।[४] इस अकेलेपन को तोड़ने के लिए ; जो दु:ख ,पीड़ा, आंसुओं से बाहर है तथा जो महज़ जीने के " नंगे बनैले आतंक " से जुड़ा है -- वे संभोगीय मुद्राओं में बार-बार लीन दिखलाये गये हैं । लेकिन वे पाते हैं कि उनकी अकेलेपन की अनुभूति और ज्यादा तीव्र हो गई है और वे पहले से भी ज्यादा अजनबी हो उठे हैं ।" " मैं " भी यह

१-" वे दिन " , पृ० १९७ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० २०७ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० २०८ ।
४- 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण' - डॉ० रमेश कुंतल मेघ, १९६९, पृ० ३२४ ।

"अज्ञात", "आतंकित सा कर देता है। "एक दूसरे के अलगाव को भेदते हुए समूचे अतीत को अपने साथ खींचते हुए वे एक दूसरे में लीन होने का अथक प्रयास करते हैं, पर अंत में कुछ भी बचा नहीं रहता, महज एक देह का ज्वार बचा रहता है, दूसरे की देह में अपनी सतह को टटोलता हुआ।[1] वियना जाने के पहले घरेलू वस्तुओं से घिरी रायना "मैं" को बहुत दूर और परायी-सी" जान पड़ती है। उसकी लापरवाही भरी हँसी देखकर मैं कहता है: "वह उन बहुत कम लोगों में से थी जो अपने भीतर से अलग होकर सतह पर रह सकते हैं -- बर्फ की पतली परत पर - बिना यह ख़याल किये कि वह कभी भी टूट सकती है।"[2] यह कुछ दिनों का आत्मीय संबंध "मैं" को और पराया बना देता है। वह सोचता है, "एक उम्र के बाद हम वही चाहने लगते हैं, जो मिल सकता है।[3] रायना की आँखों से टपकती निरीहता को देखकर "मैं" सोचता है कि बिना यह चिन्ता किये हुए कि वह इस दौरान कितनी खाली होती गई है, वह उससे सुख अपने लिए छीनता रहा है। "जिये हुए क्षण की बासी छाया-सी जिसे हम न छोड़ सकते हैं, न दुबारा पकड़ सकते हैं -"[4] उन दिनों की स्मृतियाँ "मैं" के मानस में छायी हुई है। रायना के उन वाक्यों से, जो उसका निरंतर पीछा कर रहे हैं, जीवन की अर्थहीनता, विवशता, अकेलापन उदासी और ऊब रेखांकित होती है और "मैं" के मानस में अनबोधन तीव्रता के साथ फूट पड़ता है:

"दुखी --- तुम विश्वास करते हो?"
"वह जो नहीं है ---"
"जो है, लेकिन हमारे लिए नहीं है।"[5]

इस संदर्भ में डॉ० बच्चन सिंह की टिप्पणी प्रासंगिक है कि उपन्यास के अंत में रायना के प्रति जो मोह नायक में उत्पन्न होता है वह भावुकता न होकर उसका बचा हुआ मनुष्य है जिससे वह अलग हो गया है।[6]

१- "वे दिन", पृ० २०८।
२- पूर्वोक्त, पृ० २२४।
३- पूर्वोक्त, पृ० २२५।
४- पूर्वोक्त, पृ० २३०।
५- पूर्वोक्त, पृ० २३१।
६- "हिन्दी साहित्य का इतिहास" (सं० डॉ० नगेन्द्र) पृ० ६८७।

१४ - 'टूटती इकाइयां'

मानवीय संबंधों की रोमानियत के इस टूटते तिलिस्म को शरद देवड़ा ने अपने उपन्यास 'टूटती इकाइयां' (१९६४) में आधुनिकता के विस्तृत फलक पर संवेदनशील रूप में अंकित करने का प्रयत्न किया है। नारी-पुरुष के भीतर एक दूसरे के लिए जो आदिम भूख है, उसकी चीर-फाड़ तटस्थता के साथ इस रचना में की गई है। नारी-पुरुष और पत्नी - इन तीन अनाम पात्रों को लेकर उपन्यास का कथात्मक ढांचा विकसित होता है जिसमें आधुनिकता का प्रत्यय लेखक की सृजन-प्रक्रिया का अंग है।

अपने जीवन के 'उन्तीस साला चौराहे' पर खड़ी नारी आत्म विश्लेषण करने पर 'देह की परतों के नीचे छिपी इस आदिम आग' को सच पाती है। संगीत, नृत्य और चित्रकला के माध्यम से उसको दबाने का प्रयत्न उसे हास्यास्पद लगता है। वह महसूस करती है कि अपने जीवन के खोखलेपन को भरने का उसका यह प्रयास छलावा और आत्म प्रवंचना से भरा था।[1] उसे कमरे की दीवारों पर झूलते चित्र अर्थहीन लगते हैं, सितार खाली हण्डिया-सा बेजान लगता है, घुंघरू बेमानी लगते हैं और करीने से लगी किताबें निर्जीव प्रतीत होती हैं।[1] अपनी खोखली और खाली देह की तरह उसे अपना कमरा बेजान लगता है। बाहर के भीषण शोरगुल के बीच उसे कमरे में 'मौत का भयावह सन्नाटा' मालूम पड़ता है। इन [illegible] कोंपलों के गद्दे पर 'जलहीन मछली-सी' तड़पती वह इस पीड़ा के निदान को दिन के प्रकाश-सा स्पष्ट देखती है। पर आसपास जब इस 'निदान' की स्वाभाविक परिणतियां देखती है तो वह हताश हो जाती है। वह सोचती है कि यदि मैं अपने अहं का विसर्जन कर अपनी स्वाधीनता की बलि दे दूं तो भी ऐसा उपयुक्त जीवन साथी कहां है कि उसके हाथों में मैं अपनी जीवन-नौका की पतवार थमाकर निश्चिंत हो जाऊं और अपने अस्तित्व को भूलकर उसके व्यक्तित्व में अपने को एकाकार कर दूं।[2] जीवन को आदर्शवादी ढर्रे पर ढालने के सपने का मोह भंग होता है और उसे ढलती आयु का अहसास कचोटने लगता है। ढलता यौवन, ढीले वक्ष, फैली-पसरी देह की भयावनी असलियत देखकर

१- 'टूटती इकाइयां' - शरद देवड़ा, अपरा प्रकाशन, कलकत्ता, १९६४, पृ० २५।
२- पूर्वोक्त, पृ० २६।

वह अपना चेहरा हाथों में उठाकर सिसकने लगती है । उसे यह प्रश्न बारंबार कचोटने लगता है कि क्या वह धरती यों ही बंजर रह जाएगी ?[1]

रोज़- रोज़ एक ही पाठ पढ़ाना उसके मन-प्राण को बोरियत से भर देता है । वह अत्यंत थकी हुई, ऊबी हुई बस-स्टाप तक जाती है तो उसके पैरों में ताकत नहीं रहती और न मन में घर लौटने का उत्साह रहता है । आखिर वह किसके लिए घर लौटे ?[2] ज़िंदगी की निरुद्देश्यता एवं अर्थहीनता की प्रतीति उसे घेर लेती है । इसे तोड़ने के लिए अपने किसी मित्र के साथ रेस्त्रां के रंगीन और जादुई माहौल में जाकर बैठती है । लेकिन कब तक ? जब निर्जीव अंगुली से अपने फ्लैट की घंटी बजाती है तो दरवाज़ा खोलने वाली बुढ़िया का सड़ा हुआ चेहरा देखकर उसका मन पोर-पोर तक एक अबूझ घृणा से भर उठता है । जो उसे प्राप्त नहीं है, उसके न होने के दुःख से उसका जीवन बोझिल और उत्साहहीन हो जाता है ।[3] इस प्रकार के चित्रण में आधुनिकता-बोध है ।

अपने जीवन को रसमय बनाने तथा उत्साह, उल्लास व प्रसन्नता से भरने के लिए वह नारी-पुरुष के आदिम खेल को शुरू करती है । पर जब अपनी देह पर असंख्य घिनौने कीड़ों के रेंगने का अनुभव करती है तो विद्रोह कर देती है । लेखक को मानवीय संबंधों व स्थितियों को पूरी कलात्मकता के साथ उकेरने में महारत हासिल है । मानवीय संबंधों की अनिवार्यता , स्वाभाविकता और उससे उत्पन्न एकरसता को आधुनिकता के क्षितिज पर विकसित करके लेखक उसे नया आयाम देता है । इस लेखकीय कौशल में आधुनिकता भी अनुस्यूत है ।[4] लेखक के पास निखरी हुई दृष्टि और कलात्मक संयम है जो आद्यन्त पूरी कृति में एक कसाव और तनाव बनाये रखता है । यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास के माध्यम से शरद देवड़ा ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक नई भंगिमा प्रदान की है जिसमें एक प्रकार की ताज़गी है । इस उपन्यास की रचनात्मक संगति व परिणति देखकर डॉ० इन्द्रनाथ मदान के इस कथन से सहमत होना

१- टूटती इकाइयाँ, पृ० २६ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० २७ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० २६ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ४२, ४३,४४ ।

मुश्किल लगता है कि इस उपन्यास में खोखलेपन, रीतेपन का बोध, मौत का भयावह सन्नाटा, उपन्यास में उपन्यास-कला पर चिन्तन आधुनिकता-बोध की गवाही तो देते हैं, लेकिन इसे सृजन के स्तर पर उठा नहीं पाते।"[1]

संबंधों के बीच घिर आया रोमांटिक कुहासा धीरे-धीरे छंटने लगता है और वितृष्णा के माध्यम से संबंधों का खोखलापन उभरने लगता है।[2] पुरुष और नारी के बीच अपरिचय और परायापन उग आता है तथा उसे नारी के चेहरे के मुंहासे और फुंसियां बड़े आकार की लगने लगती हैं। उसके हाव भाव और व्यवहार से उसके गले में कुछ अटक जाता है और वितृष्णा से मुंह का स्वाद खट्टा हो उठता है।[3] नारी के खाने का ढंग देखकर सारी रोमानियत उड़न-छू हो जाती है और पुरुष "लिजलिजी वितृष्णा" से सिहर उठता है। संबंधों का ठंडापन दोनों के बीच धीरे-धीरे पसरने लगता है। यह वस्तुतः बौद्धिकता का अतिरिक्त दबाव है जिसे आज का आधुनिक मनुष्य चेतना के स्तर पर भोग रहा है। जब नारी पुरुष की तरफ़ मुखातिब होती है तो वह एकाएक उसे पहचान नहीं पाता। उसे लगता है जैसे यह स्त्री कोई और है और इसका चेहरा पहले का मेरा देखा हुआ नहीं है।[4] नारी के चेहरे के छिपे गड्ढे अधिक गहरे लगने लगते हैं, ओंठ बिलकुल रक्तहीन सफेद तथा कान बड़े-बड़े दिखाई पड़ने लगते हैं। और पुरुष से देर तक उस चेहरे की ओर देखा नहीं जाता। संबंधों के बीच यह वितृष्णा और घृणा दरार उत्पन्न करती है। फिर यह दरार इतनी चौड़ी हो जाती है कि इसमें दोनों का अपना व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है और शेष रह जाती है केवल दरार जो संबंधों के अजनबीपन को उभारती है।

नारी के फैले हुए ढीले शरीर और मांस के दो भारी और निर्जीव लोथड़ों से पुरुष को किसी "प्रौढ़ा की लाश" का भ्रम होता है। पुरुष को लगता है, "तुम्हें पहचान नहीं पा रहा हूं या तुम्हारे जिस रूप को पहचानता रहा हूं, वह यह नहीं है। इस समय तुम 'तुम' नहीं हो, लगता है; हजारों वर्ष आयु की एक बुढ़िया हजारों कोस पैदल चलने के कारण थक चुकी हो और अब अपनी मंजिल

१- 'हिन्दी-उपन्यास : एक नई दृष्टि', पृ० ८२।

२- 'टूटती इकाइयां', पृ० ६४।

३- पूर्वोक्त, पृ० ६५।

४- पूर्वोक्त, पृ० ६६।

के आखिरी पड़ाव की ओर लंगड़ाती हुई चली जा रही है।[1] अजनबीपन और परायेपन का बोध पुरुष को घेरे लेता है तथा वह इस बीभत्सता से दूर भागकर 'अंधेरे बंद कमरे' के मधुसूदन की तरह निम्मो जैसी देहाती लड़की से विवाह कर बैठता है। मोहन राकेश ने सुषमा श्रीवास्तव के समर्पण के बाद मधुसूदन के पलायन का संकेत कर उपन्यास समाप्त कर दिया है। शरद देवड़ा इसके आगे की स्थितियों और परिणतियों का उसकी स्वभाविकता में अंकन करते हैं तथा इस पलायन की रोमानियत की बखिया उधेड़कर रख देते हैं। पुरुष का शहरी सौन्दर्य-बोध और उसकी पत्नी की ग्रामीण फूहड़ता आपसी संबंधों में तनाव पैदा कर देती है। पुरुष द्वारा उसको सहेजने, संवारने और समझाने की कोशिश के जवाब में वह कहती है, "ये सब तो कोठे पर बैठनेवालियां करती हैं।" पुरुष विवशता जन्य क्रोध के साथ सोचता है कि क्या यही उसके 'सपनों का संसार' है।[2] पांच वर्षों बाद वही नारी उसे ताज़ा और आकर्षक लगने लगती है। यहाँ जीवन की भ्रमजालिक भंगिमाओं का उद्घाटन रचनात्मक स्तर पर हुआ है।

पत्नी के पेट बढ़ने के साथ पुरुष उससे अधिकाधिक दूर होता जाता है। पत्नी अनुभव करती है कि दोनों के बीच जो स्नेह, अपनत्व, प्यार का संबंध-सूत्र और आत्मिक गठबंधन था - वह अब टूट चुका था। अब उनके बीच केवल दैहिक संबंध था।[3] पुरुष 'मदोन्मत्त हाथी' की तरह पत्नी की देह को रौंदता-मसलता और 'आदमखोर बाघ' की तरह नाखूनों और दांतों से उसका मांस नोचता। लेकिन जैसे-जैसे गर्भस्थ शिशु बड़ा होता गया, पत्नी के मन में इस 'वहशियाना नोच-खसोट' के प्रति अरुचि और वितृष्णा उत्पन्न होने लगी। संबंधों के बीच पनप आया यह कसैलापन दाम्पत्य जीवन में अपनी कड़वाहट घोलने लगा। पुरुष द्वारा संभोग के लिये किये गये असफल प्रयत्न, उसकी विवशता और क्रोध पर पत्नी के मन में एक 'पाशविक किस्म' का आनंद आने लगा। और इस प्रकार केवल आत्मिक और मानसिक ही नहीं, दैहिक स्तर पर भी वे क्रमशः दूर होते चले गये तथा एक घर में रहते और एक कमरे में सोते हुए भी वे परस्पर अजनबियों-सा व्यवहार करने लगे।[4]

१- 'टूटती इकाइयां,' पृ० ७२-७३।
२- पूर्वोक्त, पृ० ९९।
३- पूर्वोक्त, पृ० १०७।
४- पूर्वोक्त, पृ० १०९।

बच्चा जनने के बाद पत्नी का शरीर पुन: गदरा जाता है और ऐसा आभास होता है कि उनके बीच की दूरी और संबंधों की टूटन अब समाप्त हो जाएगी । किन्तु बच्चा फिर आड़े आ जाता है । उत्तेजना की चरम स्थितियों में बच्चे द्वारा व्यवधान उत्पन्न करने पर वह खीझकर अत्यंत तिक्त स्वर में कहता है : "पत्नी नहीं, तुम केवल माँ हो । मैं तो तुम्हारे लिए मर चुका हूँ"। दोनों के बीच यह जो तीसरा आ गया था, वह हमेशा संबंधों के बीच में खड़ा रहा । पुरुष को यहाँ अपने दाम्पत्य संबंधों में खालीपन और ठहराव का बोध होता है । वह अनुभव करता है कि दोनों के बीच का संबंध सूत्र टूट चुका है और दूसरे किसी सूत्र के अभाव में दोनों अपने-अपने दायरों में सिमटे, अलग-अलग दिशाओं में बहने को मजबूर हैं ।[1]

पत्नी अपने बच्चे में उलझ जाती है तथा पुरुष अपने भीतर के खालीपन को पूर्व संबंधों को जीवित कर भरने की कोशिश करता है । लेखक ने बड़ी साफ़गोई के साथ बिना कहे, पुरुष और नारी के टूटने और समझौता करने की नियति को ध्वनित कर दिया है । टूटन के ऐसे बिन्दुओं से इन पात्रों के जीवन में संबंधों का अजनबीपन गहराने लगता है। यह अजनबीपन उनके भीतर ऐसी बोरियत उभारता है जो लाख चाहने पर भी पीछा नहीं छोड़ती । पुरुष फफक-फफक कर रोते हुए अत्यंत विवश भाव से कहता है, "इस घर को नरक मत बनाओ, गीता! नरक मत बनाओ, मत बनाओ वरना मैं अधिक दिन जीवित नहीं रह सकूँगा । मैं इस ज़िंदगी से ऊब गया हूँ --- टूट-टूट गया हूँ ।[2] लक्ष्मीनारायण लाल अपने उपन्यास "काले फूल का पौधा" में दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न हुए तनाव पर अपना सुखद अंत आरोपित कर देते हैं पर शरद देवड़ा इस उपन्यास के अंत को खुला छोड़ देते हैं । डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है : "इसके मूल में आधुनिकता का बोध है जो रूढ़ियों को तोड़ता है, पात्रों को अनाम बनाता है और अंत को खोल देता है ।[3]

बच्चों की चिल्लपों पुरुष को और अजनबी बना डालती है और वह अपनी प्रेमिका से सुबकियों के बीच कहता है, "मुझे यहाँ से कहीं दूर ले चलो, इतनी

१- "टूटती इकाइयाँ", पृ० ११७ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १२४ ।

३- 'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि', पृ० ८२ ।

दूर जहाँ इस मूर्ख औरत की छाया भी मेरे ऊपर नहीं पड़ सके ।[१] छिपकर सुनती हुई पत्नी भूखी शेरनी के समान बिफर उठती है और चीख-चीखकर उनके संबंधों की चीर-फाड़ करने लगती है । पुरुष वहशियों की तरह पत्नी का गला दबोचने लगता है, अंधाधुंध उस पर लात-घूंसों की बारिश करने लगता है और फिर थककर स्वयं अपना सिर पटक-पटक कर खून से लाल कर लेता है । इस विवशता के बीच अजनबीपन का बोध भयावहता के साथ गहराता है । सब अपने-अपने भाग्य को कोसते रहते हैं और एक दूसरे को कोसते हुए और अजनबी बनते जाते हैं । आपसी लगाव-जुड़ाव की समाप्ति के साथ वे इस संसार से कट जाते हैं और क्योंकि इसमें इन सब को नरक की अनुभूति होती है । घर में रोटियाँ सेकती पत्नी की विवशताजन्य पीड़ा तीखे रूप में उभरती है क्योंकि अंतत: पुरुष तंत्रात्मक समाज में नारी की स्थिति अत्यंत दयनीय है । पत्नी कहती है - 'मुझे कब इस ज़िंदगी के नरक से छुटकारा मिलेगा, प्रभु !! अब और नहीं सहा जाता ---- और नहीं सहा जाता !!'[२]

इस तरह यह उपन्यास आधुनिक जीवन की रागात्मकता के छीजने से और संबंधों के बीच पनपते अजनबीपन की भावना को गहराई के साथ प्रस्तुत करता है ।

१५ -'एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ कागज़'

नई कविता के प्रवर्तक कवि और व्याख्याता लक्ष्मीकान्त वर्मा का यह उपन्यास 'एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ कागज़ (१९६५) संभावनाओं की नई ज़मीन तोड़ता है । डॉ० चंद्रकान्त बांदिवडेकर ने इस उपन्यास में परिवेशवाद के आक्रमण से उत्पन्न सांस्कृतिक ख़तरे के पूर्वचिन्ह को देखा है ।[३] इस कृति में आकर लक्ष्मीकान्त वर्मा 'खाली कुर्सी की आत्मा' की घटनात्मकता और चरित्रांकन

१-'टूटती इकाइयाँ', पृ० १२८।

२- पूर्वोक्त, पृ० १३१।

३-'उपन्यास : स्थिति और गति'- डॉ० चंद्रकान्त बांदिवडेकर, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७७, पृ० २४।

पद्धति से शिल्पगत वैशिष्ट्य के आधार पर मुक्ति पा जाते हैं । इसमें वे एक अत्यंत गंभीर रचनाकार के रूप में उभरते हैं । इस रचना में निर्मल वर्मा के समान चरित्रों पर ज़ोर न देकर वातावरण के माध्यम से वे आधुनिक जीवन की विडम्बनापरक परिणतियों का साक्षात्कार करने का उपक्रम करते हैं । और इसमें वे काफी हद तक सफल रहे हैं । प्रस्तुत रचना के माध्यम से उन्होंने आधुनिक जीवन की ऊब, एकरसता, अर्थहीनता, संदर्भहीनता, अकेलापन और अजनबीपन के विविध रूपों को पूरी सूक्ष्मात्मकता के साथ अपने पैने लेखन में उतारा है ।

निशि दाय की मरीज़ थी जिसे लेकर "वह" पहाड़ियों पर आया था । आज निशि की चौथी बरसी है । पिछले चार-पांच वर्षों से एक ही मकान पर अपनी कुर्सियों, तिपाइयों, आल्मारियों तथा मेज़ और फुलावर बेसिन को देखकर "वह" सोचता है मानो ये चीज़ें ज़मीन फोड़कर उग आई हों और इनकी जड़ें ज़मीन के नीचे-नीचे फैलती जा रही हों ।[१] इस प्रकार का सोच "वह" के जीवन में आ गई एकरसता और ऊब को प्रकट करता है । उसे आइने में अपनी शक्ल "अचीन्ही-सी" मालूम पड़ती है । एक अजीब किस्म की जड़ता व निष्क्रियता उसके सारे अस्तित्व को दबोचे हुए है जिससे वह चाहकर भी मुक्त नहीं हो पाता । जब "वह" रंगीन चिड़िया की आंखों में आंख डालकर देखता है तो उसे वहां भी एक अजीब उदास ठंडापन पसरा हुआ दिखाई पड़ता है । इस एकरसता और जड़ता-निष्क्रियता की स्थिति को गूंगी का गूंगा-चरित्र और ज़्यादा गहराता है । उसे रह-रहकर यह बोध सताने लगता है कि उसका अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है । उसकी सारी आकांक्षाएं - कामनाएं गुलदस्ते की तरह झनझनाकर चकनाचूर होती जाती हैं और वह कहीं भीतर से आहत हो उठता है । वह अपने कमरे के बाहर नहीं जा सकता क्योंकि कमरे के बाहर की दुनिया बड़ी छोटी है । इसमें हर चीज़ अपनी ठीक जगह से इतनी बंधी है कि उसे "हिला डुलाकर" भी किसी अद्वितीय अर्थ तक नहीं ले जाया जा सकता । "वह" सोचता है ; दिन को दिन ही मानकर चलनेवाली दुनिया

१-'एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ कागज़' - लक्ष्मीकान्त वर्मा, १९६५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ० ५ ।

बूढ़ी हो चली है । रात को रात मानकर चलनेवाले लोग थक चुके हैं ।[१]

उपन्यास के पूरे वातावरण में थकावट, उदासी, ऊब, अकेलापन और अजनबीपन का बोध संश्लिष्ट रूप में गुंथा हुआ है । 'वह' को हर जगह परायेपन का भाव दबोच बैठता है । एक तरह की अवशता उसकी चेतना को घेर लेती है । ऐसा लगता है जैसे वह अपनी सारी क्रियाएँ हँसना, बोलना, रोना- चिल्लाना सब भूल चुका है । शायद उसकी स्मृति नष्ट हो गई है । चाहते हुए भी वह किसी को पहचान नहीं पाता और पहचानते हुए भी शायद वह जान नहीं पाता ।[२] वह वृद्ध पेंटर को घूर-घूरकर देख रहा है । वह इतना अपरिचित है, इतना ज्यादा कि वह परिचित लग रहा है ।[३] उसे आभास होता है, जैसे उसके भीतर एक भारी खालीपन व्याप्त हो गया है ।[४] अपनी अनिच्छा के बावजूद वह अंधकार का साक्षी बनने के लिए विवश है । अंधकार और उसके साथ फैलनेवाली उदासी जैसे उसे चारों ओर से घेरकर अपनी कुंडली में कसे आ रही है ।[५] उसे लगता है वह विवश होकर इस अँधेरे कमरे में डूब जाएगा । शायद इस अँधेरे में डूबना ही उसकी मुक्ति और निष्कृति है । यह अँधेरी रात और उससे रिसता अनवरत अकेलापन उसे अपनी परिधि में शव-सा बना देते हैं ।[६] इस भयानक अंधकार में उसे अपनी पहचान गुम होती मालूम पड़ रही है । 'वह' बारम्बार अपने अंगों को छूकर यह अनुभव करना चाहता है कि वह है - उसका अपना अस्तित्व है । उसे अपने हाथ अजनबी जैसे लगते हैं । हैरान होकर जब वह अपने संपूर्ण शरीर को देखना चाहता है तो उसे अनुभव होता है कि वह संपूर्ण कुछ नहीं है, 'वह महज टुकड़े-टुकड़े हैं -- अलग अलग हैं -- बिल्कुल अलग - अलग[७]

१- 'एक कटी हुई जिंदगी : एक कटा हुआ कागज'- लक्ष्मीकान्त वर्मा, १९६५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ० १५ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० २३ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० २८ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ३४ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ३७ ।

६- पूर्वोक्त, पृ० ४७ ।

७- पूर्वोक्त, पृ० ४८ ।

वह इस संसार में अकेला है और जीवन भर अकेला रहेगा । किन्तु दीप्ति को लेकर उसे लगता है कि शायद वह उसके इस खण्ड-खण्ड अस्तित्व को जोड़ दे --- एक कर दे --- संपूर्ण कर दे ।[१] उसकी ठंडी नीरस और बेतरतीब ज़िंदगी को दीप्ति थोड़ी-सी आँच दे जाती है । पर वह दीप्ति को जितना अधिक अपने निकट पाता है उतना ही वह उससे दूर हो जाता है।[२] दीप्ति भी अपना संपूर्ण स्वत्व किसी को नहीं दे पाती । उसे चारों तरफ़ विवशता और बंधन दिखाई पड़ते हैं । उसके इस सह अस्तित्व में कहीं कोई ऐसा टुकड़ा है जो अलगाव पैदा कर देता है और वह स्वयं अपने से भी अपरिचित लगने लगती है । संबंधों के इस अपरिचय और अलगाव की भूमिका में उसे अपनी अनुभूतियाँ निरर्थक और बेमानी लगती हैं । वह सोचता है वह अकेला है, केवल अकेला । उसके साथ कोई नहीं है --- कोई था भी नहीं ।[३] वह जानता है कि अँधेरा उसी को खलता है जिसे रोशनी का मोह होता है लेकिन उसे न रोशनी से मोह है, न अँधेरे से घबड़ाहट । इसी से अपने कमरे के 'अँधेरे रेगिस्तान' में वह चाहकर भी बिजली नहीं जला पाता ।[४] उसे अपने आस-पास बिखरे शब्दों से ऊब हो गई है क्योंकि प्रत्येक शब्द रास्ते का रोड़ा बनकर उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति को अवरुद्ध कर देता है । उसके कमरे के रेगिस्तान के संदर्भ में बाहर का हरा-भरा जंगल बिलकुल बेमानी लगता है । वह निशि से स्वीकार करता है कि वह कहीं भटक गया है । उसे सब कुछ बासी - बासी फीका-सा लगता है, यहाँ तक कि निशि भी । उसे मालूम पड़ता है कि जीवन के अनेक पथों में से जिस पथ को उसने चुना है, वह किसी भयंकर रेगिस्तान में आकर खो गया है ।[५] यहाँ हमें उपन्यासकार दोस्तोएवस्की के 'द ईडियट' के राजकुमार मिश्किन की याद आने लगती है ।

१- 'एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ कागज़', पृ० ४६ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ६० ।

३- पूर्वोक्त, पृ० १०१ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० १०४ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ११३ ।

इस उपन्यास के सारे पात्र 'वह' निशि, दीप्ति, कैवल सभी बौद्धिकता से ग्रस्त हैं। इस उपन्यास का मिजाज नया और तैवर आधुनिकता का है। लक्ष्मीकान्त वर्मा इस उपन्यास में शिल्पगत कसाव के साथ प्रस्तुत हुए हैं।

दीप्ति और कैवल पति-पत्नी हैं। दोनों एक सामाजिक बंधन में बंधे हुए हैं। यह बंधन ऐसा है जिसे दीप्ति तोड़ नहीं पाती पर इसे स्वीकार भी नहीं कर पाती। वह इसे इसलिए तोड़ती नहीं है कि बंधन का उसके जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। और स्वीकारती इसलिए नहीं क्योंकि कैवल अब उसके जीवन में नाम मात्र के लिए है।[१] दीप्ति को कैवल अजनबी लगता है[२] और कैवल ज़िंदगी के उस मोड़ पर पहुंच चुका है जहाँ जीवन अर्थहीन हो उठता है। उसे कोई बीमारी नहीं है, कोई रोग नहीं है, फिर भी उसे कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती।[३]

'नाईल वैली' में पड़ा हुआ अतिशय बौद्धिकता से ग्रस्त 'वह' चरम सत्य के साक्षात्कार के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है और इसी में उसने अपने जीवन को सामान्य अर्थों में विनष्ट कर डाला है। 'वह' के इस बौद्धिक 'आउटसाइडर' का रूप लेखक ने विशेष रूप से चित्रित किया है।[४] 'वह', दीप्ति और कैवल- सभी अजनबीपन की भावना से ग्रस्त त्रस्त और विवश हैं। सब ने अपने भीतर एक-एक रेगिस्तान बसा लिया है। मृत्यु ने निशि को 'वह' के जीवन से छीन लिया है। और अब उसके जीवन के चारों ओर मरुस्थल और जलता श्मशान शेष है।[५] 'वह' दीप्ति से बड़ी खुशी के साथ कहता है कि मुझे मेरे सपनों से अलग मत करो। मेरे जीवन में 'क्या है जिसे लेकर मैं जीऊं।[६] यहाँ 'वह' की ज़िंदगी की अर्थहीनता और निरुद्देश्यता की पीड़ा बड़ी मार्मिकता के साथ साकार होती है। 'वह' को प्रतीत होता है, 'ज़िंदगी का वास्तविक अर्थ है हर अनमनी चीज़ और हर बेढंगे व्यवहार को सहन करना --- न चाहते हुए भी कुछ ऐसा करने के लिए विवश होना जिसके प्रति न तो रुचि हो और न जिसे करने में कोई हर्ष-उल्लास होता हो।[७]

१- 'एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ कागज़', पृ० १३१।
२- पूर्वोक्त, पृ० १४१।
३- पूर्वोक्त, पृ० १४३।
४- पूर्वोक्त, पृ० १७३ से पृ० २०० तक।
५- पूर्वोक्त, पृ० १६२।
६- पूर्वोक्त, पृ० १६३।
७- पूर्वोक्त, पृ० १६५।

'वह' के पास अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा नहीं है ।[1] वह संपूर्ण रूप से अकेला और भटका हुआ आदमी है । उसे बराबर यह आभास होता है कि उसकी वास्तविक पराजय अपनी व्यक्तिगत और बिलकुल ऐसी निजी समस्याओं को लेकर है जो अपने में नहीं, अपने से बाहर उगती, पनपती और विकसित होती हैं ।[2] "उसकी ज़िंदगी कहीं कट गई है ---- बिलकुल अलग हो गई है ---- उसके अपने बंधन से छूट गई है या छूट जायगी--- या छूट चुकी है --- वस्तु स्थिति क्या है यह वह नहीं जानता क्योंकि वर्तमान की निरीहता भविष्य का आतंक और अतीत की स्मृति - इनमें से कोई भी उसके पास शेष नहीं है -- ।[3] 'वह' की इस प्रकार की अनुभूति से, उसका अजनबीपन प्रत्यक्ष हो उठता है । 'वह' वर्तमान , भूत और भविष्य से कट जाता है, परम्परित मूल्यों में अपना विश्वास खो बैठता है तथा स्वयं अपने जीवन से और इस संसार से कटकर अजनबी बन जाता है । 'वह' के इस अजनबीपन को लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इस उपन्यास की रचनात्मक अन्विति में कलात्मक कौशल के साथ विकसित किया है ।

१६ - 'लोग'

गिरिराज किशोर का परम्परित शैली में लिखा गया उपन्यास 'लोग' (१९६६) एक बिलकुल भिन्न भावभूमि पर रचा गया है । अब तक ऐसी रचनाएं हिन्दी में आई थीं, जिसमें आम जनता के विदेशियों के प्रति आक्रोश, क्षोभ व संघर्ष को रचनात्मक स्तर पर स्वर प्रदान किया गया था । इस उपन्यास में पहली बार अंग्रेज़ों से जुड़े अभिजात्य वर्ग की मानसिकता, उनके विचार, रहन-सहन सोच का तरीका और उनकी सामंती ठसक को प्रामाणिकता के साथ कलात्मक रचाव में प्रस्तुत किया गया है । इस स्तर पर 'लोग' की सृजनात्मकता यथार्थ के विविध

१-'एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ कागज़', पृ० १६६ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १६७।

३- पूर्वोक्त, पृ० १७१ ।

आयामों को खोलती है । इस उपन्यास में अजनबीपन की अवधारणा दूसरे स्तर पर प्राप्त होती है । उपन्यास की पृष्ठभूमि देश के स्वतंत्र होने के पहले के कुछ वर्षों की है । उस समय तक विदेशी शासन के प्रति भारतीय जनता का संघर्ष अत्यंत उग्र हो चला था और देश का स्वतन्त्र होना लगभग निश्चित था । अंग्रेजों से जुड़ा अभिजात वर्ग उस समय अपने आपको आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर डूबता हुआ महसूस करने लगा । गिरिराज किशोर ने स्वयं उपन्यास के कथ्य को स्पष्ट करते हुए भूमिका में लिखा है :

" उस वर्ग से संबद्ध हर एक वर्ग के " लोग " अपने आपको " छूट गया " हुआ सा महसूस कर रहे थे । उन लोगों के मन में इस नये परिवर्तन के प्रति अरक्षा, मूल्यहीनता, संस्कारहीनता , उच्छृंखलता, विघटन आदि सब प्रकार की आशंकाएं थीं । अंग्रेजों का जाना उस " पूरे " वर्ग के व्यक्तिहीन हो जाने की सूचना थी । उनमें से कुछ बदलते हुए संदर्भों के अनुरूप अपने को ढाल पाने में असमर्थ रहे । वे ही " लोग " यहां हैं ।[१]

एक विद्वान ने इस उपन्यास के " इन लोगों " का विवेचन करते हुए टिप्पणी की है ; " अपने ही देश में ये लोग अजनबी हो गये थे । अपने देश के वर्तमान से एक अलगाव और उसकी क्रियाशील चेतना के प्रति अन्यमनस्क थे । ऐसी स्थिति में इनके सोचने का नजरिया न अपना रह गया था और न पराया ही ।[२]

अमिलकार कबराल ने इस संदर्भ में लिखा है कि स्वातंत्र्य आंदोलन के प्रारंभ के साथ परतंत्र देशों में एक नई सांस्कृतिक सक्रियता के साथ सांस्कृतिक नवजागरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है । विदेशी शासन के दमन, उत्पीड़न , अत्याचार और अपमान से संत्रस्त संस्कृति ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए शरण लेती है तथा परतंत्रता से उत्पीड़ित इ लोगों के

१- " लोग " - गिरिराज किशोर, लोकभारती प्रकाशन, द्वि०सं०, ७२, भूमिका

२- 'आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास', पृ० २३० ।

मानस में रचती-बसती है । इसके विपरीत समाज का एक सुविधावादी मौकापरस्त वर्ग विदेशियों से गठबंधन कर बैठता है । उपनिवेशवाद के दौर में पनपे इस देशी विशिष्ट वर्ग की अपनी अलग सांस्कृतिक विशिष्टताएं होती हैं । यह वर्ग सामान्यतया विदेशी अल्पसंख्यकों -सा नहीं, तो कम से कम उनसे मिलता- जुलता जीवन बिताने की कामना रखता है । इसी लिए वे अपनी जातिगत, पारिवारिक या सामाजिक संबंधों को क्षति पहुंचा कर और निजी कीमत चुका कर भी विदेशी अल्पसंख्यक वर्ग के साथ अभिन्न होने की कोशिश करते हैं । यहां तक कि अपने देश के सांस्कृतिक मूल्यों के बारे में भी ये विशिष्ट वर्ग विदेशी उपनिवेशवादियों जैसे विचार रखते हैं । सत्ता से जुड़े देशी विशिष्ट वर्ग के ये लोग अपने मूल सांस्कृतिक परिवेश से उखड़कर अपने लोगों के समाज में ही अजनबी हो जाते हैं ।[1] इनका यह अजनबीपन का बोध देश की स्वतंत्रता के साथ उस समय और ज्यादा घटक होने लगता है जबकि बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने और समझौता करने में अपने को नितान्त असमर्थ पाते हैं । इस असमर्थता-बोध से और उनके मानस में कुंडली मारकर बैठी हुई अतीत की शान-शौकत भरी गर्वीली यादों के दंश से तथा उजड़ते हुए वर्तमान के क्षोभ से अजनबीपन की भावना उनके मानस में तेज़ी के साथ गहराने लगती है ।

गिरिराज किशोर ने इसी वर्ग के इस बेगानेपन और परायेपन की अनुभूति को, इनके क्रमशः धीरे-धीरे टूटने को, सामाजिक-सांस्कृतिक और वैचारिक मूल्यों और जीवन-पद्धतियों के स्तर पर उत्पन्न हुए मोहभंग, मूल्यगत विघटन और परिणामस्वरूप मूल्यों के स्तर पर इनके अकेले पड़ने को पूरी सृजनात्मकता के साथ, अत्यंत संवेदनशील रूप में प्रस्तुत किया है । लेखकीय तटस्थता और निस्संगता साहित्यिक रचनाशीलता को प्रखर व प्रामाणिक बनाती है । लेखक ने ढहते हुए सामंती मूल्यों और सामंती ठसक के खोखलेपन को बिना किसी लाग-लपेट के पूरी जीवन्तता के साथ उभारा है । लेखक का यह प्रयास हिन्दी उपन्यास के नये आयामों की सो[illegible]नता है । अंग्रेजी भारत के सामाजिक इतिहास का ऐतिहासिक विवेचन व चित्रांकन केवल प्रेमचंद य

१- "धर्मयुग" मारिशस विशेषांक, १३ जून, १९७९, वर्ष २७, अंक २४, पृ० ३५ पर अभिलकार कबराल का अनुवादित लेख ।

भगवती चरण वर्मा के उपन्यासों से नहीं हो पाता । सत्ता से लगाव-जुड़ाव रखनेवाले अभिजात वर्ग का चित्रण इन उपन्यासों में अत्यंत एकांगी और पिटे-पिटाये बंधे तरीके से होता रहा है जो इनके पूरे परिवेश को संपूर्णता में उभारने में असमर्थ रहता है । गिरिराज किशोर ने इस दृष्टि से इस कमी को पूरा करके साहसिक और सराहनीय कार्य किया है । प्रस्तुत उपन्यास अपने शैल्पिक कसाव व रचाव के लिए भी उल्लेखनीय है । अपने दूसरे उपन्यास 'जुगलबंदी'[१] में इसी विषय को गिरिराज किशोर सृजनात्मक स्तर पर नहीं बांध पाते और उपन्यास बिखराव का शिकार हो जाता है । इस अभिजात वर्ग और उसके पूरे सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश और उसके सोच को समझने- परखने का सहानुभूतिपूर्ण ढंग से संवेदनशील प्रयास उर्दू लेखिका कुर्रतुलएन हैदर के उपन्यास 'आग का दरिया'[२] में उपलब्ध होता है जो इस दृष्टि से तुलनीय है ।

'लोग' में एक बच्चे के माध्यम से सारी घटनाएं वर्णित हैं । बच्चे के मानस में तैरती घटनाएं, मुबारकबाद, मिठाइयां, सीढ़ि निपोरते मुसाहिब, बाबा का मंद-मंद घनी मूछों में मुस्कराता चेहरा और उनका रौब-दाब, साहब बहादुरों का आतंक आदि उस वातावरण के आभिजात्य को पूरी गरिमा से पाठक के मानस में उकेर देते हैं । पाठक उस आभिजात्य से अभिभूत भी होता है और आतंकित भी । उपन्यास के केन्द्रीय चरित्र रायसाहब यशवंत राय के इर्द-गिर्द आभिजात्य का प्रभामण्डल उनकी सामंती ठसक के साथ लेखक ने कलात्मक और सर्जनात्मक रूप में मूर्तिमान किया है । लेखक की रचनात्मकता का वैशिष्ट्य इसे आद्यन्त बनाये रखने में है । रायसाहब यशवंत राय बर्तानिया सरकार के प्रति पूर्ण रूप में समर्पित हैं । पर यह समर्पण अभिजातवर्गीय सीमाओं में घुला है । इसी से वे अपने परम्परित सामंती मूल्यों की रक्षा करने के लिए तत्परता से कटिबद्ध हैं । वे अंग्रेज बहादुरों के जलसे में शरीक होते हैं पर अपने ईमान-धर्म की कीमत पर नहीं । शराब वे बिलकुल नहीं छूते और

१- 'जुगलबंदी' - गिरिराज किशोर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं० १९७३।
२- 'आग का दरिया' - कुर्रतुलएन हैदर, हिंदी संस्करण, किताब महल, इलाहाबाद

इसी प्रकरण पर स्मिथ से उनकी झड़प हो जाती है, जो उनके लिए अंत में दुखद होती है। रईसी ठाट के भीतरी खोखलेपन और बाहरी तड़क-भड़क बनाये रखने में हुई उनकी खस्ता हालत, फिजूलखर्ची को बड़ी होशियारी से लेखक ने अंकित किया है। यशवंत राय बुद्धिमान है, घटनाओं के विश्लेषण और उनके दूरगामी परिणामों के आकलन में सक्षम हैं। लेकिन समझौता और जीवन भर जिन मूल्यों से चिपके रहे उसके प्रति विश्वासघात वे नहीं कर सकते। इस प्रकार की व्यावहारिकता और समझदारी उन्हें अत्यंत निम्न कोटि की लगती है। इसी से समय देखकर बदले हुए राय नीलमणिकांत से जो अब कांग्रेसी हो गये हैं, वे बात तक नहीं करते।[1] साम्प्रदायिकता के बढ़ते उन्माद के प्रति वे सचेत हैं। उनकी कांग्रेसियों या सुराजियों से खिन्नता इस बात को लेकर विशेष रूप से है कि जो नई व्यवस्था आ रही है उसमें तहजीब, ईमानदारी और सुव्यवस्था नहीं है।[2] यह एक ऐसी आभिजात्य-रहित टुच्ची संस्कृति है जो अपने अधिकारों के प्रति पूर्ण रूप से सजग है पर अपने कर्तव्यों के प्रति नहीं। राय साहब की वेदना को बड़े तीखे रूप में लेखक ने रखा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमने जिस संस्कृति को विकसित किया है, उसके संदर्भों को गिरिराज किशोर ने बड़ी कुशलता से उठाया है।

लाला चतरसिंह, देवा, काका, किशोरीरमण आदि का चरित्र ढहते हुए सामंती मूल्यों के खोखलेपन और उसमें आई गिरावट को प्रतिबिम्बित करता है। मि० स्मिथ जैसे अहंकारी अंग्रेज और उनके करतब वर्तमान व्यवस्था के भावी पतन के सूचक हैं। खान बहादुर, उमरा, राय नीलमणिकांत आदि भविष्य की नई व्यवस्था की मूल्यहीनता, अक्षमता और कुरूपता को अपने चरित्रों की अवसरवादिता से पूरी सजीवता के साथ उजागर करते हैं। म्यूनिसिपैलिटी के सेक्रेटरी का दुःख[3] स्मिथ और राय साहब के बीच का झगड़ा तथा खान बहादुर उमरा और राय बहादुर जगदीश शरण के दाँव-पेंच[4] आपसी टकराहट को और जीवन में आये मूल्यगत विघटन को बड़ी सूक्ष्मता से उभारते हैं।

१- 'लोग', पृ० २३८।

२- 'लोग', पृ० १४६, १४७, १४८।

३- 'लोग', पृ० १६४-१६५।

४- 'लोग', पृ० १००-१०१, १०६-१०७।

राय साहब जैसे ईमानदार और वफ़ादार आदमी का इस बदलती हुई व्यवस्था में टूटना वाजिब है क्योंकि यह उनकी आस्था का सवाल है। उनका विचार है कि "आदमी दो विश्वास साथ-साथ नहीं जी सकता।"[१] बचपन से लेकर बुढ़ापे तक वे अंग्रेज़ बहादुरों की खिदमत में रहे तथा हमेशा यूनियन जैक के लहराने की बात सोचते रहे। किन्तु अचानक आज़ादी की बातचीत से और मिलने की संभावना से उनके शीशमहल का तिलिस्म टूटता नज़र आ रहा है। नाना प्रकार की अनिश्चितताएं और आशंकाएं उनके मानस में घुमड़ने लगती हैं। जमीन्दार इस परिस्थिति में हाथों में "लोटे लटकाये सड़कों पर घूमा करेंगे"।[२] और इनमें से एक वह भी होंगे। अत्यंत व्यथा से वे लखनऊ में मीर गंगाधर से कहते हैं, "गंगा बाबू --- दीवारें गिर रही हैं।"[३] सिक्का बदलने का उन्हें पूरा अहसास है इसी से वे कहते हैं, "हमें अपनी-अपनी दुकान समेट लेनी चाहिए।"[४] अंग्रेजों के जाने के आभास मात्र से उनका चेहरा भविष्य की सोच में "एकदम रक्तहीन"[५] मालूम पड़ता है। वे चौपड़ खेलने में लीन काका साहब से कहते हैं: कब तक इस तरह काते रहोगे? आगा-पीछा सोचकर चलना चाहिए, यह शीशे का घर है।[६] राय साहब की चिन्ता और व्यथा सब से ज्यादा असंस्कृत लोगों के हाथों में सत्ता जाने की है। उनका कहना है कि वह बर्तानी शासन जो "फाउन्टेन आफ जस्टिस" था, अब सदा के लिए जा रहा है। उनके नीचे की धरती उन्हें खिसकती मालूम पड़ रही है और वे अपने को अधर में लटका पा रहे हैं। इसी प्रक्रिया में वे क्रमशः धीरे-धीरे टूट रहे हैं।

रायसाहब उस पूरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपने स्वार्थों की दृष्टि से अंग्रेजों से मानसिक स्तर पर जुड़ा था। यह वर्ग कैसे अपने लोगों के बीच बेगाना हो गया, कैसे वह महात्मा गांधी, उनके आंदोलन और तिरंगे से अपना तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाया और जो नई व्यवस्था आई कैसे उसके लिए अपरिचित

१- "लोग", पृ० १५२।

२- "लोग", पृ० १४६।

३- "लोग", पृ० २०४-२०५।

४- "लोग", पृ० २०५।

५- "लोग", पृ० २०८।

६- "लोग", पृ० २०६।

और अजनबी बनी रही - इसका मार्मिक उद्घाटन गिरिराज किशोर ने यशवंत राय के माध्यम से किया है । अपने आसपास की हलचलों और समाज से अलगाव की विवशता जन्य व्यथा से अजनबीपन का बोध उनके मानस में गहराने लगता है । यशवंत राय के मानस में यह अजनबीपन की अनुभूति कई स्तरों से फूटती है - स्मिथ जैसे अहंकारी अंग्रेज अफसरों के दुर्व्यवहार से,[1] देवा और चतरसिंह की रंगीनियों से,[2] खान बहादुर, राय बहादुर और इमरता की पैंतरेबाज़ियों से, राय नीलमणि कांत के दल बदल और स्वराज्य प्राप्ति की घोषणा से । कई स्तरों से उभरकर यह अजनबीपन राय साहब की चेतना पर छा जाता है और सारी क्रियाएं उन्हें अर्थहीन लगने लगती हैं । इस अर्थहीनता को तोड़ने के लिए वे घर पर ही क्रिसमस मनाने का आदेश देते हैं । पर इससे खोखलापन, बिखरापन और अर्थहीनता और ज्यादा उजागर हो जाती है ।[3] महीनों वे इस शॉक से घर के बाहर नहीं निकले । एक दिन गाड़ी निकलवाकर भी "कहाँ जाएं"[4] के असमंजस में वे बाहर नहीं निकल पाये । यह उनकी मन:स्थिति और गहराते अजनबीपन के बोध का सार्थक संकेत देता है । उनके चेहरे का ठंडापन, "मुखौटा-सी मुस्कुराहट"[5] उनकी आंतरिक पीड़ा-व्यथा और इससे उपजे अजनबीपन को रेखांकित करती है ।

१७ - "बैसाखियोंवाली इमारत"

नई पीढ़ी के प्रयोगशील रचनाकार रमेश बक्षी का उपन्यास "बैसाखियों वाली इमारत" (१९६६) आधुनिक मनुष्य के जीवन में आये खालीपन खोखलेपन, मूल्यहीनता और दो-मुँहेपन को बेबाकी से उजागर करता है । इस उपन्यास के बारे में कहा गया है कि इसमें एक चीज़ के गुज़र जाने के बाद दूसरी चीज़ सामने आती है और दूसरी के बाद तीसरी और इस तरह आवाज़ों के शोर में कथ्य गुम

१- "लोग", पृ० १६२, २०१ ।
२- "लोग", पृ० २२२ ।
३- "लोग", पृ० २२५ से २२६ ।
४- "लोग", पृ० २३२ ।
५- "लोग", पृ० २३७ ।

हो जाता है। कोई भी आवाज शोर में से ऊपर उठकर अपनी तल्खी का एहसास नहीं करवाती बल्कि एक शोर का अंग बन जाती है। इस शोर में कथावाचक उलझा है, वसुधा उलझी है, मिस जायस भी उलझी है और संभवत: यह उलझाव ही यथार्थ है। केवल इसमें लेखक का दावा असंगत है, शेष उपन्यास संगति उभारता है। इस संगति में से उभरता हुआ कथ्य का व्यंग्य ही उपन्यास की सच्चाई है।[१] और यही उपन्यास की आधुनिकता है।

महानगर कलकत्ता के परिवेश में लटकी हुई उदासी सारे पात्रों को दबोचे हुए है। पत्नी प्रेम और रोमांस की भूखी है। और न मिलने पर (जैसा कि स्वाभाविक है) हर तीसरे दिन घर छोड़ देने की तैयारी करती है। रमेश बक्शी के कथाकार के लिये प्रेम बीम पर उगा कैंसर है जिसके कारण सब चीजों के स्वाद बदल जाते हैं।"[२] लेखक ने अपने इन विचारों को कथानायक " मैं " में प्रदीप्त किया है जिससे कृति की सृजनात्मक रचनाशीलता खंडित हुई है। कथाकार अपने विचारों को उपन्यास के भीतर से विकसित करने में समर्थ नहीं हो पाया है परिणाम-स्वरूप उपन्यास का शिल्प लड़खड़ा गया है। " मैं " को " मोहब्बत " हमेशा लिजलिजी लगी है, वह जहर खा सकता है लेकिन किसी से प्रेम नहीं कर सकता। वह कहता है, " प्रेम कितनी आउट आफ डेट और प्राचीन संस्कृति प्रधान परम्परायुक्त मूर्खता है।[३] प्रेम-रोमांस की भूखी पत्नी की आकांक्षाओं को कुचलते हुए " मैं " सोचता है कि विवाह के बाद इन " पचड़ों " की क्या जरूरत है। पति पत्नी के बीच के ये दो विपरीत विचारात्मक ध्रुव सृजनात्मक तनाव के वे बिन्दु हैं जिससे उपन्यास की रचनाशीलता को धार मिलती है और वह गतिशील होती है। लेखकीय वैशिष्ट्य उपन्यास के हल्के-फुल्के वातावरण में पैने " व्यंग्यों की अवतारणा है।" मैं " को ताज्जुब होता है कि पत्नी खूबसूरत होने पर भी उसके मन को क्यों नहीं बांध पाती और पत्नी प्रत्येक सुबह-शाम अपने दुर्भाग्य पर आंसू बहाती रहती है। इस प्रकार दोनों के बीच कड़वाहट

१-" आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास ", पृ० २१७।
२-" बैसाखियों वाली इमारत "- रमेश बक्शी, १९६६, अपार प्रकाशन, दिल्ली, " व्यक्तिगत संदर्भ ", पृ० २।

३- पूर्वोक्त, पृ० २०।

धीरे धीरे पसरती जा रही है ।" मैं" की शादी जन्म-पत्रिकाएं मिलाकर की गई थी लेकिन अब पति-पत्नी के ग्रह-नक्षत्र एक दूसरे से कुत्ते-बिल्ली की तरह लड़ रहे हैं ।[१]

"मैं" का चरित्र एक अधकचरे आधुनिक बुद्धिजीवी का है । डॉ० रमेश कुंतल मेघ ने भारतीय परिवेश में ऐसे" आत्मनिर्वासित बुद्धिजीवियों"[२] की विस्तार से चर्चा की है जिनका अजनबीपन व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन के बीच की खाई चौड़ी कर देता है । डॉ० मेघ के अनुसार ऐसे व्यक्ति की" केवल व्यक्तिगत ज़िंदगी ही पराई नहीं होती, बल्कि सार्वजनिक ज़िंदगी भी अलग-थलग पड़ जाती है । नतीजा यह होता है कि आत्मनिर्वासित बुद्धिजीवी बहुत अधिक बुद्धिमान अर्थात् चालाक और बेहद व्यावहारानुभववादी अर्थात् तिकड़मवाला अवसरवादी हो जाता है ।[३] "मैं" एक ऐसा ही अजनबीपन ग्रस्त बुद्धिजीवी है । घंटों रोती पत्नी को देखकर उसके मन में किसी प्रकार की करुणा का उद्रेक नहीं होता । उसके चरित्र का दो मुंहापन उस समय और स्पष्ट हो जाता है जबकि वह प्रेम-रोमांस को एक तरफ़ तो सड़ी चीज़ मानता है, और दूसरी तरफ़ टेलिफोन पर वसुधा से रोमांस करता है, शेनॉज़ में जाकर केवल एक झलक पाने के लिए अपनी पूरी शाम ख़राब करने को तैयार हो जाता है । वह वसुधा को खोना नहीं चाहता ।[४] वसुधा के शरीर की दुबली बनावट के ख़याल से ही वह झुरझुरी का अनुभव करने लगता है । वसुधा "मैं" के लिए लोककथाओं की वह राजकुमारी है जो सवाल पूछ पूछकर अपने आशिक राजकुमारों को मरवा डालती है ।" मैं " के बारे में जायस का यह अभिमत सटीक है कि तुम्हारी बुद्धि भावना के आगे पस्त हो जाती है । और यह कथन 'मैं' के अजनबीपन पर प्रकाश डालता है । इस उपन्यास में आधुनिकता और जीवन की भाग दौड़ में रोमांटिक तर्ज़ पर अपनी बात कही गई है । यद्यपि इसका" टोन" आधुनिकता का है,

---

१-'बैसाखियोंवाली इमारत' - रमेश बक्षी, १९६६, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 'व्यक्तिगत संदर्भ', पृ० ८५ ।
२-'आधुनिकता - बोध और आधुनिकीकरण' - डॉ० रमेश कुंतल मेघ, १९६९, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पृ० २०३ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० २०४ ।
४-'बैसाखियों वाली इमारत', पृ० ८५ ।

जिसमें व्यंग्य का पुट मिला हुआ है तथा साथ ही अवसर पाते ही लेखक इस रोमानियत पर तीखी चोट करने से नहीं चूकता । फिर भी उपन्यास पर रोमानियत की धुंध छाई हुई है । इस रोमानियत का संदर्भ अजनबीपन की भावना से जुड़ा हुआ है, जिसकी चर्चा डैनियल बेल के उद्धरण का हवाला देते हुए डॉ० रमेश कुंतल मेघ ने भारतीय परिवेश में विशेष रूप से की है तथा अजनबीपन के साथ रोमांटिकता का रसात्मक परिपाक देखा है ।[1] 'मैं' के अलावे यह अजनबीपन से ग्रस्त रोमानियत मिस जायस के चरित्र और विचारों में अच्छी तरह से परिलक्षित की जा सकती है । जायस के लिए तथा कथित चरित्रहीनता समझदार नैतिकता की शुरुआत है । उन्हें इस बात की विशेष रूप से चिन्ता है कि भारतवर्ष को अठारहवीं शताब्दी की मूर्खताओं से कब मुक्ति मिलेगी ।[2] उनके लिए उनकी 'फुलटैम' उनकी 'मन से बड़ी सामाजिक उपलब्धि है । 'मैं' की तरह उन्हें भी प्यार-मोहब्बत में बिलकुल विश्वास नहीं है । उनके अनुसार 'मैं ऐसी पहचानें चाहती हूं जिनका भूत-भविष्य कुछ नहीं हो कटे हुए लोग कहीं मिल जाएं और मिलकर किसी दिशा में खो जाएं- मैं इसी को आदर्श मानती हूं ।[3] मिस जायस के ऐसे विचारों से उनकी चेतना में छाये अजनबीपन का रूप स्वत: प्रकट हो जाता है ।

पत्नी, बबुआ और जायस से बनते त्रिकोण में उलझे हुए 'मैं' के जीवन का खोखलापन, दो मुंहापन लेखक के पैने व्यंग्यों से तीव्र रूप में उभरता है । बबुआ को लेकर 'मैं' पर छाई हुई रोमानियत उस समय तार-तार हो जाती है जब उसकी पत्नी इन शब्दों में उसका स्वागत करती है कि 'घर को धर्मशाला समझ सकते हैं, बीबी को वेश्या नहीं ।[4] और सलाह देती है कि पीने के बाद सोनागाछी चले जाया करिये । 'मैं' का दिमाग इन यथार्थ के थपेड़ों से झनझना जाता है । लेखकीय व्यंग्य यहां गहराने लगता है जो दूसरे स्तर पर 'मैं' के जीवन के अलगाव तथा पति-पत्नी के बीच के तनाव और अजनबीपन को प्रत्यक्ष करता है । घर में हमेशा मातम छाया रहता है और दुबहे भरे हुए ढंग से घुटने मोड़कर

१- 'आधुनिकता -बोध तथा आधुनिकीकरण'- डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, १९६९, पृ० २०७।
२- 'बैसाखियों वाली इमारत', पृ० २७ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ६६ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ५० ।

जाती है ।[1] पति-पत्नी दोनों इस तरह एक दूसरे से ऊबे हुए और अजनबी हैं कि यदि उनमें से कोई पूरे प्रदर्शन के साथ एक दूसरे के सामने आत्महत्या करे तो कोई किसी का हाथ नहीं पकड़ेगा ।[2] उनके दाम्पत्य जीवन में "अजीब-सी बियाबान निर्लिप्तता" आ गई है । उन्हें शारीरिक संपर्क भी फीका लगने लगा है और पत्नी महसूस करती है कि उनके जीवन के बीच "कुछ" आ गया है ।[3] इस टूटे हुए पति को मिस जायस के गुलमोहरी शरीर की छाँह में थोड़ा-सा सकून मिलता है । "मैं उदासी की सलीब को ढोना नहीं चाहता पर - - - । पति-पत्नी दोनों जबर्दस्ती एक दूसरे पर लदे हुए हैं, एक दूसरे के मन में असंतोष और कड़ुवाहट घोलते हुए धीरे-धीरे अजनबीपन से ग्रस्त होते जाते हैं । वसुधा की प्रेमिल छाया में भी पत्नी की यादें "मैं" के मन को कसैला बनाती रहती हैं । और "मैं" अपनी इस कड़ुवाहट को अपने अख़बार में किसी की टाँग खींचने में, किसी को नोचने में निकालता है । उसकी निरुद्देश्य खीझ और खोखलाहट अजनबियत के रंग को और गहरा करती है । इधर उसे वसुधा से ताज़गी और उल्लास मिलता है और उधर पत्नी के "प्रस्थान" की तैयारी से उत्पन्न विद्रूपताएं । इनके बीच वह त्रिशंकु-सा लटका रहता है । विवश पत्नी एक दिन उसे छोड़कर चली जाती है : "इसको फटक देने में जो सुख है वह इसको समेट लेने में नहीं है ।[4] और "मैं" भी राहत की साँस लेता है : "प्रेस-कान्फ्रेंस हो या विधान-सभा, किसी का इण्टरव्यू हो या कहीं का संगीत समारोह सारे तनाव अपने अपने परचम उठाये आगे-आगे चलने लगते थे' ।[5]

लेकिन "मैं" को अकेलापन डंसने लगता है । पत्नी की याद उसे कचोटने लगती है - जो उसे बीमार कुतिया की तरह लगती है और वह उसे झिड़ककर भगा देता है । वह वसुधा के फ़ोन की प्रतीक्षा करता है, "मामाजी वाली" वसुधा" की ; जिसे वह एक बार नहीं हज़ार बार चाहेगा, संस्कृत ढंग से नहीं प्राप्त हुई तो जंगली ढंग से प्राप्त करेगा । इसी समय मिस जायस उसके फ़्लैट पर

१- "बैसाखियोंवाली इमारत", पृ०५२।
२- पूर्वोक्त, पृ० ६८ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १०६ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १०८ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० १११ ।

जाती है जिन्हें देखकर उसके मन में अत्यंत वितृष्णा उत्पन्न होती है और वह घबड़ा जाता है । " मैं " अपना सारा आक्रोश, सारी कड़ुवाहट मिस जायस के विरुद्ध उड़ेल देता है ।[१] उसकी इस हरकत के पीछे उसकी रोमानी प्रवृत्ति है जो उसकी अधकचरी आधुनिकता और हवाई विचारों से जुड़ी हुई है ।" सारी दुनिया के किले पर दिमाग का परचम फहरा देने की तमन्ना[२] वाले " मैं " के मकान पर से पर्दा उस समय हट जाता है जब वह शादी और आत्महत्या में से आत्महत्या के विकल्प के चयन की बात करता है ।[3] उसका सुविधावादी चरित्र उसके पलायन से उजागर हो जाता है और उसका जीवन मूल्यों से पलायापन उसके अजनबीपन को तीव्रता से उभार देता है ।

१८ -" एक पति के नोट्स "

महेन्द्र भल्ला का लघु उपन्यास " एक पति के नोट्स "(१९६६) साठोत्तरी युवा लेखन के उस दौर का है जो " नितान्त वैयक्तिक होते हुए भी प्रभाव में निर्वैयक्तिकता " लिये हुए है और जिसकी चर्चा करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने " गैर रूमानी "[४] शब्द का प्रयोग किया है । इस उपन्यास में व्हिस्की है, संभोगीय मुद्राओं से उभरनेवाली बोरियत है और निरर्थकता का तीखा बोध है जो इस उपन्यास का मूल स्वर है और इसी में इस उपन्यास की आधुनिकता है । डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार इसमें आधुनिकता का वह पहलू उजागर होता है जो वैयक्तिकता के घेरे का है । इस उपन्यास में यथास्थिति का स्वीकार है जो आधुनिकता के उस लैमे से जुड़ा हुआ है जिसमें मानव नियति का निरूपण उसकी यथास्थिति में किया जाता है ।[५] इस उपन्यास के मूल स्वर को संभोग में आंकने का डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने तीखा प्रतिवाद किया है ।[६] इस संभोग के साथ जो अतिरिक्त बौद्धिकता और संवेदनशीलता का दबाव

१- 'बैसाखियोंवाली इमारत', पृ० १४१-१४२।
२- पूर्वोक्त, पृ० १५१ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १६५ ।
४- 'आलोचना' (सं० नामवर सिंह) पूर्णांक ४१, जनवरी-मार्च,१९६८,पृ० २१ ।
५-'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि', पृ० ८६ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० ८४ ।

जुड़ा है, उससे यह उपन्यास गुणात्मक रूप में परम्परित उपन्यासों से भिन्न हो जाता है । संभोगीय मुद्रायें पार्श्व में पड़ जाती हैं और उससे उभरनेवाला अर्थहीनता और अजनबीपन का बोध उपन्यास का मूल स्वर हो जाता है । डॉ० नामवर सिंह ने मार्क्स के उद्धरण का हवाला देते हुए युवा लेखन के नग्न सेक्स-चित्रण को व्यावसायिक लेखन की अश्लीलता से लगाया है तथा उसके साथ युवा लेखन को जोड़ने की कोशिश को दृष्टि भ्रम कहा है ।[१] डॉ० नामवर सिंह के उन विचारों के संदर्भ में इस उपन्यास के महत्त्व को कूता जा सकता है ।

इस उपन्यास में आधुनिक मनुष्य की अभिशप्त नियति और विकलता को सशक्त ढंग से उभारा गया है । विवाह के पूर्व सीता के पीछे " मैं " कुत्ते की तरह दुम हिलाते लगा रहता था । सीता में अब कोई खास परिवर्तन नहीं आ गया है लेकिन मैं " को लगता है कि उसके चेहरे और होठों में स्वाद भरते फिर से वक्त लगेगा ।[२] सीता द्वारा उसकी सराहना से " मैं " को गिजगिजा एहसास होता है । चूमने के बाद ध्यान से देखने पर सीता की बदसूरती और अनाकर्षकता उभर आती है । हालांकि वह अपने भावों को छिपाने की कोशिश करता है फिर भी उसके मन में प्रश्न उठता है : " मैं यह नाटक क्यों करता हूं "[३] इस नाटक के पीछे सामाजिक मर्यादा का दबाव काम कर रहा है । आधुनिक मनुष्य की संवेदनशीलता इतनी नाजुक हो गई है कि हल्के से खरोंच से भी उसमें गहरा ज़ख्म हो जाता है । " मैं " इस ज़ख्म को भरने का निरर्थक प्रयास करता रहता है । जिसकी अंतिम परिणति सीता के चेहरे पर विधवापन के निशान दिखलाई पड़ने में होती है ।[४] कभी वह महसूस करता है कि वह कुछ नहीं है, महत्त्व से रहित है । उसे आदर्शों से चिढ़ है । उसकी समझ में यह नहीं आता कि " चूमते या आलिंगन करते वक्त देह की खराबियां रस में क्यों कड़वाहट भर देती हैं ।[५] अपनी महत्वहीनता के अनुभव में टिके हुए खालीपन

१- " आलोचना " - जनवरी-मार्च, ६८, पृ० २२ ।

२- 'एक पति के नोट्स' - महेन्द्र भल्ला, प्र०सं० १९६७, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० १।

३- पूर्वोक्त, पृ० ४ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ६ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ९ ।

की जड़ता को तोड़ने के लिए वह क्या करे ? वह पत्नी के साथ संभोग करता है पर सुबह उठने पर पाता है कि "अफ़सोस'मोई बांह की तरह उसके साथ उठ गया है : " लगा जो कुछ हुआ था नक़ली सा था । दर-असल मैं वहीं था जहां से शुरू हुआ था । कोरा । सब कुछ आगे था । नहीं, न आगे न पीछे । नहीं ।[1] इस ठहराव और एकरसता के अनुभव में अजनबीपन का बोध है ।

नयेपन की खोज में अपने पड़ोसी की पत्नी संध्या से फ़्लर्ट करने के लिए उसका मन लपकता है । फिर वह सोचता है, " क्या फ़ायदा । वही होगा जो सीता के साथ रोज़ करता हूं । और क्या ? कहीं मुझे यकीन था कि मैं और सीता, वैसे रह रहे हैं जैसे सब रहते हैं, जैसे रहा जा सकता है । जैसा भी है यही मूल है । उसमें थोड़ा सा फ़र्क तो पड़ सकता है ज़्यादा नहीं। बुनियादी तो एकदम नहीं ।[2] इसी उधेड़बुन में वह संध्या को फ़ोन करता है, उसकी बातों से उसके मन में अरुचि की एक मैली लहर दौड़ जाती है । पर वह इस " अवसर " को गंवाना नहीं चाहता है । अंत में वह पाता है, " कुछ नया नहीं था । शुरू में मुलायम तपती- फिसलती देह । बाद में वही गीला लिजलिजापन, वही गुदगुदाती छातियां।[3] फिर उसे संध्या की टांगों पर बाल नज़र आने लगते हैं और उसे यह प्रतीत होता है, " अभी जो हुआ था वह वही था जो सीता के साथ होता है, बल्कि लगा कि अभी-अभी जो हुआ था वह दर-असल सीता के साथ ही हुआ था ।[4] और उसके मन को " वही निरर्थकता " मज़बूती से जकड़ लेती है । अधनंगी , लेटी संध्या को देखकर सोचता है " उफ़ । मैंने तब महसूस किया कि असल में मैं इस चीज़ को फाड़ना चाहता था, इसी निरर्थकता को, इसी को । और यही ज्यों की त्यों बनी हुई है ।[5]

संध्या को " पाकर " भी न वह स्वयं संतुष्ट होता है और न उसको संतुष्ट कर पाता है । कॉलिन विल्सन ने हैनरी बारबुस के उपन्यास " ला'इन्फर

१-'एक पति के नोट्स', पृ० २७ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ७० ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ७६ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ७७ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ७७ ।

के नायक का ज़िक्र करते हुए कहा है कि वह एक स्त्री की ज़रूरत महसूस करता है, एक औरत उसे शरीर समर्पित करती है, इसके बाद भी वह मानसिक शांति नहीं महसूस करता। "नायक" के शब्द हैं: "और मैंने जैसी शांति की आशा की थी वैसी प्राप्त नहीं हुई। एक प्रकार की चरम व्याकुलता ने मुझे चकरा दिया। यह ऐसा था कि चीज़ें जैसी थीं, वैसी मैं नहीं देख सकता। मैं और अधिक गहराई से तथा और ज्यादा देखना चाहता हूं।"[1] "मैं" की स्थिति इस आउटसाइडर से मिलती-जुलती है। वह शादी के उपरांत अपनी जान पहचान वालों को, एक-एक को अलग करके शारीरिक रूप से कल्पना में नंगा करके, उलट-पुलट कर, अच्छी तरह से जांच कर देखता है। लोग एक दूसरे को कैसे पाते होंगे इसका अंदाज़ लगाता है। पर उसको गंदगी और घिनौनेपन के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगा।[2] लोग इसको कैसे और क्यों करते हैं, यह प्रश्न उसे उन्मथित कर देता है। यहाँ "मैं" के सारे कार्यकलापों के पीछे बौद्धिकता और संवेदनशीलता के उस अतिरिक्त दबाव को लक्षित किया जा सकता है जिसका संदर्भ कॉलिन विल्सन ने बड़ी सफ़ाई से उठाते हुए रेखांकित किया है तथा जो "मैं" को "आउटसाइडर" या अजनबी बना देता है। उपन्यास में संभोगीय मुद्राएं केवल इस अजनबीपन, निरर्थकता और ऊब को तोड़ने के प्रयत्नों की है: "उसका मन नहीं था। मन मेरा भी नहीं था। मगर घर में अजीब चुप्पी थी। फिर मेरे मन में ग्लानि आदि का बोझ था।"[3] उसे सीता की टांगें मोटी लगने लगती है और वह बदसूरत। उसके यह कहने पर दोनों में बकझक होती है। पर भावनात्मक और शारीरिक रूप में समीप आने के बाद भी उसे लगता है "कुछ बदलेगा नहीं। फिर वही हो गया है जो पहले था।"[4] यह विफलता का अनुभव आधुनिक मनुष्य की नियति से जुड़ा है, जहां किसी प्रकार का बदलाव नहीं है। उसके भीतर कुछ "सड़ने" लगता है, आक्रोश फैलने लगता है। उसके मन में करुणा का दौर भी आता है, उस पर शर्म भी आती है। और पहली बार उस "बुनियादी असमता" को वह पहचानता

१- "द आउटसाइडर" - कॉलिन विल्सन, १९६०, पृ० ११।

२- 'एक पति के नोट्स', पृ० ७८।

३- पूर्वोक्त, पृ० ८६।

४- पूर्वोक्त, पृ० ९८।

है जिसके चलते ऐसे ही जीते रहना पड़ेगा", फ़र्क कहाँ पड़ता है ।[1] और इस फ़र्क न पड़ने में ही वह विवशता है जो अजनबीपन के बीच से जुड़ी हुई है ।

१९ - 'रुकोगी नहीं, राधिका ?'

उषा प्रियम्वदा का उपन्यास 'रुकोगी नहीं, राधिका ?' (१९६७) एक अत्याधुनिक और असामान्य (एबनॉर्मल के अर्थ में नहीं) युवती के निजी परिवेश से उखड़ने और अजनबी होने की व्यथा को संवेदनात्मक रूप में उभारता है । माँ के अभाव और पिता से दीर्घ साहचर्य के कारण उसके मन में अपने पापा के प्रति गहरा आकर्षण उत्पन्न हो जाता है । सहसा ढलती उम्र में उसके पिता द्वारा उससे कम उम्र विद्या से विवाह से उसको मानसिक रूप से आघात लगता है और वह बिखर जाती है । अपने पापा से झगड़कर वह विदेश चली जाती है और एक पत्रकार डैनियल पीटरसन की संरक्षता में एक वर्ष तक रहती है । किन्तु दोनों भावनात्मक रूप से जुड़ नहीं पाते । डैन उसे भावहीन 'हिमकन्या-सी ठंडी' और 'संगमरमर की प्रतिमा' सी जड़ कहते हुए मुक्त कर देता है : "मैं तुममें अपना खोया यौवन ढूँढ़ रहा था । अपनी पत्नी के छोड़कर चले जाने की कड़वाहट धोना चाहता था, पर शायद हम दोनों सफल नहीं हुए ।[2] राधिका अक्सर सोचती कि कोई पुरुष उसे आकर्षक क्यों नहीं लगता ? क्या सचमुच में अपने पिता के प्रति उसकी भावनाएँ एक मानसिक विकृति के रूप में पहुँच गई थीं ? उसे कुछ भी स्पष्ट नहीं पता चलता । डैन से सम्बन्धों में तनाव आने पर वह उससे अपनी कलात्मक संभावनाओं को विकसित करने का प्रयत्न करती है । मिसेज़ होमर के घर में रहते समय अपने अकेलेपन की असहायता के संदर्भ में अपने पापा के अठारह वर्षों के अकेलेपन के दंश का अनुभव करती है । उसे लगता है कि पापा ने संपूर्ण एकाग्रता की कामना करके उसने भूल की

१-'एक पति के नोट्स', पृ० १०३।

२-'रुकोगी नहीं, राधिका ?' - उषा प्रियम्वदा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा संस्करण, १९७४, पृ० ३८ ।

थी । पाश्चात्य परिवेश से अपने को न जोड़ पाकर, तीन वर्ष बाद वह स्वदेश लौटने का निर्णय लेती है ; और यहाँ भी वह अपने को "मिसफिट" और अजनबी पाती है। इस बारे में कहा गया है, "पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में अपने अजनबी होने के आतंक-बोध से घबराकर पूर्व में पुन: लौट आई शिक्षिता और स्वतंत्र नारी ने एक दूसरे किस्म के अजनबीपन से साक्षात्कार किया है । यह अजनबीपन पश्चिम की अनुभूति से कहीं अधिक गहरा और सच्चा है ।[1]

उषा प्रियम्वदा , आसपास के परिवेश से राधिका के मानस में उभड़ते अजनबीपन के बोध को रचनात्मक रूप में अंकित करने में सक्षम है । बाल्ज़ाक की भाँति सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंकन में इनका शैल्पिक वैशिष्ट्य उभर आता है। लेकिन , कसी हुई शैली का निखरा रूप इस उपन्यास में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है । इस उपन्यास में इलाचंद्र जोशी की भाँति मनोविज्ञान के सिद्धांतों का साकार रूप में प्रयोग किया है। इस सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता से कृति की रचनात्मकता को व्याघात पहुँचता है। विद्वानों ने[2] विधा की आत्म हत्या से कृति की औपन्यासिकता और साहित्यिक रचनाशीलता को पहुँचने वाली ठेस की चर्चा की है । परंपरागत मूल्यों का अतिक्रमण करने तथा आवरणात्मक रूढ़ नैतिक विधानों की अस्वीकृति के बाद भी राधिका के चरित्र में ऐसी "मौलिक गंभीरता और आभिजात्य सरलता"[3] है जो उसके व्यक्तित्व को आद्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली बनाये रहती है। यह लेखिका की विशिष्ट उपलब्धि है ।

विद्या के चेहरे पर राधिका ने हमेशा एक "बड़ा अलगाव -सा, जमी हुई भाव मुद्रा" लक्षित की है । विदेश से लौटने के बाद वह वही दूरी-सी विद्या के चेहरे पर देखती है। यहाँ आने के बाद वैचारिक, भावनात्मक, परिवेशगत यहाँ तक कि अपने निजी संबंधों में उसे अलगाव की अनुभूति होती है ।[4] इससे उबरने

१- 'आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास', पृ० २४४ ।

२- (i) "समीक्षा" अप्रैल,१९६८, वर्ष १, अंक ४, पृ० २-३ ।

(ii) "आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास', पृ० २४६ ।

३- "समीक्षा", वर्ष १, अंक ४, १९६८, पृ० २ ।

४- "रुकोगी नहीं, राधिका ?', पृ० ४५ ।

के लिए वह अतीत में गोते लगाती है । कैसे पापा के प्रति मन में वितृष्णा उत्पन्न हुई, पुराना वात्सल्य भरा रूप धीरे-धीरे दूर हुआ और उसकी साथ नहीं रहने की धमकी का अपेक्षित प्रभाव न देखकर कैसे उसके भीतर कुछ टूट गया जो आज तक कसक रहा है - यह सब उसके दृश्य पटल पर नाच जाता है । उसकी भावनाओं को कोई समझना नहीं चाहता था, शायद सब उससे पिंड छुड़ाना चाहते थे । बड़दा और भाभी से अलगाव बढ़ता गया और राधिका लोगों से कटती गई । संबंधों की आत्मीयता छिन गई और शेष रह गई अर्थहीनता जो अब तक उसके जीवन में मौजूद है । अतीत की कड़वाहट और वर्तमान का दंश उसका अनवरत पीछा करते रहते हैं । विदेश से लौटने के बाद उससे मिलने के लिए आई ताई पूछती है कि सिगरेट-शराब तो राधिका पीने लगी होगी । इसी तरह उसकी भाभी पूछती है कि इतने दिन उस मर्द के साथ रहकर वह बाल बच्चों से कैसे बची रही, और उनके पति चटखारे लेते हुए पूछते हैं कि क्या वहाँ सचमुच ऐसे क्लब हैं जहाँ लोग अपनी पत्नियों सप्ताहांत के लिए बदल लेते हैं ।[1] इस तरह के बेतुके प्रश्नों से गुजरने के कसैले स्वाद से उसका चिर-परिचित परिवेश सहसा अजनबी हो उठता है । पापा के स्वर की औपचारिकता और दूरी इस अजनबीपन के बोध को और गहराती है । महत्वाकांक्षी और अनुदार बड़दा का व्यक्तिवादी और स्वार्थी रूप उसकी अजनबियत को और बढ़ाता है ।

अज्ञेय-देवराज-रघुवंश की रेखा, दीपिका और नीरा की भाँति राधिका बौद्धिकता की आभा से मंडित है । उन्हीं के समान विवाह, गृहस्थी और बच्चों की झंझट में उसे नारी की पराजय दिखती है । उसकी अंतरंग सहेली रमा का यह कथन कि न जाने किस-किस घाट का पानी पीकर तुम आई हो और कुछ नहीं है बताने को ? उसको भीतर से खरोंच देता है । वह सोचती है कुछ अजीब किस्म की हो गई हूँ, न वहाँ सुखी थी न यहाँ ।[2] उसके मन में एक विचित्र अनिश्चितता और मार्गहीनता की भावना छाई रहती है । वह जानती थी कि वह जीन, लारेन्स या

१-'रुकोगी नहीं, राधिका ?' पृ० ५७ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ६१ ।

कारिन के देश का भाग नहीं बन सकती । इसी से उस 'स्नेह-रज्जु' को निर्ममता से काट दिया था, और अब अपने देश में वह स्वयं को अजनबी पा रही थी : "और अब यह उसका अपना देश था, पर कहां था --- ।[१] सभी उसे 'सोफिस्टिकेशन' के मुखौटे के नीचे जीवन से ऊबे हुए, असंतुष्ट प्रतीत हुए । दिवाकर जैसे सभी अपनी जड़ से उखड़े हुए हैं । मनीश कुछ तय नहीं कर पा रहा है कि वह कहां बसे, कहता है : "भाग दौड़ की ज़िंदगी से थकता जा रहा हूँ । सफलता है, धन है पर चैन नहीं ।[२] राधिका स्वयं अपनी अर्थहीनता का अनुभव कर रही है : "मेरा परिवार , मेरा परिवेश, मेरे जीवन की अर्थहीनता और मैं स्वयं जो होती जा रही हूँ, एक भावनाहीन पुतली -सी --- । उसके इस कथन से उसकी आंतरिक पीड़ा और अजनबीपन का बोध मुखर हो उठता है ।

राधिका को लगता है कि वह अपने परिवेश से जुड़ी हुई नहीं है इस भीड़, शोर-शराबे और चहल-पहल से एकदम कटी हुई है । उसका जीवन एक 'लम्बी अंधकारपूर्ण सुरंग' की निरुद्देश्य यात्रा है । वह समाज में रहते हुए भी 'निर्वासिता' है ।[३] उसने सोचा था कि स्वदेश लौटने पर उसके अंदर का अजनबीपन का जमा 'हिमखंड' शायद पिघल जाएगा । उसकी बेचैनी अकुलाहट, ऊब समाप्त होगी और वह शांति का अनुभव करेगी ।" पर कुछ भी नहीं बदला । उसके भीतर का अजनबीपन इस अपने परिवेश में और बढ़ता गया है । अक्षय राधिका के प्रति आकर्षण का अनुभव करता है पर उसके परम्परित संस्कार राधिका को 'पूर्ण रूप से उसके अतीत सहित' ग्रहण करने में अवरोध खड़ा करते हैं ।[४] अक्षय को छोटी आयु की, थोड़ी पढ़ी-लिखी लड़की चाहिए । राधिका अक्षय के मन में चलनेवाले परम्परागत संस्कारों और आकर्षण के द्वंद्व से परिचित है। इसी से वह अपने को मनीश जैसे व्यक्ति से बांधने का निर्णय लेती है जो विचारों में प्रगतिशील होने के साथ ही पश्चिम को काफी नज़दीक से देख चुका है । मनीश राधिका के दर्द को समझता है और

१-'रुकोगी नहीं, राधिका ?' पृ० ६६ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १०६ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ११४ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० १२०-१२१ ।

राधिका भी अपनी पीड़ा उसके आगे उघाड़ती है : " विगत को सोचने से क्या ? तब जो मैं थी, अब वह नहीं हूं ।[१] मनीश अंत में भारत में बसने का निश्चय कर लेता है । अपने और राधिका के सामाजिक अलगाव व और विवशताओं से टकराने का हल्का सा विश्वास उसमें उभरता है :

" तुम वहां नहीं रह सकी, न तुम्हें यहां ही स्वीकारा गया । मैं भी अपने को पृथक, अलग, कटा हुआ पाता हूं । सोचा कि हम दोनों इकट्ठे रह सकेंगे - क्योंकि हम एक दूसरे को बहुत समय से जानते हैं, बहुत सारे संदर्भों में ---- पर यदि तुम ---- ।[२]

और राधिका इसी विश्वास को पकड़कर, पापा के अकेलेपन और आग्रह को भटकते हुए, सारे अनिश्चय और ऊहापोह की स्थितियों को कुचलकर अपने इर्द-गिर्द जमे अजनबीपन के भयावह अंधेरे को तोड़कर बाहर निकल आती है क्योंकि मनीश उसका इंतजार कर रहा है । वह सुषमा[३] के समान टूटती नहीं और न अजनबीपन का शिकार बनी रहती है । राधिका में सुषमा की तुलना में एक प्रकार की बौद्धिक तेजी है जो उसके चरित्र को जीवन्त बनाती हुई जीवनगत यथार्थ के समीप ला देती है ।

२० - " दूसरी बार "

श्रीकान्त वर्मा का उपन्यास " दूसरी बार " (१९६८) जीवनगत यथार्थ का निरूपण मूल्यात्मक धरातल और मानवीय मनोविज्ञान की भित्ति पर करता है । यहां रचनाकार स्त्री-पुरुष -संबंधों के संसार को नयेपन के साथ प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास का नायक " मैं " घोर अहंवादी, तुनुकमिजाज, बात-बात पर झुंझलानेवाला चिड़चिड़ा, काल्पनिक और वास्तविकता से दूर रहनेवाला है । अचानक बिंदो के आगमन से उसके अंदर का सोया संसार लड़खड़ाकर जाग उठा है । बिंदो के साथ एक लड़ाई वह प्रत्येक क्षण अपने मानस में, उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति दोनों में पैंतरे बदल-बदल कर लड़ रहा है । पर वह हर बार मात खा जाता है । इसी में वह तिलमिला रहा

१- 'लकीरें नहीं, राधिका ?' पृ० १३०।
२- पूर्वोक्त, पृ० १५५ ।

है, कुम्हला रहा है और अंदर-अंदर घुट रहा है । श्रीकान्त वर्मा की महत्ता " मैं " को जीवंत रूप में प्रस्तुत करने में है जहाँ,वह अपनी असामान्यता में दोस्तोएवस्की के उपन्यासों के " स्वनामले " चरित्रों से टक्कर लेता है । लेखक ने अद्भुत कौशल और संयम के साथ उपन्यास के परंपरित सांचों और अवधारणाओं का अतिक्रमण करते हुए आधिक संरचना के सृजनात्मक तनावों के बीच कलात्मक रूप से इस चरित्र को रचा और जिया है । इस उपन्यास के वैशिष्ट्य को इन शब्दों में उकेरा गया है :

" यह उपन्यास घटनाओं को, अनुभवों को काव्य-बिम्ब की-सी " शक्लें " देता है और गद्य को कविता के-से आवेग और तीखी संवेदना से भरता हुआ, अनावश्यक विस्तार-वर्णन और उपकरणों को उन्हीं की आकृतियों में प्रस्तुत करने के आग्रह से बचता है ।[१]

" मैं " की " डामिनेटिंग " प्रवृत्ति उसके अहं को निरन्तर खरोंचती रहती है । बिंदो के पत्र और मिलने के आग्रह से " मैं " अपने जीवन की एक ऐसी पुरानी डायरी खोलने जा रहा है जिसमें अपनी इबारत पढ़ने का आत्म विश्वास वह खो चुका है । बिंदो की आँखों का खालीपन , अकेलेपन से ग्रस्त-उसका कमरा, और दोनों के बीच की संबंधहीनता और उससे उत्पन्न हुई रिक्तता " मैं " को दबोच बैठती है । " मैं " बिंदो को सड़क से उतर कर एक अलग गली में आ चुका है । दोनों के बीच अजनबीपन का ढोंका पड़ा हुआ है । किसी प्रकार की आत्मीयता शेष नहीं है । बिंदो के साथ गुजरते हुए अब उसे सड़कें अटपटी लगती है । टैक्सी में लगता है उसे जबर्दस्ती उसके प्रतिद्वंद्वी के साथ ठूंस दिया गया है । बिंदो उसे एक बहुत घमण्डी स्त्री लगती है जो अपने हर व्यवहार से उसे अपने से छोटा साबित करने की कोशिश करती रहती है । उसका संयम उसे झूठा लगता है जो उसके बिखराव को उभारने के प्रयत्न में रहता है । वह उसे एक घटिया औरत लगती है । उसके बिखरे और ढले चेहरे को देखकर उसे लगता है जैसे दोनों के बीच अकस्मात एक शोक आकर बैठ गया है ।[२] टैक्सी से उतरकर चलते हुए ऐसा लगता है जैसे वे अपने बच्चे की समाधि पर जा रहे हों । डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने अजनबीपन की चर्चा करते हुए लिखा है कि परायापन लोगों के आपसी संबंधों में विश्वास-पात्रता को विलुप्त कर व्यक्ति को संवेदनशून्य तथा निष्क्रिय बना देता है ।[३] अजनबीपन

१- " आलोचना " जनवरी-मार्च, १९६८, प्रयाग शुक्ल, पृ० ६७ ।

२- " दूसरी बार " श्रीकांत वर्मा, अक्षर प्रकाशन,दिल्ली,प्रथम संस्करण,१९६८,पृ० १६।

३- 'आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण'- डॉ० रमेश कुन्तल मेघ,अक्षर प्रकाशन,दिल्ली,

के इन परिणामों को "मैं" और बिंदों के संबंधों में देखा जा सकता है। बिंदों के आगमन में उसे कुछ "चाल" दिखती है। शायद वह अपनी स्त्री-दृष्टि से यह देखने आई है कि उसके बिना "मैं" किस तरह रह रहा है।[१] कई साल बाद एकाएक अपनी इच्छा बिंदों उसके कटघरे में खड़ी हो गई है। उसने इसके लिए कोई वारंट जारी नहीं किया था और न इश्तहार छपवाया था। वह अपने साथ स्वयं अपना कटघरा लेकर आई है। और अब "मैं" चिन्तित है कि वह क्यों आई है और उससे क्या बात करना चाहती है।

अजनबीपन और अलगाव का बोध "मैं" को हमेशा घेरे रहता है सब लोगों को अपने-अपने कामों में तल्लीन देखकर वह सोचता है: "इस समूचे नगर में मैं अकेला आदमी था जो बेमतलब, बेबुनियाद वक्त बिता रहा था।[२] "मैं" अपने को असमय थका हारा और बूढ़ा महसूस करता है और पाता है कि उसे "फिर चित कर दिया गया है।[३] अंत में वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वह अपने अंदर एकदम अनिश्चित और क्लीव है। सुबह आंख खुलने पर वह अपने को सहसा एक अजनबी दुनिया में पाता है। कमरे की "भयानक रिक्तता" के साथ वह पाता है, "हर चीज़ अपनी जगह बेतरतीब और गलत थी। मैं खुद गलत था।[४] उसे लगता है कि वह एक और दुनिया में आ गया है जिसमें हर चीज़ उसके विरुद्ध है।[५] वह एक अनन्त शून्य में हाथ-पैर मार रहा है, उसके न अंदर कुछ है, न बाहर कुछ। एक अजीब सी व्यर्थता ने उसे घेर लिया है।[६] अस्तित्ववादी शैली में वह सोचता है, "जो जिससे जितना जुड़ता है, उतना ही टूटता है, जो जिससे जितना प्रेम करता है उतनी ही घृणा। प्रेम करना घृणा करना है और घृणा करना प्रेम करना है।[७] जो चीज़ सब से पहले टूटती है, वह है आत्मविश्वास। आखिर में टूटा हुआ आत्मविश्वास रह जाता है। "मैं" के जीवन में यह आत्मविश्वास भी चला गया है, बिंदो उसके लिए समस्या बन गई है।

१- "दूसरी बार", पृ० १६।
२- "दूसरी बार", पृ० २६-३०।
३- पूर्वोक्त, पृ० ३४।
४- पूर्वोक्त, पृ० ३७।
५- पूर्वोक्त, पृ० ५१।
६- पूर्वोक्त, पृ० ५२।
७- पूर्वोक्त, पृ० ६०।

उसे अपने जीवन से निकाल पाने और स्वीकारने - दोनों में वह असमर्थ है । इस असमर्थता और विवशता -बोध में आधुनिकता को आंका गया है ।[१]

"मैं" हर बार यह संकल्प करता है कि बिंदो से बदला लेकर वह अपने अधूरेपन को खत्म कर देगा पर हर बार यह अधूरापन कुछ और बढ़ जाता है ।[२] हर बार वह उसी जाल में फंस जाता है। बाहर की धुंध उसके भीतर घुस आती है, सारी चीज़ें अस्पष्ट हो जाती हैं । सब से अधिक वह स्वयं अपने बारे में अस्पष्ट हो जाता है । उसे इस बात का पता नहीं कि वह अंतत: चाहता क्या है ।"मैं" के बारे में कहा गया है, "'मैं'बार-बार अपनी कल्पनाओं और विश्लेषण मुद्राओं में फंसा हुआ एक छल मात्र बन गया है, उसका छल इतना क्रूर है कि वह उसे स्वयं को भी छलता है, जबकि हर बार उसकी कोशिश बिन्दो को छलने की रही है"।[३]

वह अपनी मुक्ति के लिए शुरू से आखीर तक जाल रचता जा रहा है पर "मैं" स्वतंत्र होने के बजाय पहले से ज्यादा परतंत्र हो जाता है । वह अपने अंदर और जकड़ दिया जाता है और कैदखाने की दीवारें कुछ और ऊंची हो जाती हैं। बिंदो उसके सामने उसकी तकदीर को रौंदने के लिए खड़ी है । बिंदो उसका गंतव्य है । उसको परेशानी में देखकर वह अपने को ताकतवर महसूस करता है और उसके कुचलने के लिए अपनी समर नीति तय करने लगता है। वह आक्रामक मुद्रा में उसे घटिया औरत बताते हुए कहता है कि तुम्हारे साथ बीता हुआ जीवन नरक था । बिंदो की सहानुभूति व सदिच्छा पर उसे शक होता है, वह सोचता है, यह औरत काटने से बाज नहीं आयेगी और उसकी तबियत गालियाँ देने को होने लगती है । पर अंत में वह पाता है, जो-जो मैं नहीं चाहता हूं, वही हो रहा है ।[४] उसे जहाँ नहीं पहुंचना था, वह वहीं पहुंचा ; जो नहीं होना था, वही हुआ । दूसरे को कुचलने का हौसला रखनेवाला स्वयं कितना

१- 'हिन्दी -उपन्यास : एक नई दृष्टि' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ८६ ।

२- 'दूसरी बार', पृ० ७८ ।

३- 'आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास', पृ० २६३-२६४ ।

४- 'दूसरी बार', पृ० ८३ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० १०८ ।

कुचला हुआ था, इसका अंदाज़ा उसे देखकर लगाया जा सकता है ।[१] और 'मैं' भयंकर मानसिक यंत्रणा से गुज़रता है । वह पाता है कि जिस स्त्री से उसने घृणा की थी जिसे वह कुचलना चाहता था, जो उसकी निगाह में टुच्ची थी - उसी के चरण पकड़ कर उसने प्रेम की भीख माँगी थी ।[२] वह इस सब को झुठलाना चाहता है कि वह बिंदो के बिना नहीं रह सकता । इसी झुठलाने के प्रयत्न में 'मैं' अपनी अंतिम परिणति में शून्य, निर्भर और निरर्थक होकर रह जाता है । जीवन की यह निरर्थकता आधुनिक मनुष्य की निरर्थकता से जुड़ जाती है । इस प्रकार उपन्यास आधुनिक बोध का गवाही देने लगता है ।

बिंदो के आत्मसमर्पण के बाद वह पैंतरे बदलते हुए इस प्रकार ठिठकता है जैसे उसके कदमों पर कोई हत्या हो गई हो ।[३] वह उसे छलने, कुचलकर धज्जियाँ उड़ा देने और उसकी आत्मा को तहस-नहस करके उसका दर्प चूर करने के प्रयत्न में पुन: बाजी हार जाता है । संभोग के चरम क्षणों में शीघ्र स्खलन उसके हीनता भाव को गहराता है और वह प्रतिहिंसा के साथ दूसरी बार की तैयारी करता है और अपने थम जाने पर उसे अपूर्व संतोष का अनुभव होता है ।[४] लेकिन यह सुख भी क्षणिक रहा, स्वयं 'मैं' के शब्दों में, "मगर यह सुख नहीं, बहलावा था । आगे चलकर यही बेचैनी, पछतावे और कभी ख़त्म न होनेवाली परेशानी का सबब बन जायेगा, पता नहीं था ।[५] दूसरे दिन नींद खुलने पर उसे लगा जहाज़ के डूब जाने से वह किसी अजनबी द्वीप में आ लगा है, उसकी घबड़ाहट बढ़ती जा रही है, उसका अपना शरीर अनर्गल लगता है, हर चीज़ से जुगुप्सा होती है । उसकी बदहवासी इतनी बढ़ जाती है कि यदि आस-पास कहीं समुद्र होता तो वह छलांग लगा जाता ।[६] शर्म और पराजय में बंधा वह सोचता है कि उसे शहर छोड़ देना

१-'दूसरी बार', पृ० १०६ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १११ ।

३- पूर्वोक्त , पृ० ११३ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० १२४ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० १२५ ।

६- पूर्वोक्त, पृ० १२६ ।

चाहिए । किसी ऐसी जगह चला जाना चाहिए जहाँ बिंदो से कभी मुलाकात न हो । पर वह शहर भी नहीं छोड़ सकता । बिंदो आखिर क्यों आई है । ' मैं ' महसूस करता है ।

' मेरा बचा-खुचा भी नष्ट हो गया । बिंदो ने मुझे एक झींगुर की तरह मसल दिया । अब मैं किसी लायक नहीं रह गया हूँ - यहाँ तक कि बिंदो के भी लायक नहीं ' ।[१]

उसकी समझ में नहीं आ रहा है कि वह क्या करे । संसार के किस कोने में चला जाय । बिंदो - बिंदो नहीं एक अभिशाप है, उससे वह कैसे मुक्त हो । बाहर भागकर अपरिचित लोगों से घिरकर वह थोड़ी तसल्ली पाता है क्योंकि यहाँ कोई पहचान नहीं सकता । कोई नाम लेकर नहीं पुकार सकता । वह घास पर पड़े सैकड़ों लोगों में से एक था ।[२] वह इसी तरह गुमनाम पड़ा रहना चाहता है :" यही जगह मेरी है, घर झूठ है । बिंदो झूठ है । जो भी जाना है, पहचाना है, झूठ है ।[२] लेकिन उसका गुमनामी का यह प्रयत्न भी कारगर नहीं होता । बिंदो उसे ढूंढ निकालती है। बिंदो की तरफ़ देखने का साहस वह खो चुका है । वह टहलता और बिंदो को ढोता हुआ, यंत्र की तरह उसके साथ चलता रहा । यही उसकी नियति है । इस विवशता से उसे छुटकारा नहीं है । बाहर का सारा अंधकार उसके सीने में कफ़ की तरह जमता जा रहा है । वह महसूस करता है :" कोई रास्ता नहीं ।" क्या सचमुच ही कोई रास्ता नहीं ?"[३] यह विवशता अलगाव को न पाटने की है । अजनबीपन का बोध दोनों के बीच पसरा हुआ है । जो सारे प्रयासों के बावजूद अपना अस्तित्व कायम रखे है । उनके बीच सहजता व आत्मीयता नहीं पनप पाती, अलगाव का ढोंका नहीं पिघल पाता और दोनों एकात्मता का अनुभव न करने के कारण एक दूसरे के लिए अजनबी बने रहते हैं । बिंदो अनुभव करती है कि " मैं " की दिलचस्पी उसमें नहीं है, फिर भी अमर बेल की तरह उसे जकड़े रहती है और " मैं " के भीतर अजनबीपन का अंधकार अपनी पूरी भयावह विवशता के साथ फैलता रहता है ।" मैं " का ओकना[४] प्रतीकात्मक है जो उसकी विवशता की भयावहता को रूपायित करता हुआ विसंगति -बोध के स्वर को उभारता है ।

१-'दूसरी बार', पृ० १२७ । (२) पूर्वोक्त, पृ० १२८ (३) पूर्वोक्त, पृ० १३१ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १३२ ।

२१ - " न आने वाला कल "

मोहन राकेश का उपन्यास " न आनेवाला कल " (१९६८) मानव-जीवन में आ गये बिखराव, तनाव, खालीपन और बोरियत को बांधने का एक सृजनात्मक प्रयास है। पहाड़ी स्कूल के हेडमास्टर मि० व्हिसलर से लेकर चपरासी फकीरे की बीबी कासनी तक सभी अकेलेपन को झेलते हुए अपने आनेवाले कल का इंतजार कर रहे हैं जो कभी नहीं आता। इस न आनेवाले कल की अंतहीन प्रतीक्षा मानवीय नियति की विवशता से जुड़ी है और इसमें आधुनिकता-बोध को आंका गया है।[१] उपन्यास के नायक के बारे में कहा गया है कि उसकी समस्या इतनी ही थी कि वह छुटकारा पाना चाहता था ; परंतु किससे ? नौकरी से ? पत्नी से ? या किसी और चीज़ से --- जिसे कि वह स्वयं भी नहीं जानता था ?[२] नायक की यह अनिश्चितता मानव नियति की अनिश्चितता से जुड़ जाती है और उपन्यास में आधुनिकता उजागर होने लगती है। उपन्यास के शिल्पगत वैशिष्ट्य का उद्घाटन यों किया गया है, " विशेष रूप से एक व्यक्ति की कथा होने पर भी वह अपने सम्पूर्ण परिवेश को लेकर आगे बढ़ती है।[३] उस संपूर्ण परिवेश को लेकर पैदा हुई वितृष्णा और अलगाव के बोध को लेखक ने कलात्मक रूप से उभारा है। उपन्यास का गहरे तनाव से युक्त वातावरण पात्रों के तनावपूर्ण जीवन को सशक्तता के साथ रूपायित करता है। उपन्यास की कथावस्तु की कसावट, उसके संवादों का पैनापन, उसका भाषिक तनाव, उसके जीवन्त चरित्र और इन सब में गुंथा हुआ आधुनिकता-बोध इस उपन्यास को महत्वपूर्ण बना देते हैं।

संबंधों की एकरसता और औपचारिकता के नीचे दबे एक संवेदनशील व्यक्ति की विवशता और ऊब को परिवेशगत दबावों के बीच रचा गया है। यह संवेदनशील व्यक्ति है - मिशनरी स्कूल का हिन्दी अध्यापक मनोज सक्सेना। ~~उसे समय~~ उसे समय काटना दुश्वार लग रहा है, " अब मैं था और वह खालीपन जिसके साथ रोज़ रात को बारह बजे तक संघर्ष करना होता था।[४] न कटनेवाले समय का अहसास उसे

१- " हिन्दी-उपन्यास " : एक नई दृष्टि, पृ० ८७।

२- " न आनेवाला कल " - मोहन राकेश, राजपाल एण्ड संन्ज़, दिल्ली, तीसरा सं० ७४ फ्लैप पर।

३- " समीक्षा " अप्रैल, १९६९, मधुरेश, पृ० २।

४- " न आनेवाला कल, पृ० ८।

तीखे रूप में कचोटता है। समय के उस पूरे फैलाव को जो एक एक मिनट कर आगे बढ़ रहा था - भैलना था। कुछ था जो किया जाना था। लेकिन क्या ? इसी का उत्तर उसे खोजना था। वह पाता है कि उसके और सोफ़े के बीच एक बेगानापन है। वह " अब और ऐसे नहीं चल सकता" सोचता हुआ निश्चय करने का उपक्रम करता है और इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि उसे पता है कि वह क्या चाहता है, फिर उसे करने में उसे इतनी रुकावट क्यों महसूस हो रही है,[1] वह नहीं समझ पाता। उसकी अनिश्चयग्रस्त मन:स्थिति पर ऐसे प्रसंगों से भरपूर प्रकाश पड़ता है। बात-बात पर "शहीद" होनेवाली शोभा से, कुछ दिनों के परिचय की भौंक में उसने शादी कर ली है। पर अब उसके जूड़े से बाहर निकली पिनें, साड़ी से नीचे भाँकता पैटीकोट, आँखों में लदा-लदा सुरमा और फड़कती नसें लिये बात के बीच से उठ जाने का ढंग देखकर उसका मन घोर वितृष्णा से भर जाता है। वह अपने पूर्वपति द्वारा निर्धारित मापदण्डों को उस पर लागू करने का प्रयास करती है। "घर कैसा होना चाहिए, खाना कैसा बनना चाहिए, दोस्ती कैसे लोगों के साथ करनी चाहिए - इस सब के उसके बने हुए मानदण्ड थे जिनसे अलग हटकर कुछ करना उसे दुनियादी तौर पर गलत जान पड़ता था।[2] इसके विपरीत करने पर वह शहीदाना भाव से टसुए बहाने लगती। उसकी नज़र में वह अब भी अकेला आदमी था जिसका घर उसे संभालना पड़ रहा था। उसके इस व्यवहार और बर्ताव से उसे बोध होता जैसे वह दूसरे के घर में बेतुके मेहमान की तरह टिका था। आपसी संबंधों का अजनबीपन दोनों को अलग-अलग ढंग से काटता था। उनकी विडम्बना यह है कि परिचित होते हुए भी वे अपरिचित हो जाते हैं और आत्मीय होते हुए भी एक दूसरे के लिए अजनबी।

शोभा को प्राय: पता होता था कि उसे कैसी किताबें पढ़नी चाहिए, उन जगहों का जहाँ उसे जाना चाहिए और उस सारे तौर-तरीक़े का जिससे एक घर में "अच्छी ज़िंदगी" की जा सकती है। सीखने को इस दुनिया में

१- "न आनेवाला कल", पृ० ११।

२- पूर्वोक्त, पृ० १२।

कुछ बाकी था तो केवल उसके लिए क्योंकि इतने साल अकेली जिंदगी जीने के कारण उसे किसी चीज का बिलकुल पता नहीं था ।[१] इस प्रकार एक बढ़ती पहचान औपचारिकता में ढलती गई और वे दोनों एक " युद्ध विराम " की स्थिति में जीते हुए अकेलेपन, तनाव , विवशता और अजनबीपन झेलने को विवश हुए । बिस्तर पर वे दो अजनबियों की तरह दम साधे इस आशा में पड़े रहते कि कभी कुछ ऐसा होगा जिससे यह गतिरोध टूट जाएगा ।[२] मनोज नहीं समझ पाता कि वह " कुछ " क्या था जिससे वह छुटकारा चाहता है । उस कुछ का दबाव शोभा के आने के पहले भी था, शोभा के साथ रहते भी था और अब भी था ।[३]

उसे लगता है कि वास्तविक समस्या, सब के बीच अपने को ढोने की बेबसी से छुटकारा पाने की थी । वह कहीं गहरे महसूस करता है कि स्कूल के जूनियर हिन्दी मास्टर की जिंदगी उसकी अपनी जिंदगी नहीं थी । शोभा के पति की जिंदगी भी उसकी जिंदगी नहीं है ।[४] इन सब से उबरने के लिए उसे कुछ करना है । इस कुछ करने को लेकर उसका अनिश्चय गहराने लगता है, उसकी माथे की नसें बुरी तरह खिंच जाती है और उसकी इच्छा होने लगती है कि हाथों में कुछ हो जिसे ज़ोर से फर्श पर पटक दिया जाये या सामने दीवार पर दे मारा जाये ।[५] पर यह भी वह नहीं कर सकता ।

शोभा का पत्र उसके जीवन में छा गई व्यथा और इससे जुड़े अजनबीपन के बोध को रेखांकित करता है :" पर अब तो जीने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है - न साधन, न संबंध, न मान । तुम्हारे साथ अपने को जोड़कर मैंने हर चीज़ से अपने को वंचित कर लिया है ।[६] और मनोज सोचता है कि शोभा ने " अपनी-सी " जिंदगी जीने के फेर में उसे मात्र " साधन " बनाना चाहा था ।[७]

१- 'न आनेवाला कल', पृ० १५ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० २० ।
३- पूर्वोक्त, पृ० २४ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० २५ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० २६ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० १०७ ।
७- पूर्वोक्त, १०६ ।

इस प्रकार का आपसी सोच संबंधों में आये अजनबीपन को और अधिक गहराता है।

कोहली और शारदा की आपसी टकराहट और इससे संबंधों में उत्पन्न तनाव[1] दोनों को एक दूसरे के लिए अजनबी बना देते हैं। शारदा और उसका अधेड़ पति कोहली, टोनी व्हिसलर, बैरी और लैरी, मिसेज़ ज्याफ्रे, जिमी ब्राइट, रोज़ ब्राइट, मिसेज़ दारुवाला, माली क्राउन, बानी हाल, जैन व्हिसलर- सभी अपनी-अपनी जगह से उखड़े और टूटे हुए लोग हैं जो अपने भीतर के खोखलेपन को ढंकने के प्रयास में और नंगे हो जाते हैं। बानी हाल का पुरुषों के वास्तविक स्वरूप को जानने का शगल उसके ओछेपन और भटकाव को और बढ़ाता है[2] तथा उसे अजनबी बनाता जाता है। टोनी व्हिसलर की नपुंसकता, रोज़ ब्राइट का कम उम्र के लड़कों के साथ वक़्त बिताने का शौक, जिमी ब्राइट का काम करने का मशीनी ढंग, मिसेज़ पार्कर की थकान और ऊब अजनबीपन के विविध पहलुओं से अपने आप जुड़ जाती है। मनोज सोचता है त्यागपत्र दे देने से और शोभा के चले जाने के कारण वह इस अजनबीपन की गिरफ़्त से मुक्त है। वह अपने को आश्वासन देने के लहजे में सोचता है, "सुबह के बाद सब ठीक हो जायेगा" और वह इस घर को छोड़कर घुटन से मुक्त हो जाएगा :" इसके बाद एक नई और अनजानी ज़िंदगी की खोज अपने आप हर चीज़ में एक गति ले आयेगी।"[3] लेकिन यह अजनबीपन उसके भीतर तक पसर चुका है। उसके मन में यह प्रश्न उभरने लगता है :" मुझे यहां से आख़िर जाना कहां है ?"[4] फकीरे की पत्नी कासनी के माध्यम से वह अपनी वितृष्णा घृणा और क्षोभ-आक्रोश को प्रतिशोधात्मक रूप से उगल देना चाहता है किन्तु इसमें भी वह सफल नहीं होता। लेखक ने बड़ी कलात्मक कुशलता के साथ इस वैफल्य-बोध से जुड़े अन्य संदर्भों को सूक्ष्मता से ध्वनित कर दिया है। बस- स्टेशन का वातावरण उसकी मानसिक स्थिति से जुड़ जाता है :" सारा वातावरण जैसे एक छटपटाहट का था - हर चीज़ के वहां से निकल पाने की छटपटाहट का और न निकल पाने की मजबूरी का।[5] एक घिनौनापन पूरे वातावरण से उस पर घिरा आ

१-'न आनेवाला कल', पृ० १४५-१४७।

२- पूर्वोक्त, पृ० १३८।

३- पूर्वोक्त, पृ० १६१।

४- पूर्वोक्त, पृ० १६६।

५- पूर्वोक्त, पृ० १७५।

रहा था । पर क्या यह बिनौनापन उस वातावरण में ही था ।[१] यह प्रश्न भी उसके मानस में कौंध जाता है । वह पाता है कि आस-पास गाड़ियों, आदमियों और ढोये जानेवाले सामान की कुलबुलाहट तनाव के एक शिखर पर पहुंच कर जैसे वहीं ठहर गई थी । और उसे सामान जैसी ही चिढ़ अपने आप से भी होने लगती है, कि क्यों मैं इस व्यक्ति को भी हर जगह साथ ढोने के लिए विवश हूं जो हर तरह से स्वतंत्र होने के लिए छटपटाता हुआ भी हर दो घण्टे में भूख की बात सोचने और उसका उपाय करने के लिए कुछ भी कूड़ा-कचरा पेट में भरने लगता है ? टिकट मसलते हुए कचर-कचर सेव खाने और थरथराते इंजन की गति के जाम होने का संकेत प्रतीकात्मक है जो जीवन की प्रमजालिक भंगिमाओं और विवशताओं से जुड़ा हुआ है । डॉ० बच्चन सिंह के अनुसार इस उपन्यास का नायक सब कुछ छोड़कर या अस्वीकार करके एक निषेधात्मक स्थिति में जा पहुंचता है, पर यह अस्वीकार उसे कहीं भी ले जाने में असमर्थ है और जड़ जीवन जीने की सड़ांध उसकी नियति हो जाती है ।[२]

२२ - 'कुछ जिंदगियां बेमतलब'

अपने जीवन काल में डॉ० राम मनोहर लोहिया और उनके समाजवादी आन्दोलन से सक्रिय रूप से संबद्ध ओम प्रकाश दीपक का उपन्यास 'कुछ जिंदगियां बेमतलब' (१९६८) सामान्य जन की पीड़ा को मार्मिकता से उभारता है । इस उपन्यास में अमानवीयता का करुण चित्रण मिलता है । आर्थिक दबाव को जीवन भर झेलते-टूटते निम्न मध्यमवर्ग की पीड़ा को तीखेपन के साथ अभिव्यक्त किया गया है । सब का निजी व्यक्तित्व इस आर्थिक दबाव के तहत बिखरकर छितरा जाता है । लेखक ने इस सामाजिक - आर्थिक दबाव के साथ 'व्यवस्था' के दबाव से उत्पन्न निम्न मध्यमवर्गीय जीवन की यातना और दुर्दशा का भयावह करुण चित्रण चरित्रों के माध्यम से किया है । इस प्रकार यह उपन्यास यथार्थ के नये आयाम खोलता

१-'न आनेवाला कल', पृ० १७८ ।

२- 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० डॉ० नगेन्द्र), द्वितीय संस्करण, १९७६, पृ० ६८७ ।

घसीटा प्रकृति से अपराधी नहीं है, वह सामान्य जीवन जीना चाहता है। पर उसका सामाजिक परिवेश उसे अपराधी बना देता है। डॉ० गोपाल राय के शब्दों में "घसीटा के जीवन को घसीटनेवाली प्रमुख शक्ति उसका सामाजिक परिवेश है।[१] घसीटा की सब से बड़ी मुश्किल यह है कि वह कोई वक्ती, छोटी-मोटी बेईमानी कर सकता है, कभी वक्ती झूठ बोल सकता है, लेकिन लगातार झूठ नहीं बोल सकता, लगातार कोई बड़ी बेईमानी नहीं कर सकता।[२] और इसका खमियाजा उसे ज़िंदगी भर भरना पड़ा। बप्पा ने जब उसे गली में नंगा करके अत्यंत बेरहमी से पीटा था, उसी दिन उसके अंदर कुछ टूट गया था, झुलस गया था।[३] बाद में गुस्सा उतरने पर बप्पा ने रिक्शे में ले जाकर सरकारी दवाखाने से टिंचर लगवा दिया था, जलेबी भी खिलाई थी, लेकिन उसके और बप्पा के बीच कोई धागा जैसे आख़िरी तौर पर टूट गया था। उसके और गली के दूसरे लोगों के बीच भी कोई धागा टूट गया। और अब वह सब से नज़रें बचाता था। उन दिनों वह बिलकुल अकेला पड़ गया था। जितनी देर खाली रहता उसके मन में एक ही ख्याल चक्कर काटता रहता कि कहीं भाग जाये। लेकिन कहाँ भाग जाये? भाग कर वह क्या करेगा? ज़िंदगी का सिर्फ उतना ही हिस्सा उसका अपना रह गया था जिसमें वह अकेले बैठा या लेटा हुआ शेखचिल्लियों के सपने देखा करता था - उसे कोई सिद्ध पुरुष मिल जाये जो दया करके उसे किसी छिपे खज़ाने का भेद बता दे, या गायब करनेवाला आंजन दे दे कि जिससे उसे कोई न देख सके, वह सब को देखे, जहाँ चाहे आये-जाये, बंद दरवाज़े और दीवारें भी उसे न रोक सकें। या उसे इतना बलवान बना दे कि वह सारी दुनिया को जीत ले, कोई उसका सामना न कर सके। न जाने कितने और कैसे-कैसे सपने थे जिनको वह सोचता था कि आदमियों, देवताओं और राक्षसों की सारी शक्तियों का और सारे सुख का उपभोग करे। और जब अपने सपनों से उसे बाहर निकलकर आना पड़ता तो हमेशा निढाल-सा रहता और यही सोचता कि कैसे भागे और कहाँ भाग कर जाये।[४] जीवन की अभिलाषाएँ गहराकर

१- "समीक्षा", अप्रैल, १९६९, गोपाल राय, पृ० ११।

२- "कुछ ज़िंदगियाँ बेमतलब" - ओमप्रकाश दीपक, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९६८, पृ० ११।

३- पूर्वोक्त, पृ० ४३।

४- पूर्वोक्त, पृ० ४५।

उसे इस दुनिया से अजनबी बना देती हैं। यशीटा के दिवास्वप्नों में "ज्ञाता की खोज" और "आउट साइडर"[1] की स्थितियाँ खोजी जा सकती हैं।

संसार के जीवनगत यथार्थ और उसकी वास्तविकताओं के जाल में जकड़ा यशीटा ज्ञाता की खोज करता रह जाता है। वह जब अचानक यूँ ही बिना अपराध के पुलिस द्वारा पकड़ लिया जाता है तो जेल भेजने वाली गाड़ी पर बैठते ही दिवास्वप्नों के कुहासे में खो जाता है कि गाड़ी उलट जाये तो कितना अच्छा हो, ड्राइवर और गारद के सिपाही मर जाएं या घायल हो जाएं या टक्कर के झटके से गाड़ी का दरवाज़ा खुल जाये और सब लोग आज़ाद हो जाएं। पर यह दुर्घटना कभी घटित नहीं होती। फिर भी वह अंत तक कल्पना करता रहता है कि किसी तरह कोई जादू हो जाये कि सारी हवालात को और पुलिसवालों को अंदर लेकर फाटक की खिड़की बंद हो जाये और वह किसी तरह बाहर ही रह जाता।[2] गाँधी जी की हत्या की बात सुनकर भी वह उनकी अर्थी में न जाकर अपनी "कोठरिया" में पड़ा-पड़ा सोचता रहा कि क्या करे। जाने कैसे उसके मन की बेचैनी बढ़ गई थी जैसे उसका निजी संकट बढ़ गया हो। उदासी और थकान बढ़ने के बावजूद सोचता है कि "उसकी ज़िंदगी में क्या फ़र्क पड़ने वाला था।[3]

दुलारे चाचा और भाई की फुसफुसाहट तथा दाई बुलाने की बात सुनकर उसका सिर एकदम फटने लगता है जैसे उसके अंदर कोई कच्चा फोड़ा टीस रहा हो। और वह दूसरे दिन घर से हमेशा के लिये चला जाता है। कल्पना में वह धनी आदमी बनने का ख्वाब देखता है जिसके बल पर वह अपने मुहल्ले पर रौब जमायेगा। पर वास्तव में क्या होता है। पुलिस उसे संदेह में कैद कर लेती है। वह हवलदार के आगे गिड़गिड़ाता है कि वह चोर नहीं है, उसने कुछ नहीं किया है। पर कौन सुनता है। थाने पर आकर उसका दिमाग बिलकुल काम नहीं कर रहा है।

१- "द आउटसाइडर - कॉलिन विल्सन, पृ० ४८-४६।

२- 'कुछ ज़िंदगियाँ बेमतलब', पृ० १६।

३- पूर्वोक्त, पृ० ७७।

उसे लगता है कि वह ऐसी दुनिया में आ गया है जहाँ आदमी नहीं रहते । पुलिस की अमानवीयता और मिलनेवाली प्रताड़नाओं से उसे लगता जैसे वह कोई बुरा सपना देख रहा हो । जो हो रहा था उससे वह अलग, कटा हुआ था ।[१] बिस्कुट चबाने पर उसे लगता है जैसे वह कागज़ की लुगदी चबा रहा हो । हर चीज़ उसके लिए स्वादहीन हो गई थी । उसे लग रहा था कि सब लोग उसके बुद्धूपने पर हँस रहे थे । सहसा उसे आभास होता है कि वह एक अनजान दुनिया में बिलकुल अकेला है ।[२]

लंगड़े महमूद ने उसके "मरम" की बात जान ली थी कि वह बहुत डरपोक है । और इसीलिए वह "लकाड़" मारना नहीं सीख सका, उसके पास कभी पैसे नहीं हुए और न कभी होटल में शराब पीकर वह कोरमा खा सका, न छोकरी मँगा सका, न बी० बी० रोड जा सका ।[३] इसी से महमूद उसके साथ नौकर का बर्ताव करने लगता है और वह भीतर तक कहीं आहत हो जाता है । उसे आलस लगने लगता है, थकान जैसी और कहीं जाने, कुछ भी करने को उसका मन नहीं करता है ।[४] यह श्रम का अजनबीपन है जिसकी विस्तार से चर्चा कार्ल मार्क्स ने की है ।[५] मार्क्स ने लिखा है कि अजनबी श्रम मनुष्य को उसके मानव शरीर से, उसकी प्रकृति से, उसके अपने आत्मिक तत्व यानी मनुष्यत्व से अजनबी कर देता है ।[६]

घसीटा धनी बनने की लालच में पेट काट-काटकर बड़ी मिहनत से पैसा जोड़ने लगता है कि कहीं पान-सिगरेट की कोई दुकान खोल लेगा । लेकिन यह मौका उसके जीवन में कभी नहीं आता है और वह फिर पुलिस के छापे में पकड़ लिया जाता है । जेल में जब वह जिद्दा के मरने की बात सुनता है तो सुनकर लगता है कि उसकी ज़बान को जैसे लकवा मार गया है । जिद्दा के रौब के आगे सब की नानी मरती थी, इतना जबर्दस्त गुंडा - इतना कत्ल करनेवाला, जब रौब से नहीं रह सका, जान से चला गया तो भला वह कैसे रह सकता था ? उसे लगा जैसे उसके हाथ-पाँव सुन्न हो गये हैं, जैसे हड्डियों में ज़ोर नहीं है, जैसे वह ज़मीन पर खड़ा नहीं, हवा

१- 'कुछ ज़िंदगियाँ बेमतलब', पृ० ६६ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १०९ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० १४६ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० १४७ ।

५- 'मैन एलोन : एलियनेशन इन माडर्न सोसायटी', में संकलित "अजनबी श्रम" शीर्षक कार्ल मार्क्स का लेख, पृ० ९३-१०२ ।

६- पूर्वोक्त, पृ० १०१।

में लटका सा है ।[1] जिदा के मरने की खबर पर उसके अंदर ऐसा झटका दौड़ जाता है जैसे उसने बिजली का तार पकड़ लिया हो और यह झटका उसे बिलकुल लस्त, टूटा हुआ छोड़ जाता है । उसकी हिम्मत पस्त हो जाती है, जिस्म ढीला पड़ जाता है । और वह इस झटके के असर से पूरी तरह कभी छुटकारा न पा सका । अंदर ही अंदर वह बुरी तरह कमजोर हो गया ।[2] यहां अजनबीपन पूरी भयावहता के साथ उसकी असमर्थता-बोध के बीच छा जाता है । बाद की घटनाएं उसके अजनबीपन को और गहरा करने में योग देती हैं । चोरी का 'लैटर' दस रुपये की जगह दो रुपये में बिकता है । यह उसकी असमर्थता और विवशता के अनुभव को और तीखा करता है । "सनीमा" के टिकट बेचने के धंधे में वह फिर "अंदर" चला जाता है । और छूटने के बाद भयंकर ठंड में खुले मैदान में पत्थर पर पड़े-पड़े "अकड़" जाता है । किन्तु वह अकेले नहीं मरा था, उसी दिन नदी किनारे एक और ठंड से अकड़ी हुई लाश पाई गई थी जो बसंतिया की थी । उसके लिए भी यह दुनिया , यह ज़िंदगी अर्थहीन होकर बोझ बन गई थी । दोनों ने अलग-अलग ढंग से इस अर्थहीनता से मुक्ति पाई थी । उपन्यास की समाप्ति दिल्ली के दैनिक ~~के दैनिक~~ में निकली इस खबर से होती है कि राजधानी में आई शीत लहर ने कल रात दो जानें और ली , जिनमें एक स्त्री भी थी । डा० गोपाल राय का यह कथन प्रासंगिक है कि जैसी हमारी समाज-व्यवस्था है उसमें कुछ ज़िंदगियों का बेमतलब होना आश्चर्यजनक नहीं है । मौजूदा समाज में ऐसे अनेक मनुष्य नामधारी प्राणी हैं, जिनकी ज़िंदगी आवारा कुत्तों या कीड़े-मकोड़ों से बेहतर नहीं । वे अनचाहे बच्चों के रूप में जन्म लेते हैं, लावारिस कुत्तों की तरह बढ़ते हैं और एक दिन भूख, ठंड या रोग से मर जाते हैं, उनकी लाश ठेले या भैंसागाड़ी पर ढोकर किनारे लगा दी जाती है ।[3]

२३ - "अपना चेहरा"

गोविन्द मिश्र का "अपना चेहरा" (१६७०) एक गठा हुआ

१- 'कुछ ज़िंदगियां बेमतलब', पृ० १५८ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १६० ।

३- "समीक्षा", अप्रैल, १६६६, पृ० ११ ।

लघु उपन्यास है। इस उपन्यास का अंदाज़ बिलकुल नया और प्रस्तुतीकरण का ढंग अनोखा है। पूरी रचना में आद्यन्त कसाव व तनाव बना रहता है। स्वातंत्र्य चेतना के कारण उभरी वैयक्तिकता की टकराहट से उपन्यास को गति मिलती है। मनुष्य की बढ़ती संवेदनशून्यता की गहरी चिन्ता लेखक को है। दफ़्तरी माहौल और नौकरशाही के प्रति अपने आक्रोश को तीखेपन के साथ अभिव्यक्त किया गया है। उपन्यास का नायक 'मैं' हीन भाव से आक्रांत है। अपनी संवेदनशीलता और चोट खाये अहं की वजह से 'मैं' अपनी कल्पना में आसमान के कुलाबे मिलाया करता है और अपना एक अलग संसार रच कर अपने 'शत्रु' के ख़िलाफ़ निरन्तर लड़ता और चुनौती देता रहता है। उपन्यास में इस छोर से उस छोर तक आक्रोश तना है। लेखक गहरी मनोवैज्ञानिकता के साथ कथा को रचता और विकसित करता है। लेखक के अनुसार व्यक्ति विशेष या व्यवस्था बाह्य लक्ष्य हो सकते हैं पर असली लक्ष्य हम अपने स्वयं हैं और इस तरह बाहर की ओर दौड़ती लड़ाई वस्तुत: अंदर की तरफ़ मार करती है। इधर-उधर फैली हुई कई एक स्थितियां हैं जिनके बीच अक्सर व्यक्ति कोई बोझ उठाये झूलता रहता है। और अब स्थिति यह है कि कहीं पर विश्वास जमा सकने की ताकत व्यक्ति खो चुका है, उसकी संवेदना सुन्न पड़ती जा रही है। बड़े-बड़े कमरों में बैठे ऐसे संवेदन शून्य अफ़सरों और अजायबघर में रखे पत्थर के टुकड़ों में लेखक कोई फ़र्क नहीं पाता है।[१] लेखक ने इस व्यथा को तल्खी और बेबाकी के साथ उभारा है जो अपनी मानसिकता और संवेदना में आधुनिकता के उस पहलू से जुड़ जाती है जिसमें नगर-बोध के अजनबीपन अकेलेपन और अस्तित्व के लोप हो जाने को आंका गया है।[२]

लूइस ममफोर्ड ने कहा है कि मशीन सभ्यता की यांत्रिकता और सामयिक नियमितता का मनुष्य के कार्य-कलापों पर निरंकुश शासन मानवीय व्यवहारों के अति विस्तृत दायरे को खेलाने की सीमा में बांध देता है जो संबंधों के अजनबीपन को विकसित करने में योग देता है।[३] डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने मैक्स वेबर और कार्ल मान्हाइम का उल्लेख करते हुए कहा है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में समाज

१-'अपना चेहरा' - गोविन्द मिश्र, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०१९७०, लेखकीय'।
२-'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ९९।
३-'मैन अलोन : एलिनेशन इन माडर्न सोसायटी', लूइस ममफोर्ड का लेख, पृ० ११५।

बहुआयामी संगठनों की ओर बढ़ता है जो बहुधर्मी तथा केन्द्र निर्देशित होता है। केन्द्रीयकरण के इस दौर में समाज एक मशीन की तरह संचालित होता है जिसमें मनुष्य निर्वैयक्तिक हो जाते हैं तथा उनका महत्व शून्य हो जाता है। अतः सिविल सर्वेंट प्रशासन के साधनों से, वैज्ञानिक अन्वेषण के साधनों से, सिपाही हिंसा के साधनों से, कलाकार रचना के साधनों से "पृथक" हो जाता है।[१] इस चर्चा को और आगे बढ़ाते हुए डॉ० मेघ कहते हैं कि संगठन में एक क्रम (रूटीन) के कारण भी अजनबीपन फैलता है :" तकनीकी क्षेत्रों में एक क्रम प्रत्येक निरन्तर कार्यवाही का आधार होता है लेकिन अगर उसमें कामगर, कारीगर, कलाकार, अफ़सर, कर्मचारी को कुछ नया करने की गुंजाइश न हो तभी वह क्रम एक परायीकृत कौशल हो जाता है। बहुधा जब मनुष्य को अपनी रुझान तथा योग्यता के विपरीत भी कार्य करना पड़ता है, तब भी परायापन फैलता है'।[२]

इस उपन्यास में नौकरशाहीकरण के दबाव और कार्यक्रमों की एकरसता तथा निर्वैयक्तिक संबंधों में से अपने अजनबीपन के बोध को दफ़्तरी माहौल के भीतर से उभारा गया है। "मैं", मिसेज़ रचना आजवानी, मि० आजवानी केशवदास, मिसेज़ शर्मा, रेखा, अमरु या सी०डी० के माध्यम से निर्वैयक्तिक संबंधों के खोखलेपन और ठंडेपन को बखूबी गहराया गया है। कु० रचना से मिसेज़ आजवानी बनने की प्रक्रिया में आज के जीवन की बढ़ती व्यावसायिकता और उसके दबाव में लुप्त होती आत्मिक पहचान को लेखक ने कुशलता से रचा है। मिसेज़ आजवानी सिर्फ़ एक होशियार औरत थी जिसने अपनी उम्र, रूप, सब का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया था, खूब आपके लिए थी और वक्त की मरोड़ पहचान कर एक खानदानी से शादी कर ली थी तथा अपनी "बची-खुची जायदाद" अब भी भुनाती जा रही थी।[३] ट्रेनिंग कालेज में देबू, मुखर्जी और अमरु मिसेज़ आजवानी (तब कु० रचना) के साथ सोया करते थे। अपने प्रमोशन के लिए केशवदास जैसे वरिष्ठ अफ़सर को प्रसन्न रखना उसे बखूबी आता है। महत्वाकांक्षिणी होने के कारण इस दौड़ में वह सब से आगे है।

१- 'आधुनिकता - बोध और आधुनिकीकरण' - डॉ० रमेश कुंतल मेघ, पृ० २०७।

२- पूर्वोक्त, पृ० २०८।

३- "अपना चेहरा" - गोविन्द मिश्र, पृ० ७६।

'मैं' महसूस करता है कि मिसेज़ वाजवानी को लेकर उसकी सारी कुढ़न केवल इसलिए है कि दोनों की प्रशासकीय महत्वाकांक्षाएं टकरा रही हैं और 'मैं' उसकी तुलना में हर तरह से अपने को पीछे पाता है । अमर कहता है कि जो लड़कियां एक साथ कई आदमियों के साथ चलती हैं, उनके लिए आदमी, आदमी नहीं सिर्फ़ एक 'मटीरियल' होता है । और मिसेज़ वाजवानी अपनी जबर्दस्त महत्वाकांक्षा के चलते कुछ ऊंचे ओहदों के लिए कुछ भी बर्दाश्त कर सकती है ।[1]

अपनी स्वाभाविक पहचान खोकर व्यावसायिक दबाव के तहत नकली मुखौटे चढ़ाने के लिए 'मैं' विवश है । किन्तु अपनी संवेदनशीलता के कारण 'मैं' इस नकली मुखौटे के भीतर घुटता और सुलगता रहता है तथा अपने को कोसता रहता है । अफ़सरों के आगे 'ही- ही' करते बैठे रहना अब उसकी आदत बन चुकी है ।[2] वह महसूस करता है, उसके अंदर का आत्म विश्वास मर चुका है । केशवदास का अफ़सराना रौब-दाब उसके अहं को खरोंच देता है, उसकी उपेक्षा उसके भीतर कुनमुनाहट भर देती है पर वह केवल भीतर -भीतर उबलकर रह जाता है । वह जान गया है कि अधिकारी वर्ग में यहां सिर्फ़ रैंक्स रहते हैं, आदमी नहीं,[3] या अपने विभाग के सारे काम चोर हैं ।[4] उसे कोफ़्त होती रहती है कि इस तथा-कथित 'डीसेन्सी' ने आदमी को दरअसल डरपोक, दिखावी और न जाने क्या-क्या बना दिया है। वह अनुभव करता है कि वह हीन भाव का शिकार है और शायद इसी वजह से सारे उलझाव में जकड़ा हुआ है ।[5] उसके भीतर कड़ुवाहट फैलकर एक आक्रोश में तन चुकी है और उसके अंदर एक मकड़ी के जाले-सा कुछ तनता-उलझता जा रहा है । इस अहसास के साथ वह व्यक्तिगत स्तर पर खुद को केशवदास से मुक्त करने में लगा है ।[6] आधुनिक और तुनुकमिजाज व्यक्ति का स्वागत करने के लिए [illegible] हर कदम पर बैठी रहती हैं । 'मैं' का चरित्र इसका प्रमाण है । उसका घायल और

१- 'वह अपना चेहरा' - गोविन्द मिश्र, पृ० ७८ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १६ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० २६ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ३६ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ३७ ।

६- पूर्वोक्त, पृ० ३६ ।

चोट खाया अहं उसे डँसने के लिए हमेशा फुँफकारता रहता है ।[१] केशवदास के उपेक्षा भरे बर्ताव से भीतर-भीतर कुढ़कर उसको गालियाँ मन ही मन देता रहता है, फिर भी उसका सामना करने के लिए वह विवश है । इस विवशता के बीच से संबंधों का अजनबीपन उभरता है ।

एकरस और गतिहीन दफ़्तरी जीवन के ठसपन को लेखक कुशलता से संवेदनाओं के धरातल पर उभारता है । "मैं यह महसूस करता है कि केशवदास यह जताना चाहता है कि उसे वह कुछ नहीं समझता । उसकी उपस्थिति और कमरे में एक मच्छर की उपस्थिति उसके लिए बराबर है ।[२] अपने आक्रोश को निकालने और फाड़ने के लिए वह केशवदास की लड़की रेशमा पर डोरे डालता है ।[३] उसे इस ख़्याल से मज़ा आता है कि इससे केशवदास थोड़ा बहुत ही सही परेशान तो होगा ।[४] पर वह पाता है कि इस अपने "खेल" में वह महज केशवदास की लड़की का चौकीदार बनकर रह गया है।[५] ऐन मौके पर न जाने क्यों रेशमा उसे उतनी खूबसूरत नहीं लगती फिर भी वह आत्मीय होकर उसे चिपकाता और चूमता है । रेशमा के सूखेपन से यह कहने पर कि "क्या मिलता है इससे --" उस पर एक लाठी-सी बरस जाती है और उसकी रही-सही उत्तेजना भी पथरा जाती है । जब उसे वह मौके की नज़ाकत देखकर बाँधने की कोशिश करता है तो वह बुत की तरह खड़ी रहती है और अपने होठों को उसके मुँह में ऐसे ठूँस देती है, "जैसे आटा को कनस्तर में ठूँसते हैं ।" रिसते कसैलेपन के बीच वह पाता है : "वह पत्थर थी, मैं उसे लाख कोशिश करने पर भी नहीं चाह सकता था, उसे छूने की तबियत नहीं हुई, एक वाहियात-सी लिजलिजाहट मेरी नसों से आ चिपकी थी, कुछ-कुछ वैसी ही जैसी एक मरी हुई छिपकली को देखकर होती है ।[६] वितृष्णा और जुगुप्सा की इस अनुभूति से उसके

१- 'वह अपना चेहरा' - म

२- पूर्वोक्त, पृ० ४६ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ५१-५८

४- पूर्वोक्त, पृ० ५८ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० ६० ।

६- पूर्वोक्त, पृ० ६६ ।

मानस में अजनबीपन की भावना उमड़ती है :

" और यहां आकर मुझे लगा कि मैं जाने- अनजाने यहां भी केशवदास की गुलामी करने लगा हूं - उसकी बेटी के लिए पकड़ा या पाला गया एक बहुधंधीय खानसामानुमा कुछ --- ।[१]

वह यों ही रेश्मा को ले उड़ा था वर्ना अगर यह न कर पाता तो शायद केशवदास के बगीचे का कोई गमला तोड़ देता, कुछ पौधे रौंद डालता --- या मकान के पिछवाड़े की दीवाल पर पेशाब कर आता । यह आक्रोश जो भीतर भीतर घुमड़ रहा है, संबंधों के तनावों के बीच अजनबीपन की भूमिका सृजित करता है और " मैं " को इस सारे माहौल के बीच अजनबी बना डालता है । कुछ " स्पेशल पे " की जगहों के आने की खबरें सुनकर उसे इस बात का संतोष होता है कि उसने क्षणिक आवेश की फोंक में आकर केशवदास से अनबन नहीं कर डाली है । प्रमोशन के चक्कर में वह केशवदास के पास जाता है। यद्यपि इस तरह हाथ फैलाते हुए उसकी हैसियत गिड़गिड़ाते भिखारी की थी ; वह महसूस करता है कि अपनी सारी अकड़ और ऐंठ के बावजूद वह परास्त कर दिया गया है। वैसे इधर कई सालों से उसने अपने को काफ़ी कुछ जायज़-नाजायज़ सहने के लिए तैयार कर लिया है ताकि उसका " प्रमोशन " न रुके ।[२] उसे इतने दिनों का अपना सारा क्षोभ, आक्रोश, विद्रोह या तनाव इस समय बेकार लगने लगता है। वह सोचता है कि केशवदास इतना तो समझता होगा कि वह इतने दिनों से उसके पीछे किसी वजह से लगा हुआ है तथा उसकी " दुलत्तियां " भी अक्सर खाता रहा है। पर केशवदास उसे सलाह देता है कि उसे इन जगहों के न मिलने से कुछ परेशान न होना चाहिए । और " मैं " को तब अपने छोटेपन का अहसास होता है, एक भुनगा भी उसे अपने से बड़ा लगता है ।[३] वस्तुत: वह एक ग़लत जगह पर था, जहां के तौर-तरीके फर्क थे या वह खुद सब कुछ के नाकाबिल था । उसका खालीपन गहराकर और फालतू- सा हो जाता है ।[४] अपने भीतर जमे इस अजनबीपन के बोध को तोड़कर बहाने के लिये वह मिसेज

१- 'वह अपना चेहरा' - गोविन्द मिश्र, पृ० ७० ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ८० ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ८४ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ६३ ।

आजवानी के गदराये जिस्म को अपनी सारी झिझक के परे जाकर, बांहका सब तरफ से चूम डालता है। लेकिन ज्वार शांत होने पर वह पाता है कि उसके शरीर में कुछ नहीं था, वहां सब कुछ ढीला-ढाला था, मुंह गंदा था - दांत लिपिस्टिक की वजह से सड़े हुए से थे।[1] उससे अलग होकर वह अपने को कुछ टूटा-सा महसूस करता है, हल्का-सा पश्चाताप भी घेरता है। एक क्षण के तीलेपन में हवा के आवारा बगूले की तरह सब कुछ उड़ गया था। कॉलिन विल्सन ने हेनरी बारबुस के उपन्यास के 'आउट साइडर' नायक के जिस अजनबीपन की चर्चा इस संदर्भ में की है,[2] उसी तरह का अजनबीपन का बोध मैं को घेर लेता है :" शायद सभी कुछ आधा था क्योंकि सब कुछ आधा ही रहा था, वह सब भी जो मैं इतने दिनों से झेलता चला आ रहा था। पर कहीं कुछ ज़रूर हुआ था, आखिर एक लावारिस छटपटाहट जो इधर-उधर घुमड़ती रहती थी, कहीं जाकर खुली थी और खुलकर फटी थी। पर जो उसे और भी ज्यादा अजनबी बना गई थी। अब वह संवेदनाओं के स्तर पर केशवदास, रेश्मा, मिसेज़ आजवानी, अपने दफ़्तरी माहौल, अपनी अफ़सरी -- यहां तक कि अपने परंपरागत मूल्यों से भी अजनबी बन बैठा था। उसके अपने संस्कार, आदर्श और मूल्य अपनी अर्थवत्ता उसके लिए खो चुके थे और वह नये माहौल की मानसिकता में अपने को मिसेज़ आजवानी सरीखा फिट करने और संतुष्ट होने में असमर्थ पाता है।

२४ - 'यात्राएं'

गिरिराज किशोर का उपन्यास 'यात्राएं' (१९७१) एक नवविवाहित दम्पति की एक दूसरे को समझने की कोशिश और कशमकश में बिताये गये चंद दिनों की कथा है। पति-पत्नी की आपसी अलगाव की मन:स्थिति एक साथ कई यात्राओं का सूत्रपात करती है जो बाह्य कम और आंतरिक अधिक है। संबंधों के बीच रेंगता हुआ अजनबीपन का अहसास दोनों को घेरने और बांधने लगता है।

१-'कई अपना चेहरा' - गोविन्द मिश्र, पृ० १०२।

२-'द आउटसाइडर' - कॉलिन विल्सन, पृ० ११।

कहीं गहरे में बैठा खालीपन और अतृप्ति दोनों को कचोट रही है । इस उपन्यास में परिवेश और स्थितियां, वातावरण और व्यक्तित्व परस्पर एक दूसरे से घुल-मिल गये हैं । भीतर के खालीपन को भरने के लिए और अजनबीपन के बोध से मुक्त होने के लिए वे दोनों बार-बार बाहर भागते हैं । किन्तु बाहर भी उन्हें वही खालीपन सर्वत्र सड़कों, रैस्त्राओं और दुकानों, यहां तक कि पूरे वातावरण में व्याप्त दिखाई देता है । लेखक ने इस परिवेशगत दबाव के भीतर से अजनबीपन के बोध को गहराया है । लेखक का कौशल इस बात में है कि " यहाँ इस स्थिति का कोई विवरण या चित्रण नहीं है, उसे यहां अनुभव के स्तर पर अनुभव की यातना के रूप में उजागर करने का प्रयास किया गया है जहां देह की प्रासंगिकता और सार्थकता नहीं रह जाती।[१] इस उपन्यास में आधुनिकता के उस पहलू को उजागर देखा गया है जो पाश्चात्य चिन्तन से जुड़ा हुआ है ।[२] डॉ० बच्चनसिंह के अनुसार यह उपन्यास " नपुंसकत्व की एक लंबी अंतयात्रा है जिसमें परिचय में अपरिचय और लगाव में अलगाव का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक अंकन किया गया है ।[३]

विवाह की पहली रात में " मैं " पाता है कि दोनों पति-पत्नी के बीच अपरिचय ठहर-सा गया है । उसे कमरा शिकारी कुत्ते की तरह लगता है । वह अजनबीपन से मुक्त होने के लिये " अनुराग का वातावरण " बनाना चाहता है और पाता है कि परंपरागत शब्द इसके लिए अनुपयोगी और असमर्थ है । वह कमरे की पराधीनता से अपने को मुक्त नहीं कर पाता और उसे लगता है कि वह किसी अनजाने उपग्रह में है ।[४] कमरे की रिक्तता उसका लगातार पीछा कर रही है । रात की खामोशी खालीपन और अजनबीपन के बोध को गहराती है । शब्दों का अभाव उन्हें खलता है और दोनों के बीच उग आई अलगाव की दीवार सारे प्रयासों के बाद ज्यों की त्यों बनी रहती है । अपनी सीमाओं से मुक्त होने की प्रक्रिया से हताश होकर " मैं " अपने को उसी स्थिति में बहने दे रहा है । संबंधों की जड़ता उसके और वन्या के बीच रह-रहकर कौंध जाती है और वह सोचता है कि प्रेयसी की कल्पना

१-" आधुनिक हिंदी उपन्यास ", नरेन्द्र मोहन, पृ० १६ ।

२-" हिंदी - उपन्यास : एक नई दृष्टि," पृ० ६६ ।

३-" आधुनिक हिंदी उपन्यास," पृ० ४७ ।

४-'यात्राएं'- गिरिराज किशोर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १६७१, पृ० २० ।

पत्नी से अधिक मुखर होती है । उसे अनुभव होता है कि वन्या की तीव्र संवेदना की तुलना में उसकी प्रतिक्रियाएं अधिक स्थूल हैं तथा उसका शरीर वन्या के शरीर द्वारा सोखा जा रहा है ।[1] वन्या बहुत धीरे-धीरे अपने को समर्पित कर रही है और उसे वन्या के मिल जाने का अहसास अभी तक नहीं हुआ है । दाम्पत्य-संबंध के बीच पसरता हुआ संबंधों का ठंडापन दोनों को जकड़ लेता है। दोनों ऐसी असमान मानसिक स्थिति में जी रहे हैं जहां वाद्य यंत्र के टूटे तारों के कारण उमड़ता हुआ राग आकर बिखर जाता है ।

'मैं' वन्या के प्रति उत्पन्न हुई विकर्षणों की भावना से लगातार लड़ रहा है । दोनों के बीच एक अपरिचित गंध ठहरी हुई है ।[2] जिससे वह किसी प्रकार अपने को मुक्त नहीं कर पा रहा है । वन्या की तबीयत और बिखराव एक दूसरे में ऐसे गुंथ जाते हैं कि उन्हें अलगाना उसके लिए कठिन हो जाता है । 'मैं' को वन्या सुबह ताजी, जीवित और जगी-सी लगती है, दिन के उतार के साथ उसका उतार शुरू होता है और रात होते- होते वह समाप्त हो जाती थी ।[3] वन्या को अपने में समाहित करने के प्रयत्न में वह पाता है कि उसकी चेतना झनझनाकर बिखर गई है । परिचित न हो पाने का अहसास दोनों को कचोटता रहता है ।दोनों ऐसी मानसिकता से गुजर रहे हैं जहां दोनों को एक दूसरे की निकटता का अहसास तो है पर एक 'लेकिन' उन्हें टोक देता है ।[4] वे दोनों एक दूरी के दो सिरे हैं । घटाने के प्रयत्न में वे अनुभव करते हैं कि दोनों के बीच की दूरी कम नहीं हो रही है । 'मैं' उत्तेजनाविहीन और शिथिल है तथा वन्या खामोश । 'मैं' इस शिथिलता से आशंकित और भयभीत हो रहा है । 'मैं' अपने बारे में और स्वयं में अनिश्चित और अस्पष्ट है कि उसे क्या हो गया है और क्या होना बाकी है । दोनों की देह एक दूसरे के लिए अनुपयोगी हो गई है । वन्या की देह फिर भी है पर वह अपनी देह खो चुका है ।[5]

१-'यात्राएं'- गिरिराज किशोर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,१९७१, पृ० ३८ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ३० ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ९१ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ९९ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ८२ ।

वह वन्या से कहता है : " अभी हम एक दूसरे को खोज रहे हैं । कुछ समय तक ऐसा ही होता रहेगा - कभी मैं खो जाऊंगा और कभी तुम ।"[1] बाहर घूमते समय वे अंधेरे में मिल जाते हैं और अंधेरा पर्त-दर-पर्त उनके ऊपर जमता जाता है । वह अपने शरीर को हिलाकर देखता है पर अंधेरा टस से मस नहीं होता । अब हालत यह हो जाती है कि " अंधेरा ही अंधेरा था, हम कहीं नहीं थे ।"[2] बाहर का यह अंधेरा भीतर के अजनबीपन के अंधेरे से जुड़ जाता भी है । इसका स्पष्टीकरण देते हुए कहता है : " मैंने कभी नहीं सोचा था हम लोगों के बीच इतना बड़ा ठहराव एकाएक आ जाएगा । यह अनायास हुआ है ।"[3] अजनबीपन के इस बोध के बीच " मैं " वन्या को मित्रों को सौंपने की बात सोच रहा है । बाहर का अंधेरा भीतर तक ठसाठस भर जाता है । बत्तियां बुझने के साथ " मैं " भी बुझ जाता है । " मैं " के इस बुझने में अजनबीपन के बोध की गवाही मिलने लगती है और उसे पूरा नगर एक अपरिचित मेहमान-नवाज़ की तरह ताकता हुआ लगने लगता है ।[4] वन्या नाक-नक्शहीन मसूरी से भयभीत है और " मैं " पाता है कि दोनों के बीच बातों के लिए शब्द अभी जन्मे नहीं हैं ।[5]

२५ - " सफ़ेद मेमने "

मणि मधुकर के उपन्यास " सफ़ेद मेमने " (१९७१) में धूल के टीलों, आंधी और दमघोट एकाकीपन से जकड़े राजस्थानी अंचल के नैगिया नामक गांव की कहानी है जिसकी रिक्तता में व्यक्तियों को अपना व्यतीत और वर्तमान पराया-पराया लगता है । नैगिया गांव का रेगिस्तान अपनी प्रतीकात्मकता में अभिशप्त मानवीय नियति से जुड़ जाता है । नरेन्द्र मोहन के शब्दों में, " रेगिस्तान का अंतहीन रेतीला फैलाव यहां पात्रों की मन: स्थिति के लिए एक प्रतीकात्मक संदर्भ बना है । इसमें रेत का परिवेश पात्रों की भीतरी पर्तों में लिपटा हुआ है। नैगिया की बस्ती मनुष्य के निर्जीव होते जाते अस्तित्व और मनहूसियत के एहसास से अंतर्बद्ध हो गई है ।"[6]

१- 'यात्राएं' - पृ० ८७ ।
२- पूर्वोक्त , पृ० १०३ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १०४ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १०८ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ९९ ।
६- 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास', पृ० १८।

इस रेगिस्तान के एकान्त में अकेलेपन , अजनबीपन और बेगानेपन के बोध को अधिक गहराई में देखा गया है ।[१]

इस उपन्यास की भाषिक संरचना में एक प्रकार का सृजनात्मक तनाव विद्यमान है जो हिन्दी उपन्यास की मूल संवेदना में आये बदलाव को रेखांकित करता है । मणि मधुकर के इस उपन्यास से परंपरागत गतिरोध टूटा है तथा हिन्दी उपन्यास को नया मुहावरा मिला है। लेखक की भाषा जीवंत, धारदार और अद्भुत प्रवाह से युक्त है । विषय को मूर्त करने की रचनात्मक क्षमता भाषा को एक नई भंगिमा और नया तेवर प्रदान करती है । मणि मधुकर की भाषिक संरचना का यह बदलाव परम्परित बिम्बों, रूढ़ शब्द-प्रयोगों और घिसे पिटे लटकों से मुक्ति का है । इस तरह से लेखक हिन्दी उपन्यासों की भाषिक संरचना के क्षेत्र में, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के साथ संभावनाओं के नये क्षितिज खोलता है । ऐसे उपन्यासों से गुजरने पर हिन्दी उपन्यासकारों की गहरी अंतर्दृष्टि और जीवन को समग्रता में उकेरने की ललक का साक्षात्कार होता है । इस उपन्यास में ऐसा कोई अंश नहीं है जो सृजनात्मकता से दूर पड़कर साहित्यिक रचनाशीलता को खंडित करे ।

लंगड़ा पागल भीमा - एक गबरू जवान, पागल और लंगड़ा हो गया है । स्वतंत्रता के बाद हिंदी उपन्यासों में अपाहिज या पंगु व्यक्ति अक्सर चित्रित किये जाते रहे हैं । इन अपाहिज व्यक्तियों का संदर्भ भग्न आशाओं से अपने आप जुड़ जाता है । रघुवंश की मीरा, लक्ष्मीकान्त वर्मा का डॉ० संतोषी और मणि मधुकर का भीमा क्यों अपंग हो जाते हैं ? वस्तुत: इनकी अपंगता कल्पनाओं के उजड़े संसार को प्रतिबिम्बित करती है । किन्तु एक बात यहां विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मीरा, संतोषी और भीमा अपनी शारीरिक अपंगता के बावजूद वैचारिक और मानसिक दृष्टि से अपंग नहीं होते, उनमें वही पहले वाली तेज़ी व तुर्शी कायम रहती है । दुनिया के लिए वे अजनबी हो जाते हैं , दुनियां उनके लिये अजनबी हो जाती है, पर उनका मानवीय मूल्यों में विश्वास अंत तक बना रहता है । ये अतिशय बौद्धिकता व संवेदनशीलता से ग्रस्त बौद्धिक आउटसाइडर है तथा

१-'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि' - डॉ० इन्द्रनाथ मदान,पृ० १०१ ।

अद्भुत रूप से जीवन्त है । हिन्दी उपन्यास आदर्शवादी रूमानियत की भूमि लाँघकर किस प्रकार यथार्थ के धरातल पर अपने को प्रतिष्ठित करने का उपक्रम कर रहा है, मणि मधुकर का यह उपन्यास इसका प्रमाण है । आँचलिकता की सुगंध बिखेरते हुए यह उपन्यास एक पूरे युग विशेष को अंकित कर देता है । अकेलेपन, अजनबीपन, विसंगति-बोध व व्यंग्य-आक्रोश का मिला-जुला स्वर उपन्यास की संरचनात्मक बुनावट से रचनात्मक आवेग के साथ उठता है । शब्दों के नये- नये गुच्छे पूरे उपन्यास में प्रयोगात्मक रूप में बिखरे हुए हैं जिससे उपन्यास की काव्यात्मकता उभरने लगती है । परिवेश और वातावरणगत नीरसता और शुष्कता के माध्यम से लेखक पात्रों के अकेलेपन और अजनबीपन को गहराता है ।

पोस्ट मास्टर राम औतार को बचपन में कभी पं० नेहरू ने थपथपाया था । इसी थपथपाहट को रामऔतार आज तक पाले हुए हैं :" शायद वे एक नजर में पहचान गये थे कि मुझमें प्रतिभा है ।" इसी" प्रतिभा की सहज पहचान" से वह नेहरू का मुरीद है और किसी सुनहले भविष्य को न पाने के कारण वह खोया-खोया कहता है :" यह इलाका दुनिया से कितना कटा हुआ है । मेरे दिल में बड़ी-बड़ी ख्वाहिशें थी । अब तो मैं बिल्कुल भूल गया हूँ कि वे क्या थी और कैसी थी ? शायद मैं नेता बनना चाहता था । --- मैं नहीं जानता कि मुझे क्या होता जा रहा है आजकल ।[1] बस्सू डाकिया भी जानता है कि पोस्ट मास्टर को कोई धारदार चीज काटे जा रही है और उसका मन यहाँ नहीं लगता । लेकिन वह चीज क्या है, इसकी पड़ताल वह नहीं कर पाता । लेकिन कुछ तो था जो भीतर-भीतर उसे खाता जा रहा है और जिसे भुलाने के लिए वह किसानों के बीच तो कभी गिलहरियों के बीच घूमा करता है । यह उसकी नपुंसकता और पौरुषहीनता है जो उसे भीतर-भीतर खाली और खोखला करती जा रही है । अपनी पत्नी के तनाव को लिंकन की महानता और उसकी स्त्री की खटपट से जोड़कर वह अपने चोट खाये अहं व पौरुष को सहलाया करता था ।

१-" सफ़ेद मेमने " - मणि मधुकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १६७१, पृ० १३ ।

~~बैठकर वह सोचता है कि बन्ना एक मुक्त नहीं है, ज्यों मलवाली की रेगिस्तान में जाकर भी सूखी नहीं है और निरंतर बह रही है। बन्ना के शरीर से फूटती नदी की कलकलाहट और गुदगुदी के पीछे रस को अपने भीतर समेटकर वह अपने जीवन को सकून देना चाहता है - पर यह कहाँ हो पाता है ? बन्ना भी~~ कहती है कि यह मेंगिया गाँव कितना मनहूस है। हर वक्त आँधी और सन्नाटा। डॉक्टर इस मनहूसियत और भीतर के खोखलेपन और अर्थहीनता को तोड़ने के लिए भैंस की थूही थपथपाते हुए अपनी रगों के तनाव को, अपने भीतर की समस्त कड़ुवाहट को उड़ेल देना चाहता है। पर इसमें भी वह सफल नहीं हो पाता और मीना उसे कोठरी के द्वार पर मुंह बिराता भर्त्सना करता मिल जाता है।[1] यहाँ विसंगतिबोध के साथ अजनबीपन तेज़ी से गहराने लगता है।

संदो की रगों में जाटों का खून दौड़ रहा है और वह अपने को राजपूत समझता हुआ सुरजा पर रोज़ अपने दोस्तों से "चढ़ाई" करवाता है। इस क्रूर व अमानुषिक सामंती मानसिकता को संदो-सुरजा प्रकरण के माध्यम से लेखक ने बड़े कारुणिक ढंग से उभारा है। पुरुष समाज की इस पाशविकता के नीचे तड़पती सुरजा के लिये जीवन अर्थहीन और अजनबी हो जाता है। डॉ० रमेश कुंतल मेघ के अनुसार "जाटणी सुरजा एक मेमने की तरह है जिसे महज़ संभोग के लिए ढीला-जाता है।[2] वस्तु के भीतर आते ही अपना लहंगा ऊपर उठाकर मुंह फेरकर बोलती है "चढ़ जाओ।" इस तल्ख अनुभूति के भीतर अजनबीपन उसे दबोचने लगता है। संदो सुरजा को रौंदने, कुचलने और पीसने की क्रूर आकांक्षा से लबालब भरा था क्योंकि उसने इसके माध्यम से बराज के राजपूतों की खोखली इज़्ज़त को दुगुना-चौगुना कर दिया था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी अमरबेल की भाँति फलने-फूलनेवाले इस फगड़े में केवल "स्त्री" की दुर्दशा होती थी और दूसरों की इज़्ज़त बनती थी।[3] संदो का मानवीय मूल्यों से अजनबीपन उसके क्रूर व्यवहार से साकार हो उठता है। पुलिस का रोल इन सब के बीच केवल तमाशाई का है जिसका प्रयास दुश्मनी को

१- 'सफ़ेद मेमने', पृ० ५० ।

२- 'क्योंकि समय एक शब्द है' - डॉ० रमेश कुंतल मेघ, १९७५, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० ३१२ ।

३- 'सफ़ेद मेमने', पृ० ६१ ।

उत्तरोत्तर बढ़ाने का है। पुलिस की अमानवीयता, बर्बरता और शिथिलता को यह उपन्यास सशक्तता के साथ उभारता है। संदो की इच्छापूर्ति में तिल-तिल जलती सुरजा के भय से नीले पड़े होठों पर अपने होठ रखकर जस्सू उसके भीतर के तमाम अंधेरे को पी जाना चाहता है क्योंकि वह उसके खून में घुलकर उसे काला कर रहा है। पर यह भी वह नहीं कर पाता। सुरजा थानेदार की भेंट चढ़ जाती है और जस्सू कुछ न कुछ कर पाने की मजबूरी में ताकता रह जाता है। जस्सू की यह विवशता मानवीय नियति की अभिशप्त विवशता से जुड़ जाती है।

हमेशा प्रसन्न रहनेवाली बन्ना इस रेगिस्तानी निचाट में स्वयं के लिए अपरिचित और अजनबी होती जा रही है। मृत्यु का भय उसका पीछा कर रहा है। वह राम औतार की ज़िंदगी से जितना प्यार करती है, उतना ही उसकी मौत से।[१] वह एक ऐसी स्थिति में फंसकर टिक गई है जहां निदान की जागरूकता खत्म हो चुकी है। न मालूम क्यों बन्ना को अपना अतीत और वर्तमान पराया-पराया लगता है।[२] गुज़रे हुए जीवन की रोचकताओं और आज की शिथिलताओं में कोई संगति या संबंध-सूत्र उसे नहीं दिखलाई पड़ता। बन्ना अपने अधूरेपन के बोझ के नीचे पिस रही है जिससे निस्तार का रास्ता नहीं है। शादी से पूर्व, अपनी मामी द्वारा दंगों की क्रूरता सुनकर, रंडी की गलाजत आंखों से देखकर उसका अकेलापन बढ़ता जाता था। सत्यनाशी के कंटीले पौधे की भांति उसके भीतर बाद में भी यह उगता-पनपता रहा जिससे शारीरिक आकर्षण का सुख बुझने लगा था। रामऔतार से शादी के बाद वह केवल एक निःसंग बेजुबान हरकत भर रह गई थी। रामऔतार बन्ना की सहजता से अपने पौरुषहीनता के अहसास को एक निरर्थक उजास की ओर मोड़ने का असफल प्रयत्न करता है। और बन्ना मान चुकी है कि हर औरत किसी न किसी स्तर पर रंडी होने के लिए विवश है।[३] मां, मामी और पड़ोसिन वेश्या-तीनों के स्थापित रंडीपने ने बन्ना को अंतिम निष्कर्ष तक पहुंचा दिया था। इन विवश स्थितियों से वह निकल जाना चाहती है। पर इस रेगिस्तान ने उसकी सारी कलकलाहट को सोख लिया था। कभी-कभी उसके मन में यह आकांक्षा सिर उठाती है कि वह समूचे शुष्क, नीरस और बंजर माहौल पर एक उमंग भरी नदी के रूप में

१- पूर्वोक्त, पृ० ७५।

२- पूर्वोक्त, पृ० ७७।

३- पूर्वोक्त, पृ० ८१।

उमड़ चले ।[1] वह कुछ कर नहीं पाती । इसी निरर्थकता को गलाने के लिए वह अफीम लेने लगती है । किन्तु नैगिया की धूल के खंडहरनुमा टीले, दिन-रात आँधी, दमघोट एकाकीपन की रेत साल-दर-साल उसमें इकट्ठी होती गई है और अब तो वह उससे अलग होने की आकांक्षा भी खो बैठी है ।[2] अजनबीपन की रेत से मुक्त होने की कोशिश में संदो का बीज, रामऔतार के पौरुष को आहत करता हुआ, उसके पेट में पलने लगता है ।

नैगिया की मनहूसियत से आक्रांत भीमा सोचता है कि नैगिया को लूट लिया जाय । सुरजा को लेकर जस्सू चिड़चिड़ा हो गया है और भीतर ही भीतर कोई चीज़ उसे सालती रहती है । रक्खे को सहसा इस सत्य का भान होता है कि रेत के इन दूहों में रहनेवाले सभी लोगों का जीवन बांस की फटी खपच्चियों की तरह है । इन्होंने अपने आपको निरीह मोरचंगों की शक्ल में बांध लिया है और सूखी धुनें निकाल रहे हैं । ये धुनें आपस में टकराती हैं, घुलती हैं, बिखरती हैं पर ऊपर से कुछ महसूस नहीं होता । लगता है सब ठीक है । लेकिन अंदर ही अंदर धुनें जल रही हैं, मोरचंग धुआं दे रहे हैं । क्या जस्सू, क्या डाक्टर, क्या पोस्टमास्टर , क्या बन्ना और क्या वह खुद - सब मोरचंग हैं ; एक दूसरे को बजा रहे हैं । जो जितना खोखला होता है, वह उतना तेज़ बजता है । छुटकी मिनिया से लेकर बुढ़ऊ रक्खे तक यही विवशता का संबंध है और कोई धर्म या गठबंधन नहीं ।[3] इस विवशता की अनुभूति से अजनबीपन की भावना जुड़ी हुई है । डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने इसे यों कहा है :

' दो बूढ़े पात्र, जस्सू और रक्खे, अकेलेपन तथा अजनबीपन की भयानकता को भोगते हैं और शहरी जीवन की ललक लिए रहते हैं ।[4]

बन्ना के आगे अकेलापन और अजनबीपन चट्टान की भाँति खड़ा है और जिसे तोड़ने के लिए बन्ना संदो के साथ भाग जाती है । हताश

१- पूर्वोक्त, पृ० ८३ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ६१ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ११० ।
४- 'क्योंकि समय एक शब्द है' - डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, १६७५, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० ३१३ ।

रामऔतार फीकैपन से कहता है :" मैं ---- मैं नहीं बदला । रेत आदमी को बदलती नहीं है, वहीं का वहीं निर्जीव बना देती है ।"[१] भीतर-भीतर घुटता और घुनता हुआ हत्यारा डॉक्टर कुछ गलत नतीजों की प्रतीक्षा करता रहता है । जम्मू जन्तरी के माध्यम से अपने तनाव को व्यर्थ करना चाहता है, पर उसका बलात्कार असफल हो जाता है । जन्तरी की मार से विलबिलाता जम्मू घायल ढोर की तरह अरड़ाकर रेत में रोते हुए बेहोश हो जाता है । जम्मू की विवशता मानवीय नियति की विवशता से जुड़ जाती है । इस विवशता और असमर्थता की गिरफ़्त में सारे पात्र हैं । डॉक्टर को दुनियां रेत के थक्कों से लिथड़ी हुई दिखती है जिसमें सांस लेना तक मुश्किल है । जम्मू , डॉक्टर, रामऔतार, बन्ना आदि सब की विवशता अजनबीपन के विविध आयामों से जुड़ जाती है जो मानवीय नियति की अभिव्यक्तता को रेत की प्रतीकात्मकता में गहराती है । उपन्यास इस प्रकार आधुनिक बोध की गवाही देने लगता है । रेत की सन्नाट रिक्तता में" भगोड़े" बिखर और टूट जाते हैं । शेष रह जाती है केवल" वही धूल , वही किरकिराहट जो दांतों से अधिक धमनियों के खून में बजती है ।"[२] लेखक इस प्रतीकात्मकता को और गहराता है :" सफ़ेद मेमने अपने मामूली दम-खम के बूते भाग रहे हैं, लड़खड़ाकर गिर रहे हैं, लहूलुहान हो रहे हैं, फिर उठकर हांफ रहे हैं और उसी तरह दौड़ रहे हैं । एक डर उनके भीतर है, एक डर उनके बाहर है । एक अनदेखे कसाई का अदृश्य छुरा उनका पीछा कर रहा है । वे बचना चाहते हैं । इसलिए उस सांस-तोड़ भागाभागी के सिवा कोई चारा नहीं है ।[३]

२६ - " कटा हुआ आसमान "

अपने को अस्तित्ववादी-मार्क्सवादी[४] कहनेवाले जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का " कटा हुआ आसमान" (१९७१) हिन्दी उपन्यास को शिल्प की दृष्टि

१- पूर्वोक्त, पृ० १३७ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० १४४ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १४६ ।
४- 'कटा हुआ आसमान' - जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, अक्षर प्रकाशन, १९७१, फ्लैप पर ।

से आधुनिकता के शिखर पर पहुँचाकर यथार्थ के विविध आयाम खोलता है । प्रस्तुत उपन्यास आज की यांत्रिक ज़िंदगी महानगरीय भागदौड़ और अफरातफरी का प्रामाणिक दस्तावेज़ है । नींद में भी बदहवास व्यक्ति का पीछा यह भीड़ नहीं छोड़ती । आदमी जी जान लगाकर शांति के लिए भाग रहा है, भीड़ दौड़ा रही है, यंत्र उसकी आत्मा से चिपट गया है और जीवनरस जोंक की भाँति चूस रहा है । आदमी की इस भाग दौड़ और सारी छटपटाहट के बाद भी मुक्ति नहीं है तथा उसे जीवन में कहीं सकून नहीं मिलता । आदमियों की इस भीड़ में किसी के प्रति किसी के मन में रागात्मक लगाव नहीं है ।[१]

उच्चवर्गीय छात्र-छात्राओं के बीच ; मध्यमवर्गीय दकियानूसियों अवकचरी परम्पराओं और आर्थिक- सामाजिक दबावों के नीचे पिसते प्राध्यापक की यातना को कथानायक रमेश नौटियाल के माध्यम से उभारा गया है । नौटियाल को बसों की दौड़, कारों की रफ़्तार , सड़कों के शोर के बीच महानगरीय जीवन का खालीपन कचोटता है । यह खालीपन दोपहर और रात के बीच, यहाँ तक कि जीवन के हर क्षेत्र में पसरा हुआ है । मध्यम वर्ग टूटे हुये भगोड़े आदमियों का वर्ग है । मध्यमवर्गीय जीवन की घुटन और पीड़ा नौटियाल के माध्यम से मार्मिक रूप में प्रकट होती है ।[२]

उसे कालेज में " मियाऊँ ऽ ऽ " की आवाज़ के बीच किटी की सहानुभूति प्राप्त होती है । किन्तु कालेज के उच्चवर्गीय छात्रों, उनके आभिजात्य अहंकार और अंग्रेज़ी में बोलते हिन्दुस्तानी चेहरों के बीच नौटियाल अपने को नितान्त

१- ' आदमी--आदमी---आदमी । चारों तरफ़ आदमी । बस की लाइन में, गाड़ियों के डिब्बों में, फुटपाथों पर, पेशाब खानों में । हर जगह तुम्हारा रास्ता रोककर खड़े हैं । इनकी आँखों में तुम्हारे लिए --- कुछ नहीं है । तुम्हारी तरफ़ देखने की इन्हें फ़ुरसत नहीं है । इनसे नफ़रत करो' ।पृ० १०।

२- '' हम किसके बारे में बोलें ? हमारी धरती का आकाश बौना है । हमारी आकांक्षाएँ झुककर सिर सहला रही हैं । हमारी उम्मीदों के किस्से बासी हो चुके हैं । हमें बोलना अच्छा नहीं लगता । हम सब से छोटे हैं । हममें कुछ नहीं है । हमारे पास कुछ नहीं है । हमसे मिलनेवाले --- सब हमसे ऊँचे हैं । हमसे बोलने वाले --- सब हमसे बड़े हैं ।' पृ० १७ ।

अजनबी पाता है । इस दर्म्यान किटी से उसकी आत्मीयता बढ़ती है । किटी को उसकी सरलता और भोलेपन से प्यार है । वस्तुत: यह एक प्रकार का रोमानियत भरा पलायन है । मनुष्य अपने जीवन में जिस सादगी और सरलता को उतार पाने में असमर्थ रहता है उसे अपने प्रिय पात्र में खोजकर मन को संतोष देता है । वह किटी के साथ सेवॉय के नीले प्रकाश में बैठा उसके प्रति अपने आकर्षण व खिंचाव को उधेड़ रहा है । यद्यपि उसके भीतर कुछ महसूस हो रहा है किन्तु मध्यमवर्गीय नैतिक चेतना के काँचने से उसका सिर शर्म से झुका हुआ है । यहाँ लेखक ने प्राध्यापकीय मानसिकता को, उसकी कमियाँ और खोखलेपन के साथ, हीन सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बीच यथार्थ रूप में रखा है । किटी में रोमांटिक भावबोध लहरा रहा है । यहाँ मध्यमवर्गीय और उच्चवर्गीय चेतना, परंपरागत नैतिकता और आधुनिकता मूल्य तथा प्राध्यापकीय गरिमा और वैयक्तिक लालसाओं की टकराहट को लेखक सूक्ष्मता के साथ रचनात्मक स्तर पर अंकित करता है ।

सायरन की चीख़ के साथ मजदूर-टोलियों की दौड़, बसों की दौड़, दूधवालों की दौड़, सब्जी लदे ट्रकों की दौड़ शुरू हो जाती है । इस दौड़ में शामिल होने के लिए वह विवश है । पर यह दौड़ लक्ष्यहीन है, इसका कोई अंत नहीं है ।[1] जो इस जीवन में सारी समस्याओं से भाग जाता है, वही सुखी और सफल होता है ।[2] कीड़ों के हजूम वाली भीड़ उसकी अस्मिता को निगलती जा रही है । लेखक का वैशिष्ट्य इस भीड़ के दबाव को कलात्मक रूप में रखने का है । निर्मल वर्मा का कथन प्रासंगिक है :

भीड़ में अकेलापन बहुत लोग महसूस करते हैं ---- उसमें कोई अनोखी बात नहीं, लेकिन अपने अकेलेपन में भीड़ के दबाव को महसूस करना --- उससे समझौता न करने पर भी अपने दरवाज़े पर उसके नाखून की खरोंच सुन पाना -- इससे मुक्ति केवल उस साहित्यकार को मिल सकती है, जो स्वयं धकियाकर अपने को

१- पूर्वोक्त, पृ० २०।
२- पूर्वोक्त, पृ० २२ ।

कलाकार की नियति से मुक्त कर दे ।[१]

किटी उसके बिना नहीं रह सकती । उसके लिए मन की खुशी सब से बड़ी चीज है ।[२] किन्तु उसे इस खुशी से डर लगता है । यहाँ लेखक उच्चवर्गीय व मध्यमवर्गीय मानस में पलनेवाली रोमानियत का ; अपनी सारी वर्गीय सीमाओं व अवरोधों सहित, बिना किसी लाग-लपेट के निर्ममतापूर्वक यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है । असल में आधुनिकता मूल्यपरक होती है । अज्ञेय-देवराज-रघुवंश की रोमानियत बौद्धिकता की नींव पर प्रतिष्ठित है जिसके मूल में आधुनिक जीवन-मूल्य है । पर जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने रोमानियत को प्रतिष्ठित करने के बजाय व्यंग्यात्मक रूप में उसका पर्दाफाश करते हुए उस पर तीखा प्रहार किया है जिसमें आधुनिकता -बोध आंका गया है ।[३] वैसे बुद्धू किस्म के खूसट प्राध्यापक को, लंदन में रह चुकी किटी जैसी आधुनिक लड़की से मिले प्यार में लेखकीय रोमानियत को देखा जा सकता है ।

मानव-मस्तिष्क में चल रहे विचार-प्रवाह को बांधने की 'यूलिसिस' की तरह कोशिश डॉ० रघुवंश के 'तंतुजाल' व 'अर्थहीन' में मिल जाती है। पर इस प्रकार की शैली का पूरा उत्कर्ष अपने कलात्मक निखार के साथ जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के उपन्यास 'कटा हुआ आसमान' में दिखलाई पड़ता है । 'तंतुजाल' या 'अर्थहीन' तक यह शैली कुछ पराई-पराई सी लगती है और पाठक के गले आसानी से नहीं उतरती । कहीं कुछ अटकता है और शैली का ठहराव व उबड़खाबड़पन पाठक को घेर कर ऊब पैदा करता है । महानगरीय जीवन की भाग दौड़ और आधुनिक जीवन के तनाव को उसकी संपूर्णता में रखने के लिए यह भाषिक बदलाव अपेक्षित था । 'अज्ञेय' के बाद भाषा और शिल्प की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में आया यह दूसरा महत्वपूर्ण बदलाव है जो नये युग के प्रवर्तन का प्रतीक है । आधुनिक जीवन के तनावों और ऊब को अभिव्यक्त करने के लिए हिन्दी उपन्यासों के रचाव में उत्पन्न भाषिक सृजनात्मक तनाव को यहाँ परिलक्षित किया जा सकता है ।

१-'शब्द और स्मृति' - निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७६, पृ० ३२ ।
२-'कटा हुआ आसमान', पृ० ४० ।
३-'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि', पृ० १०५ ।

यथार्थ को पकड़ने के लिए यह भाषिक संरचनात्मक तनाव इतना बढ़ जाता है कि भाषा के सामान्य व्याकरणगत ढांचे को तोड़कर उपन्यास की भाषा अपने को काव्यभाषा के स्तर पर सहज रूप में प्रतिष्ठित कर लेती है। आधुनिक जीवन के गहरे दबावों और भाषिक संरचना के दुहरे सृजनात्मक तनावों के बीच लेखक ऊर्जात्मक आवेग के साथ, गजानन माधव मुक्तिबोध की कविताओं की तरह बिम्बात्मकता में उपन्यास को रचता है। इस उपन्यास में लेखक ने वर्तमान को जीने की और उसको उसकी संपूर्णता में फैलने की रचनात्मक कोशिश की है।

रमेश नौटियाल, बम्बई की चमक-दमक में अपने को मिसफिट और अजनबी पाता है। शानदार होटल में एक खूबसूरत लड़की के साथ बैठकर भी वह अपने को ग्रामीण परिवेश से काटकर सामान्य जनप्रवाह का अंग नहीं बना पाता। वह इन खुशियों के क्षणों को समेट लेना चाहता है, सहेजता भी है, पर सड़ी हुई मछलियां, अंडों के बिखरे छिलके, मरे हुए चूहे, बहता हुआ गटर, मिल की घरघराहट, सुरेश की पढ़ाई, रत्नों का विवाह, मनीआर्डर आदि चीजें इन खुशियों के बीच तैरती रहती हैं। महानगर की भीड़ में उसे गांव-घर की याद सताती रहती है और वह परायेपन का अनुभव करता है। किटी में उच्चवर्गीय सुविधावादी मानसिकता लेखक ने कुशलता से पल्लवित की है। किटी जिंदगी की हर चीज को 'लाइटली' लेने की सलाह देती है। जीवन कितना बड़ा है, कितनी बड़ी-बड़ी आकांक्षाएं हैं, किसी एक चीज से अपने को जोड़ लेने पर जीवन दुःख से परिपूर्ण हो जाएगा -- और यह बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं होगा।[1] इस तरह से किटी उसका अपनी भावनाओं की तुष्टि के लिए 'उपयोग' करती है। उसे किटी की दुनिया बहुत बड़ी लगती है। उसकी दुनिया छोटी है, उसमें 'एंज्वाय' करने के लिए कुछ नहीं है क्योंकि आकांक्षाएं उसका मजाक उड़ाती हैं।[2]

किटी यौरप के किस्से कह रही है और उसके दिमाग में उसका परिवेश उसकी बकवासी, मध्यमवर्गीय संस्कार, कुंठाएं, नैतिकताएं, मूल्य, शंकाएं,

---

१- 'कटा हुआ आसमान', पृ० ६४।

अतृप्तियां, मरे चूहे, बहता गटर, सड़ी मछलियां, पियक्कड़ चेरियन, चू रही छत, आंटीजी को दिये गंदे कपड़े, रत्ना की शादी, सुरेश की फीस, मां की बीमारी अपनी आर्थिक दुरवस्था, सरदेसाई का दुख, शर्मा साहब का नीचा झुका चेहरा, सड़ता हुआ कचरे का ढेर, कारों की कतार, पीपु-पीपु-हार्न की आवाज़, लम्बा सलाम, चुम्बनों की कोमल बौछार, सुन्दर जवान शरीर, प्रेमिल पुलक भरा स्पर्श, बिखरे बाल, सरका हुआ आंचल, बंधा हुआ तूफान, लहराता समुद्र, क्रीम कलर कार, डेढ़ सौ आंखों की चुभन, आदम स्मिथ, बिखरे हुए चाक के टुकड़े, आ-आकर लगते कागज़ के तीर, मियाऊं ड ड, कालेज की घण्टी, बस की भागदौड़, कीड़ों का हजूम, बेस्वाद खाना, चेरियन की नसीहतें, भिनभिनाती मक्खियां, लैट्रीन की बदबू, आज़ाद हिन्द गेस्ट हाउस, चमचमाती दुकानें, फर्राटा भरती मोटरें, गोरी कलाइयां, मक्खन-सा चिकना बदन, अधखुली छातियों की गोलाइयां, स्तनों का हल्का उभार, लालू पंजवानी की हंसी, छात्रों की चिल्लाहट - आदि सारी चीजें एक साथ तैरती हुई बह रही हैं। विचारों का प्रवाह, बीते क्षणों का प्रवाह, दुःखद यादों का प्रवाह, आर्थिक दुरवस्था का प्रवाह, किटी के साथ का रोमानियत भरा प्रवाह - उसके ऊपर से गुज़र रहे हैं। इन सारे प्रवाहों के बीच किंकर्तव्यविमूढ़ बना वह बदहवास बैठा है। अपने अलगाव को पाटने के लिए क्षण को पकड़कर अर्थ देने का प्रयास वह जितना करता है अलगाव उतना ज्यादा फैलता जाता है। यह बेगानेपन का बोध उसके इस कथन से उभरने लगता है : "कहां है हमारा घर ? कहीं नहीं।[1] वह महसूस करता है, घर में सब कुछ है, सिर्फ घर नहीं है।[2] उसके मन में कोई कीड़ा लग गया है जिससे उसे सब कुछ उखड़ा-उखड़ा लगता है। घर नहीं, साथी नहीं, पैसे नहीं, घबराहट, ऊब, घुटन, थकन और ऊंचे अरमान उसे चारों तरफ़ से घेरे हुए हैं।[3] वह अधूरा आदमी है, कमज़ोर है, किटी का संग उसे और कमज़ोर और अधूरा बनाएगा।[4] वह कन्फ़्यूज़ हो रहा है, रास्ता उसके पास आकर सिकुड़ गया है।

अदृश्य नियति का आतंक उसका पीछा कर रहा है। हमेशा

१-'कटा हुआ आसमान', पृ० ८०।

२- पूर्वोक्त, पृ० १३५।

३- पूर्वोक्त, पृ० ८३।

४- पूर्वोक्त, पृ० ८४।

एक डर, घबराहट, मुसीबत का भय जकड़े हुए है।[1] हर आदमी अपने आपसे डरा हुआ है। गाड़ियाँ और बसों में आदमी है और ये सब उसके दिमाग पर खड़े हैं। उसका सहपाठी मित्र श्याम कहता है, एक युवक उठकर वह बसों, ट्रेनों के लिये दौड़ने लगा और अब यह दौड़ खत्म होने का नाम नहीं लेती। विश्वास की इमारत ढह रही है और रमेश नौटियाल सोचता है, दुनिया को कौन बदल सकता है।[2] विचारों की लहरियाँ चेतना में हिलोरें लेती रहती हैं और वह इन लहरियों के थपेड़े फेलता रहता है। बोरियत उसकी ज़िंदगी को सोख रही है। चैम्पियन का दारू पीना उसकी अपनी मजबूरी है, न पीये तो यह महानगरीय अकेलापन उसे निगल जाये। लेखक पात्रों की बोरियत, खीझ, अकेलेपन और अजनबीपन को उसकी संपूर्णता में अभिव्यक्त करने के लिए भाषा को झटके पर झटके देता रहता है।

किटी के सान्निध्य से नौटियाल के तमाम बदन में झरने फूट पड़ते हैं। फिर वही आँधी-तूफान और उसमें उखड़ता एक पेड़- जिसमें आग लग गई है, वह आग पूरी दुनिया जलाकर खाक कर देगी। नौटियाल डर रहा है, उसके सारे कैरियर का सवाल है, एक "स्ट्रोक" में वह सड़क पर फेंक दिया जायेगा।[3] किटी उसकी पोजीशन नहीं समझ रही है। वह सोचता है कि हम लोग इसलिए ज़िन्दा हैं कि हमें जीने की आदत पड़ गई है। मरते इसलिए हैं कि ज़िन्दा रहने के बाद हमारी मरने की आदत है। यहीं लेखक कुशलता से आधुनिक मनुष्य की धुरीहीनता के संदर्भ को उठाता है।[4] उसे पहले का जोश, खुशियाँ, इच्छाएँ, अरमान- सब बदले लगते हैं। "पहले वाले हम मर चुके हैं और हममें कोई और पैदा हो गया है - यह अहसास अजनबीपन के बोध का संकेत देने लगता है। लेखक अस्तित्ववादी शैली में अजनबीपन को गहराता है :

" यह देश हमारा नहीं है। क्योंकि हम भी तो अपने कहाँ हैं। घुटन का सफ़र कहाँ खत्म होगा ? नीटाक पद या व्हिस्की के पेग

१- 'कटा हुआ आसमान', पृ० १०० ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ८५ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ९० ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ९७ ।

एक दिन मार डालेगा । इस विवशता में वह अपने को एक ऐसे सूने लंबे रास्ते पर पाता है जिस पर से हर आदमी गुज़र चुका है । उसके जीवन में कभी सवेरा हुआ था, उसे इसकी याद नहीं है ।[१]

सैकड़ों कारों के कारवाँ, बसों के जुलूस, लोकल गाड़ियों की कतार, भागते हुए शहर, धुरीहीन घूमते हुए पहिये और टावर-घड़ी के बीच अपने को वह जारज संतान की तरह, कचरे के ढेर पर बीलता पड़ा पाता है । दिमाग की अँधेरी दुनिया में तम्बाकू के कड़वे धुएँ के साथ आस्थाओं, आकांक्षाओं और वासनाओं का दर्द चक्कर काट रहा है । अकेलेपन और अजनबीपन की भयावहता को लेकर पुरानी कब्र के पीपल के पेड़ और चमगादड़ के प्रतीकों में गहराता है । उसने जिस सूरज को सुबह का समझा था - वह शाम का निकला ।[२] वस्तुत: उसकी ज़िंदगी एक ग़लत ज़िंदगी रही है और उसका रास्ता गलत रास्ता रहा है । पुरानी आकांक्षाओं के कचरे का ढेर दिमाग़ में सड़ रहा है और सारे आदमी उससे लिपटकर रो रहे हैं ।[३] किटी के बिना वह अपने को " एक बहुत बड़े शहर की आवाज़ों के बीच ---- हज़ारों लाखों अजनबियों के साथ --- एक खाली अँधेरे कमरे में "[४] पाता है । महानगरीय जीवन का अजनबीपन उसकी चेतना में पसरा है और वह अपने को नितान्त अजनबी अनुभव करता है । किटी का रोमानी सपना (छोटा-सा नौकर रहित घर का) उसके पिता के हल्के दबाव से टूट जाता है । संभोग के दौरान जो लड़की सारे " प्रीकाशन्स " ले चुकी है, वह अपने भोलेपन में सारा राज़ खोल देती है और नौटियाल का " आसमान " कटकर उसके ऊपर गिर पड़ता है । यहाँ उपन्यास की रचनात्मक अन्विति टूटती है और अंत यथार्थ के नज़दीक लगते हुए भी आरोपित लगता है ।

नौटियाल अपनी ज़िंदगी की किताब को पढ़ रहा है जिसका हर सफ़ा बोरिंग है, इस उम्मीद पर कि कभी कोई दिलचस्प सफ़ा ज़रूर आयेगा ।[५] और नौटियाल की ज़िंदगी का एक बहुत लंबा सफ़र ख़त्म हो जाता है । अजनबी

१- 'कटा हुआ आसमान', पृ० १३८ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० १६७ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १७२ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १७६ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० २०७ ।

आदमियों के जुलूस और टूटे सितारों की रोशनी के बीच अपने को वह उजड़े घोंसले के परिंदों भाँति खड़ा पाता है । शवयात्रा की भीड़ में हर आदमी अपनी लाश को कंधे पर उठाये घिसटता जा रहा है । मिट्टी गुम हो गई है, कोलतार फैला हुआ है और आसमान धुआँ से पटा है । कुचले हुए पौधों, बदबू उगलते फूलों, गंदी बाल्कनियों पर बिकते सड़े गोश्तों की काली जिंदगी के गुबार के बीच सारा शहर भाग रहा है और इस जुलूस के बीच खून के निशानों पर एक कुचला आदमी रेंग रहा है ।[1] यहाँ अजनबीपन का बोध प्रतीकों के बीच तेजी से गहराने लगता है और नॉटियाल महानगरीय जीवन की विविधता के बीच विभिन्न स्तरों पर अपने को अजनबी पाता है । लेखक इस अजनबीपन के संकेत को शिल्पगत तराश व निखार में प्रस्तुत करता है :

'रिक्वेस्ट । --- जाई बैग --- । सन्नाटा --- एक पल का । ------ मियाऊँ ऽऽ ---- । हा हा हा हा । --- टूट गया सन्नाटा । काँप गई ---- रीढ़ की सारी हड्डी । घूम रहा है पंखा तेजी से । --- क्या हो गया अचानक ? ---- कर्व ऑव डिमाण्ड । -- मियाऊँ ऽऽ ---- । एक सितारा टूट कर गिर पड़ा धरती पर । --- नो । --- यह नहीं -- । इतनी जल्दी --- । एक शर्म ---- अपमान --- । डिमांड और सप्लाई । एक बेची हुई कमाडिटी । --- मियाऊँ ऽऽ--- । और एक कर्व --- और एक मकान --- एक कमरा --- एक समंदर । कई हजार अंगुलियां --- कई हजार आवाजें । --- हा हा हा हा ! बदचलन - गिरा हुआ । ---- नोबल प्रोफेसन। --- इक्वीलिब्रियम---- मर गया कोई । डाक्टर शर्मा । पूर्व दिशा का सितारा ---- । मियाऊँ ऽऽ --- । एक चश्मा --- और दूसरा चश्मा --- और हजारों चश्में । ------ और हंसते हुए आदमी ---- नो --- नो ---- हम सब मर जाएंगे । ------ बिल्ली --- कुत्ते ---- डेस्के---- पीछे----- भीड़'[2]

१-'कटा हुआ आसमान', पृ० २३२ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० २१० ।

२७ - " मरीचिका "

नई पीढ़ी के चर्चित कथाकार और आलोचक डॉ० गंगा प्रसाद विमल का उपन्यास " मरीचिका " (१९७३) आधुनिक जीवन की संवेदना से गहरे स्तर पर जुड़कर जीवन की प्रमवालिक भंगिमाओं को उघाड़ते हुए शिल्प के नये आयाम खोलता है । डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार इस उपन्यास में लेखक ने " संकेत शैली और अस्तित्ववादी दृष्टि को अपनाया है जिनमें आधुनिकता का बोध उजागर होता है । "[1] सार्त्र ने कहा है कि मानव संसार की अपेक्षा दूसरा कोई संसार नहीं है । सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववाद यह घोषणा करता है कि परमात्मा का अस्तित्व नहीं है । और यदि परमात्मा का जीवन हो भी तो वह मानव जीवन में कोई परिवर्तन नहीं करेगा ।[2] संत भजनसिंह के प्रतीक के माध्यम से डॉ० गंगा प्रसाद विमल ने मनुष्य के झूठे अंधविश्वासों और ज्ञान की निर्ममता से पोल खोली है जिसे मनुष्य ने परम्परित रूप से सच के रूप में संजोकर झूठ को पाला-पोसा है और उसके नाम पर खून की नदियां बहाते हुए अनगिनत लड़ाइयां लड़ी हैं । सच को भेलने का साहस किसी में नहीं है तथा निहित स्वार्थों को बनाये रखने के लिए झूठ का जारी रहना अत्यावश्यक है । लेखक ने उपर्युक्त अस्तित्ववादी मतव्य को मार्क्सवादी शैली में सृजनात्मक स्तर पर उठाते हुए उपन्यास को रचा है ।

" मैं " अपने अतीत को कुरेद रहा है । वह इस उलझाव में कभी न फंसता यदि अचानक उसके पुराने दोस्त हरि प्रकाश से भेंट न होती । " मैं " कम्युनिस्ट विचारधारा का है । हरिप्रकाश अपनी सम्पन्नता का राज़ बताते हुए कहता है कि गुरुदेव संत भजनसिंह की कृपा से जो उसने चाहा उसे प्राप्त किया । जिन पर उनकी कृपा हो जाती है वह मालामाल हो जाता है । " मैं " पिछले सत्रह सालों से देहरादून से कट गया है । अतीत के अंधेरे में सरकते हुए " मैं " अस्तित्ववादी शैली में कहता है :

१- " हिन्दी -उपन्यास : एक नई दृष्टि "- डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० १२३ ।

२- " एक्जिस्टैंशियलिज़्म एण्ड ह्यूमन इमोशंस "- सार्त्र द विज़डम लाइब्रेरी , न्यूयार्क, पृ०५५ ।

" जिस कहानी की बात मैं आपसे कह रहा हूं, बहुत मुमकिन है वह कोई कहानी ही न हो। सिर्फ मेरा वहम हो। ठीक वैसा ही वहम जैसा हम खुद के होने का पाले हुए हैं। वह एक ऐसी चीज़ है जिसे हममें से किसी ने भी नहीं देखा है, लेकिन हम उसे मानते हैं - वह है। --- कैसी अजीब बात है, जो चीज़ है ही नहीं - हो ही नहीं सकती - वह एक परिपक्व विश्वास की शक्ल लिए हमारे बीच घूमती है। --- उसे तोड़ने का मतलब है शताब्दियों से चले आ रहे जनसमूह का विश्वास तोड़ना।[१]

" मैं " इस जाल में फंसा दिमाग पर ज़ोर देते हुए पुराने शहर की स्मृतियों को याद कर रहा है कि कहां उसने संत भजनसिंह का नाम सुना है। अतीत के खंडहरों में भटकते समय उसके मानस में कफ़ फू पागल का नाम कौंधता है। लोग उसे पागल कहते थे किन्तु अपनी शक्ल-सूरत या अपनी हरकतों से वह बिलकुल पागल नहीं लगता था।[२] कफ़्फू की दौड़-भाग, गालियां-किस्से शहर की खुराक थी। शायद ही कोई जगह ऐसी हो जहां दो आदमियों के बीच कफ़्फू का ज़िक्र न होता हो। एक मौके पर वह " मैं " से कहता है, " तुम चौबू पंडत के लड़के हो। तुम्हारा बाप साला पुराजियों के खिलाफ़ है।[३] कफ़्फू में कॉलिन विल्सन के आउट साइडर की बहुत सी स्थितियां मिल जाती हैं। वह अत्यन्त संवेदनशील और बौद्धिकता से ग्रस्त है, फर्राटे से अंग्रेज़ी बोलता है तथा सत्य का दृढ़ उपासक है। अपने अचरज भरे कार्यों से कफ़्फू जीते जी लोकगीतों का नायक बन गया। बकरों की बलि चढ़ाने की तैयारी कर रहे पुजारियों के बीच कफ़्फू पहुंचकर कहता है, " पुजारी अत्याचारी, ले पहले मुझे पूज। लो गैंडे के बच्चों, पहले मुझे कुंजापुरी की भेंट चढ़ाओ। लो काटो मुझे। ------ काटो। डोम की औलादों, लो मेरा खून पियो।[४] कटते हुए पेड़ों को देखकर कहता है, " साले को मालूम नहीं पेड़ आदमी की मां है। " उत्तरकाशी से लेकर घंडियाल की पर्वत -

---

१- " मरीचिका " - डॉ० गंगाप्रसाद विमल, राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, १९७३, पृ० ११-१२।
२- पूर्वोक्त, पृ० २७।
३- पूर्वोक्त, पृ० ३०।
४- पूर्वोक्त, पृ० ३४।

इलाकों तक कफ़्फू के बारे में एक लंबा, लोकगीत प्रचलित था । इस लंबे लोकगीत में कफ़्फू से जुड़े हुए कई किस्से बयान किये गये हैं । कफ़्फू नंग-धड़ंग गंगोत्री यात्रा पर यह देखने के लिए चला जाता है कि उस बर्फानी इलाके में अकेले मंदिर में भगवान क्या करते हैं ।[१] एक बार कानून की गिरफ़्त में आने पर जब जज यह कहता है कि यदि तुमने बड़ा कसूर किया तो बड़ी सज़ा मिलेगी , कफ़्फू सरकार ,क़ानून और व्यवस्था को धाराप्रवाह गालियाँ देते हुए चिल्लाता है :" तोते के बच्चे, तू जज है या कुछ और । तू मुझे बड़ा कसूर करने के लिए उकसाता है । जो पाप के लिए उकसाता है वह भी बराबर सज़ा का भागीदार है । मैंने अभी वह पाप किया नहीं है लेकिन तुम मुझे उकसा रहे हो । फिलहाल अपराधी तुम हो ।[२]

अदालत का अपमान करने के जुर्म में कफ़्फू की सज़ा बढ़ जाती है। कफ़्फू का सनकीपन जेल में और बढ़ता जाता है, कभी वह पूजा-पाठ करने लगता, कभी रात-रात हंसता, तो कभी कई दिनों चुप रहता । एक दिन अचानक वह ज़ोर-ज़ोर से रोते हुए, बीच में तरह-तरह के जानवरों की आवाज़े निकालने लगा । जब ड्यूटी वाले सिपाहियों ने उसे चुप कराने की भरसक कोशिश की तो वह बोला " शोर करने की मनाही तो नहीं है । दिखाओ मुझे कानून की किताब -- ।[३] सत्य के प्रति उसकी यह दृढ़ आसक्ति उसे जूतों की मार खिलाती है, जब वह अति इन्द्रिय शक्तियों के आधार पर सरकारी अफ़सरों के पारिवारिक जीवन की निर्ममता से चीर-फाड़ करता है :" सुनो सुनो । तुममें में से दस लोगों की बीबियां वेश्याएं हैं, तुम यहां सरकारी हुक्म बजा रहे हो और वहां तुम्हारी बीबियां अपने यारों के साथ खुले आम नंगी सोई हुई है । तीसरे क़िस्से में कफ़्फू कहता है," आओ मेरी शरण में आओ । दूसरों की शरण तुम्हें सुरक्षित नहीं रखेगी, वे तुम्हें खा जाएंगे । आओ ----- ।[४] कफ़्फू सड़ी-गली व्यवस्था के ख़िलाफ़ तुर्शी के साथ

१-" मरीचिका", पृ० ४६-४७ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ४८ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ४६ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ५० ।

खड़ा है। व्यवस्था से टकराकर और जूझकर जब वह हताश हो जाता है तो सलाह देता है : "आओ, मेरी शरण में आओ"। वानप्रस्थ और संन्यास से पहले पागल हो जाओ। आओ पागल हो जाओ - दुनिया से अलग हो जाओ।[1] यहां कफ्फू अजनबी है क्योंकि संसार के विभ्रमों और संताप से वह समझौता नहीं कर पाता या उससे टकराकर उसमें वह अपेक्षित परिवर्तन नहीं ला पाता। फिर भी सत्य को हर कीमत पर कहने के लिए वह कटिबद्ध है। तंबुओं में रंगों के खेल के बीच नाचती नंगी वेश्याओं को औंधाधुंधी की पगडंडियों पर दौड़ाकर वह राजा के "रंगीन मुंह" को दिखाता है। बदले में कफ्फू गिरफ्तार होता है और उसके पागलपन की घोषणा होती है। लेकिन कफ्फू हार नहीं मानता, वह लोगों से कहता है, "आओ, मेरी शरण में आओ - पर मैं खुदा नहीं हूं। उसके इस कथन में विवशता का तीखा अहसास है। कफ्फू सामाजिक-सांसारिक बंधनों, नियमों, उपनियमों, आदर्शों-मूल्यों - सभी से अजनबी हो जाता है और सोचता है, पागलपन इस दुनिया के तमाम कष्टों की दवा है : पागल होने के बाद किसी किस्म की बनावटी जिम्मेदारियां आदमी को बांधती नहीं हैं। दौड़ो या रोओ लोगों को गालियां दो या पत्थर मारो - इस मूर्ख किन्तु मतलबी दुनिया को ठगने के लिए लोग तरह-तरह के पागलपन के शिकार हैं।[2]

संत भजनसिंह की वास्तविकता की तलाश में "मैं" शशा सेठ के पास जाता है और वहां से सहसा अपने अतीत में छलांग लगा जाता है। उस गुजरे समय में समाज में मिलनेवाली भयंकर यातना ने कैसे उसे अजनबी बना दिया था, इसका मार्मिक अंकन लेखक करता है। सामाजिक व्यवस्था का दबाव कैसे व्यक्ति की अस्मिता को रौंद डालता है और उसके आगे व्यक्ति कितना निरुपाय है -- "मैं" ने इसे अपने उस "निर्वासन" के दौरान समझा और भोगा है शिक्षा पूरी करने के बाद उसके सारे दोस्त नौकरियों से चिपक जाते हैं और वह फर्स्ट क्लास

१- "मरीचिका" पृ० ५३।

२- पूर्वोक्त, पृ० ५४।

की डिग्री लिए उजबक की भांति खड़ा रह जाता है :" वे इस बियाबान में मुझे अकेला रहने के लिए छोड़ गये थे ? यह शहर था - एक जंगल था - जहां घासीले मैदानों की जगह आदमी के काले सख्त, अनगिनत बाल उग आये थे, न उन्हें सहलाया जा सकता था - न, उन्हें खाया जा सकता था ।"[1]

बेरोजगारी के चलते आर्थिक दबाव से " मैं " में एक किस्म की बेशर्मी पनपती है और वह तरह-तरह के बहाने बनाकर कभी मां के मरने की, कभी कमरे में आग लगने की बात बनाकर लोगों की सहानुभूति बटोरता और अपना काम चलाता । बाद में लोगों ने उसकी चालाकी समझ ली और उससे पीछा छुड़ाने के लिए उसे नंगा करके लोगों के बीच बैठाये रहते और अपना मनोरंजन करते, पागल करार देते तथा लात-मारते और उस पर थूकते ।[2] इन भयावह अमानवीय यातनाओं से गुजरकर " मैं " को अपना आत्मबल अपना आत्म सम्मान और अपना " होना " एक ऐसी चीज लगती जो कहीं हो ही नहीं ।[3] उसकी स्थिति एक गुलाम से भी बदतर थी । उसमें अपने वर्तमान का सामना करने की, लड़ने-झगड़ने की ताकत नहीं थी । इस विवशता और आत्महीनता की स्थिति में वह रोशनी में कमरे से बाहर निकलना छोड़ देता है और रात में छिपकर बाहर निकलता । एक दिन भूख से परेशान होकर वह दिन में बाहर निकलता है । प्रधानमंत्री की मौत के अफसोस में बंद दुकानों को देखकर, सुनकर उस पर कोई असर नहीं होता है क्योंकि उसकी संवेदनाएं पथरा गई है । खाना खाने के बाद पैसा न देने पर मार का उस पर कोई असर नहीं पड़ता । उसके लिए खाना मार के मुकाबले बड़ी चीज थी । उसका कोई आत्म सम्मान नहीं था, " क्या वह कोई चीज होती भी है ?[4] पार्कों या दूसरी सार्वजनिक जगहों के कूड़ा घरों में खाने की चीजें वह खोजता हुआ अपने को समाज से अजनबी, अकेला और कटा हुआ पाता है । उसके पास छिपाने

१- " मरीचिका ", पृ० ६४ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ६६ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ६६-६७ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ६६ ।

के लिए कुछ नहीं था - न बेकारी - न भूख - न अनिश्चितता और न ही बदसूरती। यहीं उसकी भेंट एक भिखारिन से होती है जो चिथड़े लपेटे हुई थी और उसे अपने आलीशान मकान में ले जाती है। सामाजिक दुर्व्यवहारों और स्वार्थी प्रवृत्तियों से त्रस्त यह स्त्री पास में सब कुछ होते हुए भी संसार से अजनबी है। "मैं" अभावों के बीच अजनबी बनता है जबकि यह विधवा स्त्री अपने वैभव के बीच अजनबीपन झेलने के लिए बाध्य है। उसे यह डर है कि कहीं पैसों की लालच में कोई उसका गला न दबा दे। उसके बदबख्त नजदीकी रिश्तेदारों ने ऐसा किया भी था। इसी से वह लोगों से डरती थी। घर के अंदर महीनों, सालों बंद रहने के बाद बाहर की दुनिया देखने के लिए वह रात में बूढ़ी भिखारिन के वेश में बाहर निकलती थी क्योंकि शहर की रोशनी से उसे डर लगता था।[1]

मशीन की तरह काम करनेवाला सुरेन्द्र भाटिया भी संत भजन सिंह का गुणगान करता है और स्वीकार करता है कि उसका सब कुछ गुरुदेव की मेहरबानी है।[2] "मैं" यह सब सुनकर पुलकित होता हुआ सोचता है, "कितना अच्छा हो, शहर के सभी सताये हुए लोगों को संत का आशीष मिले। कितना अच्छा हो, उन लोगों को भी जीवन की यह संपन्नता मिले जो मजदूरी करते हैं, गरीबी में पिस रहे हैं।[3] और वह निर्णय कर लेता है कि वह शहर जाकर उस संत से मिलेगा। और अपने को भी गरीबी और हताशा के नायकत्व से छुटकारा दिलायेगा। मि० दास[4] या सैतरीलाल[5] द्वारा संत भजन सिंह की जय-जयकार से उसकी आस्था संत भजनसिंह में दृढ़ हो जाती है और पुराने शहर के प्रति उसमें आसक्ति उमड़ने लगती है। पैसे दो पैसे की कंजूसी करनेवाला 'मैं' चाहता है कि संत के आशीर्वाद से उसके आगे भी संपन्नता का दरवाजा खुले। हरि प्रकाश यहाँ उसे निरुत्साहित करने का प्रयास करता है लेकिन 'मैं' निश्चय कर चुका था। वह समग्र मजदूर जाति के उत्थान

१- 'मरीचिका', पृ० ७८।
२- पूर्वोक्त, पृ० ८६।
३- पूर्वोक्त, पृ० ८८।
४- पूर्वोक्त, पृ० ९७।
५- पूर्वोक्त, पृ० १०८।

के लिए प्रयत्न करना चाहता है, वह लोगों को यह बताना चाहता है कि उन्हें संत जी के पास जाना चाहिए।[१] वह लाल झण्डे के नीचे खड़े उन लोगों के पास मुक्ति संदेश भेजना चाहता है जो ज़िंदगी भर झण्डा उठाये नारे लगाते हुए मार्क्स लेनिन या माओ का नाम चिल्लाते रहे हैं। वह उनसे बतायेगा कि कैसे उसके शहर के संत ने लोगों को संपन्न बनाया। वह जीवन भर नारे लगाने और जुलूसों में चलने के लिए विवश कर दिये गये लोगों के लिए कुछ करना चाहता है।[२] उसे अहसास होता है कि गांधी, मार्क्स और माओ के वायदों ने उसे लोगों से दूर पटक दिया है और उसके पास कोई चीज़ बिकाऊ नहीं है। वह उन भटके हुए लोगों में से है जो नितान्त अकेले हैं और जूझ रहे हैं। इस प्रकार वह देहरादून पहुंच जाता है।

उसके मन में थोड़ी देर के लिए यह प्रश्न कौंधता है कि किसी के दे देने से क्या आदमी कभी भिखारी व्यक्तित्व से उबर पायेगा। अगर सचमुच कुछ हो सकता है तो वह कुछ करने से हो सकता है।[३] लेकिन संत भजनसिंह के जय-जय कारों के शोर में उसका तर्क गल जाता है और वह संत जी की खोज में निकल पड़ता है। लेखक ने यहां फंतासीनुमा घटाटोप के बीच प्रतीकात्मक रूप से अस्तित्ववादी मंतव्यों को, मानव नियति का प्रश्न उठाते हुए शुक्लता से गहराया है। वह पाता है कि वहाँ एक नहीं अनेकों संत हैं: "मैं अजीब पेशोपेश में पड़ गया - क्या होगा मेरा ---- कहीं इतने ज्यादा संतों की मेहरबानी मुझ पर हुई तो मेरा क्या होगा।[४] लेकिन फिर भी उसे संत के आशीष की प्रतीक्षा है ताकि वह उन लोगों में शामिल हो सके जिनके पास दुनियावी तकलीफ़ें नहीं हैं।

होटल लौटने पर उसे हरिप्रकाश की फ्रांस से लिखी लंबी चिट्ठी मिलती है जिसमें उसने स्वीकार किया है कि संत भजनसिंह नाम का कोई आदमी नहीं है।[५] "मैं" को उस "मरीचिका" का आभास होता है जिसमें फंसकर

१- 'मरीचिका', पृ० १११।
२- पूर्वोक्त, पृ० ११३।
३- पूर्वोक्त, पृ० ११८।
४- पूर्वोक्त, पृ० १३२।
५- पूर्वोक्त, पृ० १४४।

वह तथा अन्य लोग भटक रहे हैं। लेकिन यह मरीचिका केवल संत भजनसिंह वाली ही नहीं है - ऐसी अनेकों मरीचिकाओं से आज का मनुष्य घिरा हुआ है, भटक रहा है और सत्य को चीरकर देखने का साहस उसमें नहीं है। इस प्रकार लेखक बड़े कलात्मक कौशल के साथ 'मैं' के इस भटकाव को सारी मनुष्य जाति के पूजजातिक भटकाव से जोड़ देता है। सृजनात्मक तनाव के इस बिन्दु पर उपन्यास के रचाव से कई अर्थ फूटते हैं जो प्रकारान्तर से मानव नियति की विवशता और अनिश्चतता का आख्यान करते हैं। उपन्यास के रचनातंत्र से अस्तित्ववादी विचार धारा कि 'मनुष्य मूल्यों व नियति के स्तर पर अंतत: अकेला है' संवेदनशील रूप में उभरती है। हरिप्रकाश अपने पत्र में उन आदिम धार्मिक अंधविश्वासों की तरफ इशारा करता है जो मनुष्य की चेतना को जकड़े हुए हैं और मनुष्य अब ऐसी स्थिति में है कि उनसे लड़ नहीं सकता।[१] वह इस घिनौने गंदे झूठ का पर्दाफाश करते हुए 'मैं' को सक्रिय रूप से कुछ करने की सलाह देता है। जब नक्सलवादी आतंकवाद में सम्मिलित हो जाये या कुछ नहीं कर सकता तो कम से कम संत भजनसिंह के नाम की पोल खोल दे या माओ के झण्डे के नीचे लाल सलाम कह दे।[२] 'मैं' कुछ भी करेगा - उसका हरिप्रकाश इंतजार करेगा। समुद्र पार देश में बैठकर किया जा रहा यह निष्क्रिय और विवश इंतजार एक दूसरे स्तर पर 'मरीचिका' की मरीचिका उभारता है जो अजनबीपन के बोध से जुड़ा हुआ है।

२८ - 'बीमार शहर'

पाश्चात्य जीवन मूल्यों को केन्द्र में रखकर प्रेमचंद की घटनात्मक आदर्शवादी परम्परा का पुनरुत्थान राजेन्द्र अवस्थी के 'बीमार शहर' (१६७३) नामक उपन्यास में हुआ है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियों और विकृतियों से ऊबकर लेखक ने पाश्चात्य जीवन मूल्यों से अनुप्राणित 'बुवी टैरेस' का सुनहला स्वप्न देखा है। भारतीय सामाजिक जीवन की विकृतियाँ प्रेमचन्द से

१-'मरीचिका', पृ० १३७।

२- पूर्वोक्त, पृ० १४७।

' सेवासदन ' और ' प्रेमाश्रम ' का निर्माण करवाती रही हैं जिसका मूल ढांचा देशी रहता था । परन्तु यहां पर लेखक सामाजिक जीवन की रूढ़िवादिता और वैचारिक खोखलेपन को उजागर करते हुए नये समाज की अवतारणा की कल्पना करता है जिसकी आधार शिला पश्चिमी जीवन की उन्मुक्त भोगवादी विचारधारा है । इस उपन्यास में लेखक जीवन की गहराई में न उतरकर केवल स्थितियों को छूकर छोड़ देता है । ऐसा लगता है कि लेखक आधुनिक जीवन के भोगवाद से जुड़े ऊब, अर्थहीनता, निरर्थकता, खालीपन और अजनबीपन के बोध को जानबूझकर स्वर नहीं देना चाहता फिर भी महानगरीय जीवन के विस्तृत फैलाव में रूढ़िबद्धता और परंपरा ढोने की विवशता से उत्पन्न तनाव और खालीपन को सृजनात्मक स्तर पर व्यंजित किया गया है । इस उपन्यास में नारी के प्रति दृष्टि सामंती से पूंजीवादी होकर रह गई है । पूंजीवादी समाज की विकृतियों को छोड़कर केवल सुनहले पक्ष को लेखक ने अंकित किया है । इस प्रकार यहां आधुनिकता की गति अवरुद्ध होती है । इस उपन्यास में नारी अंततः समाज की भोग्या है और इसको सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार के छलावे भरे बौद्धिक तर्क दिये गये हैं । मनुष्य भीतर से बर्बर पशु है और उसकी पशुता अपने नग्न रूप को ढकने के लिए बौद्धिक व वैचारिक आवरण तैयार करती है । सामंती या पूंजीवादी समाज नारी को ' वस्तु ' के रूप में देखता है और इसीलिए कभी एक नारी से संतुष्ट नहीं होता । पूंजीवादी समाज की नारी के प्रति इसी भूख को, इस उपन्यास में मानवीय मूल्यों और सहज जीवन के नाम पर ' जस्टीफाइ ' करने की कोशिश की गई है ।

शिल्प और रूपबंध की दृष्टि से भी यह उपन्यास प्रेमचंद परंपरा का है । लेखक अंत को खुला छोड़ने के बजाय उपसंहार वाली शैली अपनाता है । फिर भी इस उपन्यास को आदर्शवादी शैली के नये पैटर्न के उपन्यास के रूप में चर्चित किया जा सकता है । पूरे उपन्यास में एक प्रवाह है, भाषा मंजी हुई है, कथा में हृदय को बांध लेने की अद्भुत क्षमता है । कथा अत्यंत सुगठित है - पर पूरे उपन्यास में कथा के अलावे और क्या है । उपन्यास की समाप्ति के बाद पाठक को कोई दृष्टि नहीं मिलती यद्यपि दृष्टि देने का प्रयास है, लेकिन यहां दृष्टि और

धुंधला जाती है । लेखक की स्थापनाओं से सहमति मुश्किल है ।

इस उपन्यास का कथानायक शेखर समीर आधुनिक विचारों का युवक है । आधुनिकता को उसने अपने आचरण में उतारा है । भारतीय सामाजिक जीवन की इस विडम्बना से वह परिचित है जो वर्तमान में जीना नहीं जानती और इसी से आज का आदमी सब कुछ होते हुए भी खोखला है ।[1] नवयुवती शोभना शेखर के आधुनिक विचारों से प्रभावित व अनुप्राणित है । उसने शेखर से जीवन जीना सीखा है वरना उसकी जिंदगी परंपरागत स्त्रियों की तरह रूढ़ियों में बंधी और बोरियत से भरी होती ।[2] वैसे महानगर बम्बई के जीवन की यह विशेषता है कि यहाँ आदमी सब के बीच रहकर भी सब से कटा होता है । यहाँ रहकर भी आदमी यहाँ का नहीं हो पाता और इतने आदमियों के बीच अकेलेपन का अनुभव करता है।[3]

शेखर समीर भीतर से यायावर, बेचैन और भटकता हुआ आदमी है । शहर में उसकी प्रतिष्ठा कवि और लेखक के रूप में है । वह 'बूची टैरेस' में रहता है पर टैरेस का कोई आदमी यह नहीं जानता कि वह इतना बड़ा आदमी है । बड़े-बड़े नेताओं से उसका संपर्क है, उसने घंटों नर-नारी संबंध पर भाषण दिया है और लोगों द्वारा सराहा गया है। पर परिचय और संपर्क से वह दूर भागता है। उसका विचार है' इस कोलाहल भरी दुनिया से जितना कम संपर्क रहे, उतना अच्छा है ।[4] वह काम को शरीर का सहज धर्म मानता है और सरल जीवन का पक्षपाती है । शोभना उसके इन विचारों का अनुसरण करती है तथा यौवन के प्रस्फुटन के लिए विपरीत सेक्स का सान्निध्य आवश्यक मानती है ।[5] 'बूची टैरेस' की अधेड़ गोवानी मालकिन मिस गौरावाला ने अनुभव की आग में तपकर जिंदगी का यह नया दर्शन खोज निकाला है तथा शेखर और शोभना को अपने उसूलों पर

१- 'बीमार शहर' - राजेन्द्र अवस्थी, राजपाल एण्ड संस,दिल्ली,१९७३,पृ० ६ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ८ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १६ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १० ।
५- पूर्वोक्त, पृ० १६ ।

चलती देखकर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता होती है ।[१] शेखर की मान्यता है कि जीने का संबंध" आयु से नहीं, भोगे हुए क्षणों से है ।"[२] और इन क्षणों को जीने के लिए हर आदमी को दुहरी ज़िंदगी जीना पड़ता है । इसके बिना वह नहीं जी सकता ।[३]

" बूची टैरेस " के एक कमरे में मंजरी नाम की युवती रहती है जो अपने जीवन के कसैले अनुभवों से गुज़रकर केवल अब नियति पर भरोसा रखती है पहले वह ईश्वर को मानती थी पर आस्था की वे कड़ियाँ" न जाने कब एकाएक टूट गईं ।"[४] और ईश्वर पर आंख मूंदकर आस्था रखना वह पाप समझती है । वह सामाजिक जीवन के भीतर की कीचड़ को देख रही है । उसकी व्यथा है कि " वह धर्म कैसा जो लिखा एक तरह से गया हो और माना दूसरी तरह से जाता हो धर्म के इस पाखंड के कारण उसके मन में न हिन्दू धर्म के प्रति आस्था है और न हिन्दू कहलाने में वह गौरव महसूस करती है । बौद्धिकता के संघात से ढहती परंपराओं और नये जीवन-मूल्यों में पनपते विश्वास को, लेखक मंजरी के माध्यम से सृजनात्मक रूप में उभारता है । वैसे इस उपन्यास के सारे पात्रों में बौद्धिकता का संस्पर्श विद्यमान है ।

शेखर अनुभव करता है कि व्यवस्था का डरा मनुष्य के संपूर्ण अस्तित्व को लील रहा है और वह घटकर अ-व्यक्ति हो रहा है ।[६] कोई " कसाला" हमारी ज़िंदगी के पीछे लगा हुआ है जो हमें जीने नहीं देता । ऐसी आतंकग्रस्त ज़िंदगी निरर्थक है और हम सब ऐसी निरर्थक ज़िंदगी जीने के लिए विवश हैं । ज़िंदगी की इस विवशता को झेलने के लिए इस उपन्यास के सारे पात्र अभिशप्त हैं । ठाकुर निरंजन सिंह बाहरी जीवन की रंगीनियों से अपने भीतर के खालीपन को भरकर ज़िंदगी की इस विवशता से मुक्त होने का निरर्थक प्रयास करता है । नये मूल्यों की टकराहट और वैचारिक घुटघुटाहट से परंपरित

१- " बीमार शहर " , पृ० १० ।
२- पूर्वोक्त, पृ० १५ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १४ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० २४ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ६३ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० ५२ ।

आस्थाओं के लड़खड़ाने का रूप निरंजनसिंह में मिलता है । किन्तु शेखर या शोभना की तरह वह नये मूल्यों के साथ मानसिक रूप से एकाकार नहीं हो पाता । फलत: वह दुहरी ज़िंदगी जीता है जो उसके जीवन में अजनबीपन की समस्या को उभारती है । सत्या के साथ भी इसी दुहरी ज़िंदगी की विवशता लिपटी हुई है । डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने भारतीय समाज-व्यवस्था में अजनबीपन के कई स्वरूपों की चर्चा करते हुए इस 'अस्तित्व की दोहरी प्रणाली' का उल्लेख किया है जिससे एक 'पाखण्डपूर्ण व्यक्तित्व' का आविर्भाव और व्यक्तित्व का विघटन होता है तथा व्यक्ति उन विचारों व व्यवहारों को अपनाता है जो उसके व्यक्तित्व के लिए अजनबी है ।[1]

मानवीय जीवन में आई मूल्यहीनता और गिरावट निरंजनसिंह और सत्या के माध्यम से सशक्त रूप में उद्घाटित हुई है । निरंजन कोरे आदर्शों से बंधकर चलनेवाला व्यक्ति नहीं है, वह बहाव के साथ बहने का आदी है । बौद्धिक चेतना उसमें है, वह जानता है कि धर्म उलझाव से भरा 'कुछ मठाधीशों का षड्यंत्र' है और जीने के लिए सांसों की ज़रूरत है, धर्म की नहीं ।[2] लेकिन उसकी बौद्धिकता और संवेदनशीलता अपनी पत्नी केतकी के आगे पहुंचकर कुंद हो जाती है और उसका अत्यंत रुग्ण सामंती रूप प्रकट होता है । डॉ० रमेश कुन्तल मेघ के उपर्युक्त द्विव्यापकता अजनबी व्यक्ति की भांति वह अपने सशक्त व्यक्तित्व का रौब गालिब करता है ।[3] उसे अपनी पत्नी के मातृत्व और उसके फलस्वरूप अपने बीच तीसरे के आने की शिकायत और झल्लाहट है । वह अपनी पत्नी में एक तरफ़ 'स्मार्टनेस' चाहता है तो दूसरी तरफ़ सती-साध्वीवाला परंपरित रूप भी देखना चाहता है । अपने पर किसी प्रकार का आदर्शों या परंपरा का बंधन उसे स्वीकार नहीं है लेकिन वह नहीं चाहता कि केतकी उसका अनुसरण करे ।[4] वैचारिक जीवन का यह दुहरापन दोनों के दाम्पत्य जीवन में तनावों की सृष्टि करता है जिससे दोनों धीरे-धीरे मानसिक स्तर पर एक दूसरे से दूर जाकर अजनबी होते जाते हैं । केतकी तीखी घुटन और विवशता का अनुभव करती है पर उसे इससे निस्तार नहीं है।

१- 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण' - डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, पृ० २०५ ।

२- 'बीमार शहर', पृ० ८१ ।

३- 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण', पृ० २०५ ।

४- 'बीमार शहर', पृ० ८८ ।

क्योंकि अग्नि के चारों ओर फेरे लगाकर, साक्षी बनाकर उसने प्रतिज्ञा की है और इस प्रतिज्ञा को तोड़नेवाले को वही आग जलाकर खाक कर देगी ।[१] वैवाहिक जीवन की विवशता और घुटन को लेखक निरंजन-केतकी और सत्या के दाम्पत्य जीवन के खोखलेपन के माध्यम से उजागर करता है । इस संदर्भ में मिस गौरावाला की मान्यताएं कि वैवाहिक संबंध 'मरे हुए आदमियों की कब्रगाह' या 'मरे हुए सम्प्रदाय के प्रतीक' है[२] - जीवन के नये क्षितिजों को तलाशने की तड़प की परिणाम है ।

ठाकुर रामसेवक सिंह के चरित्र में भी इस पाखण्डपूर्ण द्विधात्मक व्यक्तित्व को देखा जा सकता है जो उन्हें परंपरित आदर्शों और मूल्यों से अजनबी बनाकर दुहरा व्यक्तित्व जीने को मजबूर करता है । एक तरफ वे मंजरी को अपनी दूसरी बेटी मानते हैं और दूसरी तरफ वे निरंजन से लार टपकाते हुए कहते हैं कि आदमी की जिंदगी में ऐसी लड़की आ जाये तो वह उसी आयु में वापस ठहर जाता है । इस तरह 'उतरती उमर को चैन देने के लिए' और 'थोड़े मज़े के लिए' वह मंजरी को अपनी बखरी में रखना चाहते हैं ।[३] 'इन सब के बीच मंजरी 'आउटसाइडर' की तरह अनुभव करती है कि धर्म और जाति के बंधन सत्य से दूर है । वह वहां जाना चाहती है जहां कोई धर्म नहीं होता, जहां जाति-पाँति का भेद नहीं है, जहां सब एक जाति के हैं और सब मनुष्य हैं ।[४] शेखर, शोभना, मिस गौरावाला, मंजरी - इन सब में 'आउटसाइडर' की विभिन्न स्थितियां देखी जा सकती है जहां ये अत्यंत भावप्रवण व संवेदनशील व्यक्ति के रूप में उभरती है, परंपरित मूल्यों व आदर्शों में इनका विश्वास नहीं है, ईश्वर व धर्म में इनकी आस्था नहीं है तथा मनुष्य और मानवता के प्रति इनकी आस्था अटूट है । तथा परंपरित मूल्यों के ध्वंसावशेष पर वे नये वैयक्तिक मूल्यों के सृजन के लिए प्रयासशील है । शोभना कहती है कि पाप कहीं नहीं है, केवल हमारे मन का भ्रम है ।[५] शेखर चिरकुमार रहना चाहता है तथा भूलकर भी वह विवाह-संस्था का सदस्य नहीं बननेवाला है तथा उसकी

१- 'बीमार शहर', पृ० ९४ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ४३ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ११२ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १०६ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ११७ ।

मान्यता है कि " अच्छा क्या है, बुरा क्या है - किसी से मत पूछो ।[१]

वैवाहिक जीवन की विडम्बना की शिकार सत्या है । उसके पति मिस्टर चौहान केवल एक प्रतीक है जिनकी आड़ में सामाजिक सिद्धान्तों का निर्वाह हो जाता है । इसके बाद वह अपने जीवन के अकेलेपन और खालीपन को भरने के लिए उन्मुक्त रूप से विचरती है । किन्तु उसकी यह भटकन उसके अजनबीपन के बोध को और गहराती है । सत्या के लिए शादी-ब्याह केवल एक बहाना है जिसके माध्यम से भविष्य के सुख की गारंटी मिल जाती है ।[२] उसने अनुभव किया है कि शादी के बाद औरत " हर रात के लिए सजाई गई एक आलीशान केक " बन जाती है । और सत्या ऐसा नहीं बनना चाहती, इसीलिए वह मनपसंद पुरुष से विवाह करके भी सुखी नहीं है । अकेलापन उसकी चेतना को खाये जा रहा है ।[३] इन सब को देखकर आउटसाइडर की तरह शेखर सोचता है :" पुरुष और नारी का साथ नितान्त आवश्यक है । देह की आवश्यकताएं अधूरी छोड़ने पर मोम की तरह उसके गलने का भय बना रहता है, लेकिन इस आवश्यकता के लिए एक पूरे आडम्बर और सामाजिक स्वीकृति की क्या आवश्यकता है ?[४] " आखिर दो सन्नाटों का रिश्ता , एक पूरी भीड़भाड़ का मोहताज क्यों है ?" - यह प्रश्न उसको कचोटता और मथता रहता है । उसके इस प्रकार के चिन्तन में परंपरित मूल्यों व आदर्शों के प्रति अजनबीपन का भाव लक्षित किया जा सकता है । शेखर अनुभव करता है कि मनुष्य कमरे की दीवारों के बाहर आकर भी अपने को दीवारों से घिरा अनुभव करता है और भय उसे हवा की तरह घेरे रहता है । मनुष्य नर-नारी के स्वाभाविक आकर्षण से इतना भयभीत क्यों रहता है ? महानगरीय जीवन की यांत्रिकता, निर्वैयक्तिकता और अकेलेपन का इलाज क्या है ? शेखर कॉलिन

१- " बीमार शहर ", पृ० १२७ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १५१ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० १५४ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० १५२-५३ ।

विल्सन के 'आउटसाइडर '[1] की तरह सोचता है' मेमने की तरह चलते-फिरते लोग कभी कोई प्रतिमान नहीं स्थापित कर सके । ऐसा करना उनकी सामर्थ्य के बाहर है।[2]

निरंजन को विवाह बाली-मग खिलौना-मात्र लगता है । कैतकी उसे ठंडी और रेत की तरह सूखी लगने लगती है । वह महसूस करता है' सब कुछ कितना बेमानी और उलझा हुआ है । --- विवाह जैसे रूढ़िग्रस्त और पुरातन जर्जर बंधन में फंसा एक दयनीय जोड़ा सिसक रहा है । वह गीली लकड़ी की तरह न तो जल पाता है और न बुझ सकता है । उस लकड़ी से निकलते धुएं में घुटने भर का अधिकार उसके पास शेष है ।[3]

मंजरी अनुभव करती है कि आदमी का अकेलापन एक सत्य है । जब मनुष्य इस अकेलेपन को तोड़ने की कोशिश करता है तो इस क्रम में वह अपने को और विवश बना डालता है क्योंकि' उसकी नियति उसके एकाकी क्षण ही है ।[4] शेखर' बीमार शहर' के बीच अनुभव करता है कि उसकी ज़िंदगी एक लतीफा बनती जा रही है ।[5] जितना वह जानता है, दूसरा नहीं जान सकता' कहनेवाले अहंकारी प्रोफ़ेसर आचार्य की भी आकांक्षा' सफ़ेद कपड़ों' को उतार देने की होती है तथा अब उसका मन झूठी प्रतिष्ठा से विद्रोह करने लगा है ।[6] वह देख रहा है कि समाज का ढांचा निरंतर टूटता जा रहा है, लोग अधिकाधिक व्यक्तिवादी होते जा रहे हैं, अत: वह भी अपने को' बूढ़ी टैरेस' के अनेक साथियों की तरह जीवन के सहज प्रवाह से जोड़ लेना चाहता है । शेखर के विचार से आचार्य सहमत होता जा रहा है कि' प्रवृत्ति का नाश जीवन का नाश है ।'[7] आचार्य अनुभव करता है कि' यह वर्ग एक नया समाज बनायेगा ।' और इस वर्ग से अपने अलगाव से वह दु:खी

१-' द आउटसाइडर'- कॉलिन विल्सन, पृ० १६६ ।
२-' बीमार शहर ', पृ० १३२ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १३५-३६ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १५८ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० १७२ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० १८० ।
७- पूर्वोक्त, पृ० १८२ ।

होता है। उसे "बूनी टैरेस" की पारिवारिक आत्मीयता में नई संभावनाएं दिखलाई पड़ती हैं। शोमना नये समाज की प्रतीक्षा में है। आचार्य भीतर से अनुभव करता है कि शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता, उनका अर्थ बना लिया जाता है और संबंध भी शब्द की तरह अर्थहीन है। परंपरित संबंधों की अर्थहीनता के एहसास से प्रो० आचार्य को पहली बार कमजोरी का एहसास होता है और बाहर का राम का धुंआ उसके भीतर गहराने लगता है। इस तरह प्रो० आचार्य अपने को अजनबी अनुभव करता है।

२६ - "मुरदा घर"

जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का उपन्यास "मुरदा-घर" (१९७४) शहरी सभ्यता की पड़ाव में बजबजाती निम्नवर्गीय जिंदगी की कहानी है जो धूल और कीच में बरबस औंधी पड़ी रहने पर मजबूर है और उठकर खड़ी नहीं हो सकती। इस उपन्यास में "होटल के पीछे डब्बे के पास घूमती हुई बच्चों और किशोरों की नाबालिग जिंदगियां हैं - जहां जूठा खाना अभी तक फेंका नहीं गया है। कुत्तों को पत्थर मारती जिंदगियां - कुत्ते आ जाएंगे तो डब्बे को हाथ भी न लगाने देंगे। कौवे भी जो उड़-उड़कर फिर आसपास बैठ जाते हैं और मक्खियां जिन पर किसी का बस नहीं है।[1] इस कृति के बारे में कहा गया है कि "मुरदा-घर" एक अमानवीय व्यवस्था के दलदल में छटपटाते हुए उन असंख्य मनुष्यों का उपन्यास है जिनकी रोजाना जिंदगी में घटते हुए बेपनाह भयावह हादसों का कोई ब्यौरा पिछले पूरे हिन्दी उपन्यास के इतिहास क्रम में कहीं उपलब्ध नहीं होता, लेकिन जो स्वतंत्रता के सत्ताइस साल गुजर जाने के बाद भी भारतीय समाज के सभ्य और गर्वीले शहरी चेहरे पर फूटा हुआ कोढ़ बनकर कायम है।[2] महानगरी बम्बई में जहां एक तरफ चमचमाती हुई कारों और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में रहनेवाले सफेदपोशों की अभिजात्य दुनिया है वहीं दूसरी ओर सड़क के किनारे फुटपाथों पर पुल के नीचे गंदी खोहों में, गटरों के पास सीलन और सड़ांध भरे झोपड़ों में,

---

१-'मुरदा-घर'- जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९७४, फ्लैप पर।

२-"समीक्षा" नवम्बर-दिसम्बर, १९७५, अतुलवीर अरोड़ा, पृ०३६।

भयंकर रोगों से ग्रस्त तथा आर्थिक रूप से मजबूर रंडियों, कोढ़ियों, अपाहिजों, भिखारियों या कूड़ों पर फेंके गये जूठन पर जीनेवाले आवारा छोकरों, चोर उचक्कों, जुआरियों और गुंडों का बजबजाता हुआ अपना अलग संसार है, जो पूंजीवादी समाज व्यवस्था की विकृतियों, विसंगतियों और विषमताओं की उपज है । इस सामाजिक गंदगी के भयावह दबाव को जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने सृजनात्मक स्तर पर झेला और रचा है । एक समीक्षक ने तो यहां तक लिख दिया है कि कोढ़, घिनौनी यौन बीमारियां, विकृतियां, गंदगी, सड़न, बदबू, भुखमरी, गालियां और पुलिस की लाठियों, इन सब से लबालब भरा हुआ यह उपन्यास वीभत्सता का एक स्तूप है ।[१]

लेखक ने व्यवस्था की क्रूरता और उसके निर्मम आतंक का भयावह चित्रण किया है । गजानन माधव मुक्तिबोध की काव्यभाषा को उपन्यास के क्षेत्र में रचनात्मक स्तर पर प्रयुक्त कर हिन्दी उपन्यास को नया मोड़ लेखक ने प्रदान किया है । जेम्स ज्वायस के "यूलीसिस" के गतिशील बिम्बों, धाराप्रवाह चित्रों और मन:स्थितियों के यथावत् अंकन के शिल्प को कलात्मकता के साथ अपनाकर लेखक यथार्थ को उसकी समग्रता में उकेरने का सार्थक प्रयास करता है । नरेन्द्र मोहन के शब्दों में "दीक्षित की औपन्यासिक भाषा की विशेषता यह है कि इसकी संरचना और वाक्य विन्यास में कविता की लय का प्रयोग हुआ है, अलग से कवित्व की चमक कहीं नहीं है । भाषा के संरचनात्मक विधान में कविता की शक्ति को गूंथ देने के कारण यहां भाषा उत्तेजना या आवेग में बंधी हुई है, बिफरी नहीं है । इस भाषा से स्थितियों को सीधे और ठेठ रूप में प्रस्तुत करने और उत्कट संवेदनात्मक बोध जगाने की क्षमता अर्जित की गई है ।[२]

लेखक की सहानुभूति समाज के निम्नतर वर्ग के साथ है । वह उनकी समस्याओं तथा उनके प्रति उच्चवर्ग के घृणास्पद रुख और व्यवस्था के पाशविक दबाव को उसी भयावहता के साथ चित्रित करता है जो वह वर्ग यथार्थ में

१-"आलोचना", जुलाई-सितम्बर, १९७४, विजय मोहन सिंह, पृ० ६१।

२-"आधुनिक हिन्दी उपन्यास", नरेन्द्र मोहन, पृ० ११।

की तेज आवाजों के बीच व्यवस्था का क्रूर अमानवीय आतंक अपनी भयावहता के साथ गहराने लगता है जो न जीने देता है और न मरने की इजाजत देता है । बदबू और पसीने से घिरी रंडियाँ अपनी काली चमड़ी पर ढेर सा पाउडर पोतकर ओठों को लाल कर गजरा बांधकर इंतजार करते करते थक जाती हैं । अट्टालिकाओं की टिमटिमाती रोशनियों का उजाला उनकी पहुँच से बहुत दूर है जो उनकी भटकन को और बढ़ाता है । हताश और निराश रंडियाँ एक दूसरे को गाली देते हुए लड़-झगड़ रही हैं और एक दूसरे पर धंधे को चौपट करने की तोहमत थोप रही है । मैना बाई की सूखी रगों में बूंद-बूंद एक जहर जमा होता जा रहा है जो भीतर-भीतर घुमड़कर रास्ता खोज रहा है । नौटाक पाते ही जब गर्म लोहे की चिनगारियाँ भीतर गुजरती हैं तो रास्ता अचानक खुल जाता है और जिंदगी का जहर पिघलकर बहने लगता है तथा जो रास्ते के पत्थरों, घर की दीवारों, सड़क के आदमियों, दौड़ती मोटरों, उमसते आसमान, अपने बच्चे, अपने आदमी -- सब कुछ को जलाकर खत्म कर देना चाहता है । मैनाबाई पहले बरीरन से उलझती है फिर थककर अपने मरद पोपट को कोसती और कलपती है :" --- मादरचोद ! --- मैनचोद ! --- तेरी माँ की------ । तेरा कभी भला नहीं होगा । --- साला --- हरामी--- तेरा मुरदा निकलेगा --- ।[१] वह कहती है," ऐसा मरद से बेमरद ठीक --- । रोजी मरद की तलाश करते-करते कोढ़ग्रस्त हो गई पर मरद नहीं मिला । मरद की तलाश में हर हफ्ते बाद, हर रात बाद वह नया मरद करती रही और धीरे-धीरे उसका सब कुछ छिन गया । झोंपड़ा चला गया सारे मरद चले गये पर एक उम्मीद रह गई जो अब तक नहीं गई । फुटपाथ के अंधेरे कोने में मैले गुदड़ों के बीच उसने घर बसाने की ललक से बड़ा सहेजकर एक मैले डिब्बे में एक मरद की तस्वीर रख छोड़ी है । प्रतिदिन अपनी गली सिकुड़ी उंगलियों से उसकी खोज में वह दूर का चक्कर काट आती है । वह हार नहीं मानती और उसका इंतजार जारी है । यहाँ विसंगति-बोध की तिक्तता में व्यंग्य के साथ अजनबीपन का मिला-जुला स्वर उठता है । इस अंतहीन प्रतीक्षा के शिकार सारे पात्र हैं जिसका संदर्भ संबंधों और मूल्यों के अजनबीपन से जुड़ा हुआ है ।

मैनाबाई पोपट से झींककर कहती है :" क्या बोला था तू -- धंधा करेगा और पेट भरेगा मेरा । अब धंधा करती मैं और पेट भरती तेरा--।"

१-" मुरदा-घर", पृ० १४ ।

पोपट उसे मनाने के अंदाज़ में लंबी उबासियों के बीच कहता है कि वह " एकाध धंदा करेगा और सब घाटा पूरा करेगा ।" और मैनाबाई बिफर पड़ती हैं : " कब होगा तेरा वो एकच धंदा ? मेरी मैयत का पीछू ? सुबू से चूल्हा नई जला । शाम से कुतिया का माफ़क रोंड मारती । एक घराक नई मिलता। मर गये सब के सब । रोज रैसाइच । मैं क्या जिनावर हूँ बोल ना । क्या बोला था तू --- खाली में खोली ले के देऊँगा --- दो बखत का रोटी --- लुगड़ा -- बिलाउज-- सनीमा ले के जाऊँगा --- ये करेंगा--- वो करेंगा । किधर गया वो सब ? गधी को गांड में घुसगया । साला झूटा । क्या हाल कर दिया मेरा । आज इसके नीचू तो कल उसके फिर भी भूको मरती । उधर छोकरा हाटेल का मड़ेला-पहेला खाता । कायकू सब झूठा बात किया तू ?[१] और पोपट निहायत मासूमियत भरे आशावाद के साथ जो कहता है वह अंतहीन प्रतीक्षा की विडम्बना से जुड़ा हुआ है जो मानवीय नियति की विवशता के संदर्भों को उजागर करता है : " --- मैं झूटा बात कभी नई किया । सब करेगा मैं --- पन झूटा बात नई करेगा । पहेला बोला --- अभी बोलता ---- मेरी जिंदगानी में खाली एकच बात है--- तेरे कू खाली में खोली ले के देना --- तेरे कू अच्छा लुगड़ा ला के देना --- तेरे कू शहर से ले जाना । और मैं तेरे कू बोलता मैना याद रख --- एक दिन मेरा टैम ज़रूर आयेगा --- ज़रूर आएगा । तब तू बोलना मेरे कू --- ।"

मैना को लेकर पोपट अपने अंधेरे झोपड़े में चला जाता है और हाजी उमर के किस्से सुनाता हुआ " इस्मगलिंग " का सपना देखता है क्योंकि मजूरी करके आज तक किसने " खोली " लिया है या मकान बांधा है । पर सुबह होते ही मैना की गाढ़ी कमाई ज़बर्दस्ती छीनकर उसे धकियाते हुये पोपट जुआ खेलने चला जाता है ।[२] यह झूठा आशावाद और अंतहीन प्रतीक्षा व्यक्ति को कैसे सारे मूल्यों और मानवीय संबंधों से काटकर अजनबी बना देती है, इसका प्रामाणिक अंकन लेखक यहां करता है । मैना और पोपट अपनी सारी अकुलाहट

१- " मुम्बा-घर ", पृ० २१ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ३१ ।

व छटपटाहट के बावजूद पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा निर्मित जाल से निकल सकते नहीं पाते । ये सारे पात्र एक ~~क~~ दुष्चक्र या तिलिस्म में फंसे लोग हैं जो लाख चाहकर भी उससे मुक्त नहीं हो पाते । इस विवशता और असमर्थता का अहसास उन्हें इस जीवन से और इस संसार से काटकर हताशा व निराशा की गहरी ~~संकीर्ण~~ खाइयों में फेंक कर अजनबी बना देता है । और वे एक परायीकृत और अजनबी दुनिया को काल्पनिक रूप से रचकर उसी को यथार्थ मानकर उसमें रहने लगते हैं । पोपट का सपना, उसकी अजनबी दुनिया और उसके अजनबीपन को पूरी तिक्तता के साथ उघाड़ता है :" मैं सच्ची बोलता मैना । आज मेरा सपना झूटा नई होगा । मैं देखा कि --- वो अपना हाजी शेठ नई क्या -- वो मेरे कू बुलाया । पीछू अपुन तीनों --- मैं, तू और राजू--- उधर गया । पीछू एक मोत बड़ा गाड़ी में हाजी शेठ खुद आया और अपुन को गाड़ी में बैठा के अपना वाली में ले गया । उधर पोलिस था बड़ा साब भी होता । वो मेरे से हाथ मिलाया । पीछू उधर एक बाजू से बीस हवलदार आया और दूसरा बाजू से पचीस हवलदार आया । मैं सच्ची बोलता मैना --- मैं खुद गिना ---बीस और पचीस । सब मेरे कू सलाम किया ---- ।[१]

बम्बइया बोली में सृजनात्मक स्तर पर रचा गया यह उपन्यास एक कथा उपलब्धि है । दलित-दमित वर्ग की यातना व दुर्दशा के भयावह यथार्थ चित्रण के साथ पुलिस की दरिंदगी, नृशंसता व बर्बरता तथा सफेदपोशों की अमानवीयता व क्रूरता पूरे उपन्यास के रचनातंत्र से विकसित होती है । सफ़ेद रोशनियों में रहनेवालों का जाल चारों तरफ़ कसता और तनता जाता है - यहाँ तक कि रेल की पटरियों पर भी ताकि कोई आत्महत्या न कर सके । सड़ासड़ बेंत पड़ रही है किस पर रंडियों पर या मानवता पर ? भीड़ में से हांफता राजू आता है पर माँ की ममता, पुत्र का स्नेह - सब को रौंदती हुई नीली गाड़ी फर्राटे से निकल जाती है । मजबूरी के शिकंजे में जकड़ी, तड़फड़ाती दम तोड़ती ज़िंदगियां चिल्लाती और गालियां बकती रह जाती हैं, पर कोई

१-'मुरदा-घर,' पृ० २७ ।

सुनना नहीं ।[१] दिन खत्म होते जाते हैं लेकिन सवाल खत्म नहीं होते । अपनी किस्मत को फटीकता जब्बार कहता है, " अपना किस्मत च गांडू है साला --- ।[२] उसकी ज़िंदगानी भी कोई ज़िंदगानी है । उसकी व्यथा है," मोब्बत से सादी बनाया । करकैच बोलता ये भी कोई जिन्दगानी है । मैं उधर -- औरत - बच्चा इधर । मैं उधर आ सकता नई । आया तो साला हवलदार गांडू लोक पकड़ लेगा । उधर रहू तो मेरी औरत कू ये साला लोक रंडी बना डालेगा ।[३]

गलत जगह से शुरू होकर गलत जगह पर खत्म होने का अंतहीन सिलसिला शुरू हो जाता है । कितना प्यार किया साली को -- मगर रंडी बन जाएगी ।[४] इन मजबूरियों में केवल जब्बार ही नहीं, मैनाबाई, पोपट, हसीना, रोजी सभी बिलबिला रहे हैं । इन सब के लिए इनका अपना जीवन बेमानी हो चुका है, सपने बिखर चुके हैं और ये अपनी लाश अपने कंधे पर खुद ढो रहे हैं । मैना सोचती है " फिर कौन आ जाता है अचानक -- उठा-उठाकर फेंकता जाता है सब की गंदगी और सड़न के ढेर पर ?[५] पोपट उसे समझाता है कि वह उससे नफरत न करे । उसने गुनाह किया है लेकिन अपने वास्ते नहीं : " ये थोड़ा टैम का बात है --- पीछू मेरा टैम ज़रूर आयेगा । और मेरा टैम आयेगा तो मैं तेरे क अइसा रखूंगा कि अइसा हाजी शेठ का औरत भी क्या रहेगा । तेरे कू और राजू कू । मैं भूखा रहा तो परवा नई । पन ये मादरचोद टैम -- कभी से रस्ता देखता हूं-- आताज नई । किस्मत गांडू है मेरा --- दुसरा कुछ नई ।[६] दम तोड़ जांगर चलाने के बाद भी कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है । पोपट इसका अनुभव करता है : "अपुन ये हाल में से बाहर निकलनेवाला नई । तू मरे कि मैं मरू --- हाल वो का वोच रहनेवाला है ।[७] निराशा और विवशता की यह मिली-जुली अनुभूति अजनबीपन के बोध को गहराने लगती है । बीमार चमेली के इस कथन में अजनबीपन कौंध रहा है :

१-'मुरदा-घर', पृ० ४७ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ५५ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ६३ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ६४-६५ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० ८४ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० ८८ ।
७- पूर्वोक्त, पृ० १५१ ।

अस्पताल और हवालात --- मेरे कू कुछ फरक नई लगता बाई । जइसा ये वइसा वो । जीना --- वइसा मरना । क्या फरक -- ?[१] इन सब के जीवन में ज़िंदगी से पहले हो गया गुनाह कभी माफ होनेवाला नहीं है । उसकी सज़ा बार-बार मिलेगी, फिर भी धुलकर वह साफ नहीं होगा ।[२] जब्बार सब तरफ से सोचकर देखकर थक गया है । रोज़ी हसीना को समझाती है : " ---- क्या समझी हसीना बाई । कौन किसका ज़िंदगानी बरबाद करता । ज़िंदगानी तो बरबादच है । अपुन कू खाली लगता कि ये आदमी बरबाद किया कि वो आदमी बरबाद किया ।[३]

नई ज़िंदगी शुरू करने का जब्बार का प्रयास असफल हो जाता है, नई ज़िंदगी की तरफ ले जानेवाली गाड़ी लेट हो जाती है और नई ज़िंदगी अचानक पटरियों पर गिरकर चिथड़े - चिथड़े हो जाती है ।[४] विवश जब्बार कहता है : तुम लोक का टैम है । मेरा टैम नई । जभी मेरा टैम आएगा --- मैं भी करेंगा हमला । छोडूंगा नई ----- ।[५] लेकिन व्यवस्था उसे छोड़ती कहां है । पुलिस अत्यंत नृशंसता और बर्बरता से उसे अपना शिकार बना डालती है[६] । लेखक ने पुलिस की अमानवीय क्रूरता को उसकी संपूर्णता में उकेर दिया है ।

पोपट को लगता है, अब उसका " टैम " बदलेगा और वह स्मगलिंग के धंधे से जुड़कर अपने जीवन के अंधेरे को दूर करना चाहता है । पर यहां भी उसका " टैम " उसे धोखा दे जाता है और लोकल ट्रेन उसे कुचलती हुई निकल जाती है ।[७] मुरदा-घर में मैनाबाई स्तब्ध होकर मरे हुए मुरदों की ठंडी दुनिया को देखती है और फिर उस दुनिया में वापस आ जाती है जहां जीवित मुरदे चारों तरफ बिखरे हुए हैं ।[८]

१- 'मुरदा-घर', पृ० १०० ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ११५ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० १६५ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० १७३ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० १७७ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० १८७ ।
७- पूर्वोक्त, पृ० १६३ ।
८- पूर्वोक्त, पृ० २०४ ।

व्यवस्था की क्रूरता, निष्ठुरता और अमानवीयता का जीवन्त चित्रण लेखक ने इस उपन्यास में किया है। पुलिस के बर्बर जुल्म के शिकार सारे पात्र हैं। ये सभी अँधेरी दुनिया के भयावह अँधेरे से निकलने के लिए जीवन भर छटपटाते हैं पर वे पाते हैं कि अँधेरी दुनिया का शिकंजा उनके ऊपर और कस गया है। मानव जीवन की यह विवशता मानव नियति की विवशता से जुड़ी हुई है जो उनके जीवन में अजनबीपन के विविध आयामों को खोलती हुई उन्हें निपट अजनबी बना देती है। दलित-दमित वर्ग के प्रति अपार करुणा और सहानुभूति की भावना लेखक को कबीर, निराला, मुक्तिबोध और धूमिल की परंपरा में खड़ाकर देती है। लेखक का वैशिष्ट्य उसकी तटस्थता में है, वह कहीं भावावेश में नहीं बहता और यही कारण है कि स्थितियों पर से लेखकीय पकड़ नहीं छूटती। यथार्थ का पैना अंकन संवेदनशील व्यक्ति की चेतना को झकझोरकर उसे खरोंच देता है। प्रेमचंद के बाद जगदम्बा प्रसाद दीक्षित दूसरे महत्वपूर्ण रचनाकार हैं जिन्होंने सामान्य जन की पीड़ा को सृजनात्मक स्तर पर झेलने और रचने का सार्थक प्रयास किया है। प्रेमचंद के पात्रों को आतंकित करनेवाले जमीन्दार, कारिन्दे, सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों के ठेकेदार ब्राह्मण और सूदखोर महाजन हैं, जबकि दीक्षित के पात्रों को आतंकित करनेवाले हैं सफेदपोश और बर्बर पुलिस। समय के साथ बदले हुए संदर्भों को लेखक ने कुशलता से पहचाना है।

३० - 'लाल टीन की छत'

निर्मल वर्मा का उपन्यास 'लाल टीन की छत' (१९७४) एक ऐसी लड़की की कथा है जो अपने छोटे भाई, माँ और नौकर मंगतू के साथ पहाड़ी शहर के लाल टीन की छतवाले अपने लकड़ी के बने मकान में अकेलेपन के बीच रहती है। सरदी की लम्बी, सूनी छुट्टियों में वह अपने अकेलेपन को तोड़ने के लिए इधर-उधर पहाड़ियों, झाड़ियों और वृक्षों के बीच भटकती रहती है। उसने अपने अकेलेपन के इर्द-गिर्द वय:संधि की रहस्यमय संवेदनाओं और आतंकपूर्ण अनुभूतियों का मायावी संसार रच लिया है, जिसमें अपना अधिकांश समय वह सच्ची-झूठी

स्मृतियों में गोते लगाने में व्यतीत करती है। ' वह एक ऐसी सीमा पर खड़ी है, जिसके पीछे बचपन छूट चुका है और आनेवाला समय अनेक संकेतों और संदेशों से भरा है। एक छोर पर अजीब-सा आतंक है, दूसरे छोर पर एक असहनीय सम्मोहन - और इन दोनों के बीच जो अँधेरी भूल भुलैया फैली है, समूचा उपन्यास उसके कोनों को छूता, पकड़ता, छोड़ता हुआ चलता है।[१]

अमरीकी कथाकार एडगर एलन पो की कहानियों का भयग्रस्त, रहस्यात्मक, धुँधला वातावरण निर्मल वर्मा के इस उपन्यास में सृजनात्मक स्तर पर सजीव हो उठता है। अकेलेपन के कारण पूरे वातावरण का वीरानापन और रहस्यमय हो जाता है। एक विद्वान की टिप्पणी है कि ' काया के चरित्र में जो अकेलापन है, उसे लेखक ने अधिकांश पात्रों में उत्पन्न करके एक घने और गहरे अकेलेपन के वातावरण को सारे उपन्यास में बिछा दिया है।[२] डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में ' इस उपन्यास में भय और आतंक, अकेलापन और सूनापन, अजनबीपन और बेगानापन धुंध की तरह छाया रहता है।[३]

पहाड़ी शहर के निस्तब्ध शोर में काया और उसके भाई छोटे के बीच ' कुछ नहीं ' का संसार फैला था और वहाँ कुछ भी हो सकता था। इसलिए उनकी उम्मीद उतनी असीम थी, जितना उसका आतंक और जिसमें वे एक छोर से दूसरे छोर तक डोलते रहते।[४] छोटे जोंक की तरह अपनी बहन से चिपटा रहता था - क्या मालूम कब कोई ऐसी बात हो जाये, जब वह मौजूद न हो। वस्तुत: वे भ्रमों को पालते थे, उनमें सुख ढूंढते थे और फिर उसी ' चीज़ ' को जो न सुख होता, न भ्रम, एक मरे हुए चूहे की तरह घसीटकर कमरे में लाते।[५] यह उनकी विवशता थी जिससे चाहकर भी मुक्त नहीं हो पाते। बहुत पुरानी

१- ' लाल टीन की छत ' - निर्मल वर्मा, १९७४, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,

२- ' समीक्षा ' कमल किशोर गोयनका, नवंबर-दिसंबर, ७४, पृ० फतेहपुर ।

३- ' हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि ', पृ० ११७ ।

४- ' लाल टीन की छत ', पृ० १२ ।

५- पूर्वोक्त, पृ० १५ ।

स्मृतियाँ हिचकी-सी बनकर गले में अटक जातीं । उसके बाल जीवन के लंबे अंतहीन विस्तार में बर्फ के धुंधले दिन , खाली कमरे, झुकी, भरी हुई पेड़ों की शाखाएँ और आस-पास की रहस्यमयी परिकल्पनाएँ अटकी हुई थीं । बाबू के दिल्ली जाते ही मकान वीरान - सा बन जाता है और मकान के बीचोबीच एक उजाड़ रेगिस्तान फैल जाता । सर्दियों की ऐसी रातों में काया की नींद काफूर हो जाती । दिन भर का अकेलापन , गुस्सा, तृष्णा, हताशा आपस में गुंथकर एक धुंध का गोला-सा बन जाते, जो न इतना कोमल होता कि आँसुओं में पिघलकर बाहर आ सके, न इतना सख्त होता कि वह उसकी पकड़ में आकर किसी धूक, किसी समझदारी की सांत्वना में बदल सके - वह धुंध उसके बिस्तर पर फैली चाँदनी-सी फैल जाती ।[१]

बुआ को लगता कि यह शहर एक मरा हुआ शहर है । काया को लगता वह किसी अजनबी घर में रह रही है । उसकी माँ कोई दूसरी औरत हैं, जिनका चेहरा सिर्फ माँ से मिलता है, बाकी सब कुछ पराया है । कभी-कभी शाम के पीले धुंधलके में उसे अपना मकान भी अजनबी लगता ।[२] अपने मकान के उजाड़ और खालीपन के बीच काया ने पहली बार अकेलेपन की गहराई से महसूस किया । उसे लगा जैसे अकेलापन कोई बीमारी है, जो भीतर पनपती है और बाहर से जिसे कोई नहीं देख सकता --- न छोटे, न माँ, न मिस जोसुआ ।[३]

अकेलेपन के अंतहीन मरुस्थल में भटकती काया के चारों ओर एक सूनापन-सा घिर जाता और वह अनुभव करती जैसे वह कोई बाहर की लड़की है, इस घर में शरणार्थी की तरह रहती है ।[४] सारे कार्यकलापों के बीच अर्थहीनता का अहसास काया को कचोटता रहता है । स्मृतियों के अँधेरे में उसे रोशनी और अँधेरा एक दूसरे से अलग नहीं जान पड़ते । अजनबियत का बोध उसके मानस को दबोचने लगता है : --- मैं इन सब के बीच कितनी बेकार है । घटनाएँ होती थीं , पर इन दिनों वे किनारे पर पड़ी रहती थीं, पत्थरों ,पत्तों

१-'लाल टीन का छत', पृ० ३६ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० ५२ ।

३- पूर्वोक्त, पृ० ५३ ।

४- पूर्वोक्त, पृ० ६१-६२ ।

टूटी हुई टहनियों की तरह - जिन्हें मैं पीछे मुड़कर भी नहीं देखती थी । कभी अचानक सूनी दुपहर को, या रात को सोने से पहले वे किनारे से उठकर मुझपर उड़ने लगती कोई डरा-सा संकेत, कोई चौंकानेवाली आवाज़, कोई रेंगती, रिरियाती स्मृति - तब मुझे लगता, यह सब किसी पिछले जन्म में हुआ था ।[1]

जिन पहाड़ों को वह इतना अपना समझती आई थी, अचानक रात में अजनबी से जान पड़ते - " जैसे उनका उससे कभी वास्ता न रहा हो - निर्मम, अलग, धुंध और चांदनी में लिपटे हुए - ठंडे, कितने उदासीन ।[2] उसके भीतर इस अजनबियत के बीच एक अजीब-सा विषाद सिर उठाने लगता । एक आदिम, मुतैली आकांक्षा उसका पीछा करने लगती और उसे लगता " जैसे वह अलग है, उसकी देह अलग, उसके पैर अलग - और तीनों के बीच सिर्फ़ हवा है ।[3] सूने मंदिर की दीवारों पर खाली खोखला शोर मचाती चिथड़ी झंडियां, चीखती पहाड़ियां, हांफते जंगल और आसमान के अनंत विस्तार में उसका भाई छोटे सब कुछ भूल जाता, उसकी चेतना शून्य हो जाती और मंदिर का सन्नाटा और भयावना हो जाता । वह काया के पीछे घिसटता रहता । झूठे टुकड़ों या अनुभव की कतरनों के साथ खेलते हुये उसे अपनी स्थिति बेहूदी-सी जान पड़ती ।[4] यह अजनबीपन का बोध काया की चेतना को अपनी संपूर्ण शक्ति से ग्रसता है । उसे जंगल की सांय-सांय मकान की खोखलता और रोते हुए गीदड़ों की आवाज़ के बीच अपनी असमर्थता का अहसास घेर लेता है ।[5] " काया को अचानक लगता ", न उसके हाथ है, न पैर --- वह न आगे बढ़ सकती है, न अपना हाथ आगे बढ़ा सकती है ।[6] वह उम्मीदों , आशाओं और आश्वासनों के सहारे आनेवाले दिनों को झेलने की शक्ति संजो रही है । अंधेरा उसके भीतर है और बाहर भी । उसके भीतर बरसों से उसका गुस्सा और घृणा उसका अकेलापन उसकी कड़वी-कसैली चाहना जमा होती

१- 'लाल टीन की छत', पृ० ६२ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ६६ ।
३- पूर्वोक्त, पृ० ८४ ।
४- पूर्वोक्त, पृ० ६१ ।
५- पूर्वोक्त, पृ० १०७ ।
६- पूर्वोक्त, पृ० १४६ ।

रही है और जिसे वह लगातार ढोती चली आ रही है। उसके भीतर की चीख इस पिरामिड के पुराने ढेर को खरोंच रही है और धीरे-धीरे पुराना लावा रिस रहा है ।[१] काया की इस मानसिक छटपटाहट को लेखक काव्यात्मक भाषा में अंकित करता है :

" --- और, तब, वह रोने लगी, बिना कुछ सोचे हुए, बिना जाने हुए कि वह रो रही है - आंसू जो न किसी खास जगह शुरू होते हैं, न किसी मुकाम पर जाकर खत्म हो जाते हैं - जिन्हें पोंछा भी नहीं जाता, वे खुद-ब-खुद सूख जाते हैं और बाद में उनका नाम-निशान भी दिखाई नहीं देता"।[२]

यहां लेखक उस यथार्थ को पकड़ने की कोशिश करता है जो बार-बार हाथ में आकर फिसल जाता है । कैशोर्य और युवावस्था के बीच के संक्रमण-काल में उसके मन में उठनेवाली घुमड़न , शारीरिक उत्तेजना और शारीरिक अपरिपक्वता के कारण रह-रहकर उठनेवाली टीस पूरे शरीर को रोमांचित कर रही है । आलिंगन के लिए व्याकुल भुजाएं, सम्भिव्य-सुख की वासना से भरा शरीर, वातावरण का अजनबीपन और भीतर से फिंफोड़ता चिर परिचित अकेलापन काया के लिए अभिशापस्वरूप हैं । युवावस्था की दहलीज़ पर पांव रखे तथा इन प्रश्नों के घेरे में उलझी काया कैशोर्यावस्था की कल्पनाओं और रहस्यात्मकता से आतंकित और आक्रांत है । अजनबीपन का बोध अकेलेपन की रहस्यमयता और परिवेशगत भयावह सन्नाटे के बीच उभरता है । काया मां-बाप से अकेली है, पुस्तकों से अलगाव है, कोई समवयस्क साथी नहीं है -- उसके अकेलेपन को समझने और बांटनेवाला कोई नहीं है । वह बड़ों के संसार में अपने को अकेली और अजनबी पाती है । उसके अकेलेपन की साथी मिन्नी थी -

---

१-'लाल टीन की छत', पृ० १५६ ।

२- पूर्वोक्त, पृ० १६० ।

वह मर गई, लामा थी - उसकी शादी हो गई । विकराल पहाड़ों और बियाबान भाड़ियों के बीच भटकने के लिए केवल काया अकेली बच गई । और इस भयावह, रहस्यमय अकेलेपन के आतंक से उसे मुक्ति तब मिलती है जब बरसों के भरे मवाद को फोड़ती हुई वह भीतर की "बनैली, अंधेरी फुत्कार" एक लिसलिसे, गर्म, रक्तिम ज्वार के क्रम में देह को तोड़ती हुई निकलने लगती है ।[१]

०००

१-'लाल टीन का छत', पृ० २०५-२०६ ।

पंचम अध्याय

मूल्यांकन : हिन्दी उपन्यास के चरित्र में अजनबीपन की भावना

५ - मूल्यांकन

(हिन्दी उपन्यास के चरित्र में अजनबीपन की भावना)

आधुनिकता के दबाव से जीवन में उभर आई बौद्धिकता ने विचारों के केन्द्र में मनुष्य को प्रतिष्ठित किया । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसका चरित्र प्रदत्त न होकर सामाजिक - सांस्कृतिक परम्पराओं से अर्जित तथा सामाजिक- आर्थिक दशाओं से निर्धारित व शासित होता है । बौद्धिकता व तर्कशीलता के कारण आदर्शवादी-सामंतवादी विचारधारा की गुंजलक से मुक्त होकर आधुनिक मनुष्य का आग्रह धीरे-धीरे यथार्थ पर बढ़ने लगा । डॉ० रमेश कुन्तल मेघ के शब्दों में, आधुनिक बोध द्वारा प्रतिष्ठित 'जीवित मानव व्यक्ति' की धारणा ने आदर्शवाद के उन्मूलन की भूमिका अदा की ।[१] यथार्थवादी चेतना अमूर्त और वायवीय किस्म की लिजलिजी-सी चीज़ न होकर मूर्त और जानदार होती है, जो संदर्भों को मांसल और ठोस रूप में पेश करती है । यथार्थवाद उलूलजलूल परलोकवादी धारणाओं का तिरस्कार करता है और लोकोत्तर संदर्भों में अनिवार्यिक माथापच्ची करने के बजाय इर्द-गिर्द बिखरे हुए वास्तविक और जीवन्त परिवेश में से रचना सामग्री तलाशता है तथा लेखक को तमाम चीज़ों को देखने का एक नया दृष्टिकोण देता है ।

आधुनिक जीवन में 'परायेपन के घटक की प्रमुखता' स्वीकार करते हुए डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है, 'आधुनिक व्यक्ति का व्यक्तित्व आत्मरति बोधात्मक तथा परायीकृत है । यही आधुनिक त्रासदी है ।[२] आधुनिक त्रासदी को व्याख्यायित करते हुए वे कहते हैं कि आधुनिक त्रासदी 'भाग्य' की प्राचीन त्रासदी न होकर 'चरित्र' की त्रासदी है तथा आधुनिकता-बोध में एक 'अजनबी' और 'परायीकृत' दुनिया नज़र आती है ।[३] आधुनिक कलाकार के आत्मसंघर्ष की चर्चा

१- 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण' - डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, १९६९, पृ० ३६४ ।
२- पूर्वोक्त, पृ० ३९८ ।
३- 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा'- डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, दि मैकमिलन कं०, दिल्ली, १९७७, पृ० ३६७ ।

करते हुए डॉ० मैघ ने 'आत्मनिवारण की धारणा' को सर्जनात्मक चिन्तन के इतिहास में एक क्रांति निरूपित करते हुए बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है :

'आत्मनिवारण की धारणा ने कलाकार की व्यक्तिगत ज़िंदगी को बेहद अजनबी एवं अकेला बना दिया। अब व्यक्तिगत ज़िंदगी का कोई कोना या अंग गुप्त, गोपनीय, निजी तथा भेदपूर्ण नहीं रखा गया। इससे नैतिक शालीनता तथा सामाजिक नियंत्रण दोनों में विस्फोट हुआ। सेक्स की निर्द्वंद्वता, सुहाग कमरों की पारिवारिक ज़िंदगी की निरंकुशता, दफ्तर तथा चौराहे के अपमान और निजी वर्जनाएं अपनी नानाविध मनोवैज्ञानिक विविधताओं के साथ अभिव्यक्त हो उठीं जिन्हें 'अभिव्यक्ति की ईमानदारी' कहा गया।[१]

इससे साहित्य क्षेत्र में आधुनिकता के संदर्भ में आये बदलावों पर पर्याप्त रूप में रोशनी पड़ती है, तथा परंपरित और आधुनिक साहित्य का गुणात्मक वैशिष्ट्य और अलगाव अपनी साहित्यिक रचनाशीलता के परिप्रेक्ष्य में उजागर हो जाता है।

हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद 'गोदान' में आकर, आदर्शवाद को परे ठेलकर यथार्थ की प्रतिष्ठा बड़े आग्रह के साथ करते हैं। लेकिन 'गोदान' के इस यथार्थवाद पर आदर्शवाद का गहरा दबाव बना हुआ है जिसे होरी के चरित्र में परिलक्षित किया जा सकता है, जहां अब भी वह सामाजिक परंपराओं से बंधा हुआ है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रेमचंद के उपन्यासों के बारे में बड़ी उपयुक्त टिप्पणी की है : 'इनकी घटनाएं यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।[२] चौथे दशक में हिन्दी उपन्यासकार को दो मोर्चों पर एक साथ लड़ना था। उसकी पहली लड़ाई आदर्शवादी चेतना के विरुद्ध थी, जिसकी झलक और छटपटाहट का संकेत प्रेमचंद, 'प्रसाद' और 'निराला' की औपन्यासिक रचनाओं में स्पष्ट रूप से विद्यमान मिलता है। उसकी दूसरी लड़ाई सामाजिक परम्पराओं के दबावों के नीचे पिसती 'व्यक्तिवादी चेतना' की प्रतिष्ठा की है जिसकी शुरुआत छायावादी कवियों ने तीसरे दशक के आरंभ में अपनी

१- 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण', पृ० ४०२-४०३।

२- 'आस्था के चरण' - डॉ० नगेन्द्र, १९६८, पृ० ४५५-४५६।

कविताओं के माध्यम से कर दी थी और जिसे 'प्रसाद' ने अपने उपन्यासों के माध्यम से अत्यंत संवेदनशील रूप में रचा । डॉ० सुषमा धवन का कथन यहां प्रासंगिक है कि 'प्रसाद' के उपन्यासों का महत्त्व सामाजिक विषमताओं के बीच' व्यक्ति की गरिमा ' स्थापित करने में है ।[१]

वैयक्तिक चेतना की मुखर अभिव्यक्ति और उसकी सामाजिक परंपराओं व रूढ़ मान्यताओं से टकराहट का सशक्त सर्जनात्मक अंकन जैनेन्द्र कुमार के' त्यागपत्र' (१९३७) में उपलब्ध होता है जहां मृणाल का विद्रोहात्मक तेवर और मौन विरोध प्रश्न चिन्ह के रूप में परंपरित आदर्शों व मूल्यों के सम्मुख प्रस्तुत होता है । मृणाल अपनी इस आत्मपीड़क विद्रोहात्मकता में परंपरित मूल्यों से अजनबी होकर सामाजिक दबावों के नीचे टूट जाती है । मृणाल की मृत्यु के बाद यह अजनबीपन प्रमोद की चेतना में फैलकर उसे अजनबी बना देता है । मृणाल की उपर्युक्त विद्रोहात्मक मुद्रा अपने पूरे बौद्धिक आवेग और फैलाव के साथ' अज्ञेय ' की' शेखर : एक जीवनी ' (१९४१-४४) में प्रकट होकर यथार्थ के नये आयाम खोलती है ।' अज्ञेय' ने इसे संवेदनशील धरातल पर इसकी संपूर्णता में अस्तित्ववादी चिन्ताओं के साथ रचने का कलात्मक उपक्रम किया है । इस उपन्यास में वैयक्तिक चेतना विस्फोटक रूप में उभरती है । शेखर के चरित्र में कॉलिन विल्सन द्वारा उल्लिखित' आउटसाइडर' (अजनबी-व्यक्ति) की विभिन्न स्थितियाँ प्रचुर मात्रा में लक्षित की जा सकती हैं ।

चिरप्रतीक्षित स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक -आर्थिक सांस्कृतिक या राजनीतिक क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर मोह भंग हुआ । बौद्धिक दृष्टि से सर्वाधिक जागरूक मध्यवर्ग ने इस मोहभंग को सब से ज्यादा झेला । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में मध्यमवर्ग की इस यातना, घुटन और पीड़ा को रचने की कसमसाहट और अकुलाहट अपनी रचनात्मक सीमाओं के बीच स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है । राजेन्द्र यादव ने अपने एक निबंध' भारतीय उपन्यास : असफलता के कुछ बिन्दु' में लिखा है कि कथा-साहित्य का संबंध

१-' हिन्दी उपन्यास' - डॉ० सुषमा धवन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६१, पृ० ९२ ।

सामाजिक परिवर्तन की घटनाओं से उतना नहीं होता जितना उनमें उलझे नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक संकट से होता है।[१] इस कथन के परिप्रेक्ष्य में छठे दशक के उपन्यासों[२] में मिलनेवाले संबंधों के तनावों की प्रभावशाली भूमिका को समझा जा सकता है, जिसके मूल में सांस्कृतिक मूल्यों की टकराहट, अवरोध और मूल्यगत बदलाव की कसमसाहट और छटपटाहट है। अजनबीपन का हल्का संदर्भ इन उपन्यासों में मिलने लगता है। राजेन्द्र यादव ने मध्यम वर्ग के इस विवशताजन्य अलगाव, उनके अजनबीपन और अभिशप्त नियति को यों स्वीकार किया है : 'बड़े-बड़े राष्ट्रीय या वैयक्तिक उद्योगों की छाया में करोड़ों लोगों का ऐसा वर्ग (मध्यम वर्ग) है जो कहीं भी अपने को जुड़ा हुआ नहीं पाता। कोई शहर उनका अपना नहीं है, कोई संबंध उनका अपना नहीं है, उनकी जड़े न कहीं पीछे खेत- खलिहानों में हैं, न किसी संयुक्त परिवार में।[३] अजनबीपन की समस्या को आधुनिकीकरण से जोड़ते हुए डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है कि रहन-सहन का परायीकृत ढंग विकसित होने पर तकनीकी विधियां अजनबीपन को गहराने लगती है :

'शराब की बोतल, पब्लिक स्कूल में पढ़नेवाली संतति, फैशनवाली वेशभूषा, सिगार और मिनी स्कर्ट आदि ऐसी स्थिति में परायेपन के निमित्त कारण हो जाते हैं। जब रहन-सहन का स्तर तो बढ़ जाता है लेकिन मनुष्य (बुद्धिजीवी) की सामाजिक उन्नति नहीं होती, उसके सामाजिक 'स्व' का पूरा विकास नहीं होता, उसे मनोरंजन की स्वतंत्रता नहीं होती, तब इस तरह का भ्रामक एवं घटिया आत्म आधिपत्यमूलक परायापन परिव्याप्त हो जाता है। हमारी उपभोग-प्रधान अर्थतंत्र में नवोदित मध्यवर्ग इसका शिकार हो गया है। ये वस्तुएं स्टेटस, फैशन और प्रतिष्ठा तीनों को प्रदान करती हैं। मात्र प्रतिष्ठा के लिए' व्यवहार तथा सुविधा के लिए नहीं) इनका उपयोग एक तीव्र परायीकृत आवेश का स्रोत हो जाता है।[४]

१- 'प्रेमचंद की विरासत और अन्य निबन्ध'- राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली १९७८, पृ० १० ।

२- 'कुलटा'(५२)' चांदनी के खंडहर'(५४), 'कांटे फूल का पौधा'(५५), 'तंतुजाल' (५८)' खाली कुर्सी की आत्मा' (५८), 'झूठा-सच' (५८-६०), 'अजय की डायरी' (६०) इत्यादि ।

३- 'प्रेमचंद की विरासत और अन्य निबंध' - राजेन्द्र यादव, पृ० १२ ।

४- 'आधुनिकता -बोध और आधुनिकीकरण'-डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, पृ० २०६ ।

स्वतंत्रता के उपरांत देश में हुए बृहद पैमाने पर औद्योगिककरण पूंजी विनियोजन और नवधनिक पूंजीपति वर्ग के मुनाफों में हुई कई गुनी अतिशय वृद्धि तथा सामान्य जन की दयनीय आर्थिक सामाजिक स्थिति ने मध्यम वर्ग के मानस में अलगाव और अजनबीपन की अनुभूति को गहराया। चीनी हमले में हुई शर्मनाक हार ने इस मोह भंग को नये आयाम दिये। साठोत्तरी पीढ़ी का हिन्दी रचनाकार जीवन की इस कड़वी-कसैली तल्ख अनुभूति को सृजनात्मक स्तर पर रचने का साहसपूर्ण कलात्मक प्रयास करता है। फलस्वरूप सातवें दशक के साहित्य में महत्वपूर्ण और बिलकुल नये ढंग का बदलाव परिलक्षित होता है। डॉ० अतुलवीर अरोड़ा ने लिखा है कि सन् साठ के बाद संबंधों के बदलते हुए यथार्थ की अनगिनत विशिष्ट मुद्राएं ग्राम, शहर तथा महानगर के त्रिस्तरीय विस्तार में मुखरित होने लगती है, जिसमें शिक्षित नारी के संबंधों का एक टूटता-बनता और बिखरता संसार है, जहां पुरुष अधिकाधिक भावनाहीन और जड़ होता गया है।[१] इस व्यापक दंश की अभिव्यक्ति और जीवन की भ्रमजालिक नियति की पहचान साठोत्तरी पीढ़ी के उपन्यासों[२] में रचनात्मक स्तर पर देखी जा सकती है। इन उपन्यासों में अजनबीपन का संदर्भ अपने विविध पहलुओं के साथ बड़े व्यापक रूप में मिलने लगता है जिसकी गवाही विद्वानों और आलोचकों की स्वीकृति में मिलने लगती है। डॉ० सत्येन्द्र जैसे

१-" आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास", पृ० २७८।

२- " पचपन खंभे लाल दीवारें", "अंधेरे बंद कमरे", " अपने- अपने अजनबी "(६१)

" यह पथ बंधु था", " अर्थहीन"(६२), " वे दिन", टूटती इकाइयां"(६४)

" एक कटी हुई जिंदगी : एक कटा हुआ कागज "(६५) , " बैसाखियों वाली इमारत", , " शहर था, शहर नहीं था" , " लौग" , " एक पति के नोट्स "(६६) तुम्हें भी नहीं राधिका ?" (६७)"" न आनेवाला कल", " दूसरीबार",

" कुछ जिंदगियां बेमतलब" (६८)," वह अपना चेहरा", " उसका शहर", " धूप-छांही रंग "(७०)" वेवर "," सफेद मेमने "," कटा हुआ आसमान ", " यायावर"," एक चूहे की मौत"," पत्थरों का शहर "(७१)" धरती धन न अपना" (७२) ," बीमार शहर"," मरीचिका" (७३) ," मुरदाघर", "लाल टीन की छत "(७४) इत्यादि।

वरिष्ठ परंपरित आलोचक ने तीखेपन और फुंफलाहट के साथ हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त अजनबीपन की चेतना की "प्रखरता" स्वीकार की है[१] तथा अजनबीपन के पारिभाषिक रूप[२] और प्रकारों का विवेचन[३] परंपरित शैली में किया है। अमृतराय जैसे समीक्षक नाक-भौंह सिकोड़ते हुए[४] अजनबीपन और संवादहीनता को मूलत: एक मानते हुए[५] इसे आधुनिक "साहित्य की एक बड़ी समस्या"[६] मानते हैं जो उनके अनुसार मुख्यत: महानगरों के जीवन की है। नई कविता के पुरोधा लक्ष्मीकांत वर्मा ने इसे यों स्वीकार किया है :

"स्वातंत्र्योत्तर मानस के खंडित स्वप्नों और एक-एक कर टूटते भ्रमों के बीच रह-रहकर एक ऐसा रेगिस्तान पनप रहा है जिसमें संवेदनाओं की मार्मिकता और भाव बोध की भिन्नता दोनों ही एक अजनबीपन का बोध देने लगते हैं। गत बीस वर्षों में यह रेगिस्तान, यह अजनबीपन, यह काठ के चेहरों से घिरे होने की विवशता और आत्म साक्षात्कार की पाषाणी अवरुद्धता बढ़ी है।[७]

हिन्दी उपन्यास की विकासयात्रा में अजनबीपन के संदर्भों की तलाश को राजेन्द्र यादव के इस कथन के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है कि आज साहित्य को सिर्फ शास्त्रीय या साहित्यिक मूल्यों से नहीं जाना जा सकता। उसे समझने के लिए राजनीति, समाजशास्त्र, आर्थिक ढांचे और सारी सामाजिक बनावट को समझना ज़रूरी है :

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के साहित्य ने जो अचानक समाजशास्त्रियों को आकर्षित करना शुरू कर दिया है, वह आकस्मिक नहीं है। कारण यह कि

१- 'हिन्दी उपन्यास - विवेचन' - डॉ० सत्येन्द्र, १९६८, पृ० २८७।

२- पूर्वोक्त, पृ० २८३।

३- पूर्वोक्त, पृ० २८४।

४- 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा' - अमृतराय, १९७७, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० १३८।

५- पूर्वोक्त, पृ० १३९।

६- पूर्वोक्त, पृ० १३५।

७- 'आलोचना' पूर्णांक ४१, जनवरी-मार्च, ६८, पृ० २५।

अपने संबंधों और संदर्भों में जीने वाले आदमी का वह एक प्रामाणिक दस्तावेज है । आज के संपूर्ण समय के संघातों के बीच सांस लेते मनुष्य की कुंठाओं, आकांक्षाओं प्रयत्नों और हताशाओं को अगर हम ईमानदारी और कलात्मक प्रभविष्णुता से आंक सके तो हमें किसी शास्त्रीय प्रामाणिकता की आवश्यकता नहीं है । बल्कि शास्त्र अपनी प्रामाणिकता इस रचना से तय करेगा ।"[१] प्रस्तुत विवेचन में विविध प्रकार के उद्धरणों की उपादेयता को इसी रूप में स्वीकार किया गया है ।

० ० ० ०

१- 'प्रेमचंद की विरासत और अन्य निबंध' - राजेन्द्र यादव, १६७८, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पृ० २२ ।

प रि शि ष्ट

परिशिष्ट : सहायक ग्रंथों की सूची

(१) उपन्यास : विवेचन के आधार-रूप में प्रयुक्त

१- अजय की डायरी : देवराज

२- अर्थहीन : रघुवंश

३- अंधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश

४- अपने-अपने अजनबी : " अज्ञेय "

५- अलग-अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह

६- आदर्श दम्पति : मेहता लज्जाराम शर्मा

७- आदर्श हिन्दू : मेहता लज्जाराम शर्मा

८- उसका शहर : प्रमोद सिन्हा

९- एक कटी हुई जिंदगी : एक कटा हुआ कागज : लक्ष्मीकांत वर्मा

१०- एक चूहे की मौत : बदीउज्जमाँ

११- एक पति के नोट्स : महेन्द्र भल्ला

१२- कटा हुआ आसमान : जगदम्बा प्रसाद दीक्षित

१३- कर्मभूमि : प्रेमचंद

१४- कल्याणी : जैनेन्द्र

१५- कायाकल्प : प्रेमचंद

१६- काले फूल का पौधा : लक्ष्मीनारायण लाल

१७- कुछ जिंदगियाँ बेमतलब : ओम प्रकाश दीपक

१८- कंकाल : जयशंकर प्रसाद

१९- खाली कुर्सी की आत्मा : लक्ष्मीकांत वर्मा

२०- गोदान : प्रेमचंद

२१- चपला वा नव्य समाज चित्र : किशोरीलाल गोस्वामी

२२- चांदनी के खण्डहर : गिरिधर गोपाल

२३- चित्रलेखा : भगवती चरण वर्मा

२४- चंद्रकांता संतति : देवकीनन्दन खत्री
२५- जहाज का पंछी : इलाचंद्र जोशी
२६- टूटती इकाइयाँ : शरद देवड़ा
२७- त्यागपत्र : जैनेन्द्र
२८- तारा वा क्षात्र कुल कमलिनी : किशोरीलाल गोस्वामी
२९- तंतुजाल : रघुवंश
३०- तितली : जयशंकर प्रसाद
३१- दूसरी बार : श्रीकान्त वर्मा
३२- धरती धनन अपना : जगदीश चन्द्र
३३- धूप छाहीं रंग : गिरीश अस्थाना
३४- न आनेवाला कल : मोहन राकेश
३५- नदी के द्वीप : " अज्ञेय "
३६- नारी : सियाराम शरण गुप्त
३७- निर्मला : प्रेमचंद
३८- निर्वासित : इलाचंद्र जोशी
३९- पचपन खंभे लाल दीवारें : उषा प्रियम्वदा
४०- पत्थर युग के दो बुत : चतुरसेन शास्त्री
४१- पत्थरों का शहर : सुरेश सिन्हा
४२- परख : जैनेन्द्र
४३- परीक्षा गुरु : लाला श्रीनिवास दास
४४- प्रतिज्ञा : प्रेमचंद
४५- प्रेमाश्रम : प्रेमचंद
४६- बबूल : विवेकी राय
४७- बिगड़े का सुधार वा सती सुखदेवी : मेहता लज्जाराम शर्मा
४८- बीमार शहर : राजेन्द्र अवस्थी
४९- बेघर : ममता कालिया
५०- बेगानियों वाली इमारत : रमेश बक्षी

५१- बूंद और समुद्र : अमृतलाल नागर
५२- प्रेमभंग : देवेश ठाकुर
५३- मरीचिका : गंगा प्रसाद विमल
५४- मालती माधव वा मदन मोहिनी : किशोरीलाल गोस्वामी
५५- मुरदा-घर : जगदम्बा प्रसाद दीक्षित
५६- मेम की लाश : गोपालराम गहमरी
५७- मैला आंचल : फणीश्वरनाथ 'रेणु'
५८- यह पथ बंधु था : नरेश मेहता
५९- यात्राएं : गिरिराज किशोर
६०- राग दरबारी : श्रीलाल शुक्ल
६१- राधाकांत : ब्रजनन्दन सहाय
६२- राम रहीम : राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह
६३- रुकोगी, नहीं राधिका? : उषा प्रियम्वदा
६४- लाल टीन की छत : निर्मल वर्मा
६५- लोकऋण : विवेकी राय
६६- लोग : गिरिराज किशोर
६७- वे दिन : निर्मल वर्मा
६८- वैशाली की नगरवधू : चतुरसेन शास्त्री
६९- शहर था , शहर नहीं था : राजकमल चौधरी
७०- शेखर : एक जीवनी : 'अज्ञेय'
७१- सफ़ेद मेमने : मणि मधुकर
७२- सुनीता : जैनेन्द्र
७३- सुशीला विधवा : मेहता लज्जाराम शर्मा

(२) सहायक पुस्तकें

१- अजातशत्रु : जयशंकर प्रसाद
२- अपनी सौन्दर्य जिज्ञासा : रमेश कुन्तल मेघ

३- अधूरे साक्षात्कार : नेमिचन्द्र जैन
४- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : रामस्वरूप चतुर्वेदी
५- अज्ञेय और उनके उपन्यास : गोपाल राय
६- आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण : रमेश कुन्तल मेघ
७- आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास : अतुलवीर अरोड़ा
८- आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद : शिव प्रसाद सिंह
९- आधुनिक भावबोध की संज्ञा : अमृतराय
१०- आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी
११- आधुनिक हिंदी उपन्यास : (सं०) नरेन्द्र मोहन
१२- आस्था के चरण : नगेन्द्र
१३- आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश
१४- आलवाल : "अज्ञेय"
१५- इतिहास और आलोचना : नामवर सिंह
१६- इतिहास-चक्र : राम मनोहर लोहिया
१७- उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा : परमानन्द श्रीवास्तव
१८- उपन्यास : स्थिति और गति : चंद्रकांत बांदिवडेकर
१९- एक साहित्यिक की डायरी : गजानन माधव मुक्तिबोध
२०- क्योंकि समय एक शब्द है : रमेश कुंतल मेघ
२१- जयशंकर प्रसाद : नन्ददुलारे वाजपेयी
२२- प्रेमचंद : एक विवेचन : इन्द्रनाथ मदान
२३- प्रेमचंद की विरासत और अन्य निबन्ध : राजेन्द्र यादव
२४- प्रेमचंद पूर्व के कथाकार और उनका युग : लक्ष्मणसिंह बिष्ट
२५- प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य (उपन्यास) के सांस्कृतिक स्रोत (अप्रकाशित) : संसार देवी
२६- भवन्ती : "अज्ञेय"
२७- मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका : रमेश कुन्तल मेघ

२८- मेरी कहानी : जवाहर लाल नेहरू

२९- मेरी प्रिय कहानियाँ : उषा प्रियम्वदा

३०- रस-आखेटक : कुबेर नाथ राय

३१- रूसो की तीन कथाएं : रूसो

३२- लाला लाजपत राय : अलगूराय शास्त्री

३३- शब्द और स्मृति : निर्मल वर्मा

३४- साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचंद

३५- साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य : रघुवंश

३६- साहित्य-चिन्तन : इलाचंद्र जोशी

३७- हिन्द स्वराज्य : मोहनदास करमचंद गांधी

३८- हिन्दी उपन्यास : सुषमा धवन

३९- हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा : रामदरश मिश्र

४०- हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि : इन्द्रनाथ मदान

४१- हिन्दी उपन्यास-विवेचन : सत्येन्द्र

४२- हिंदी उपन्यास कोश(खण्ड १,२) : गोपाल राय

४३- हिन्दी नवलेखन : रामस्वरूप चतुर्वेदी

४४- हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल

४५- हिन्दी साहित्य का इतिहास : (सं०) नगेन्द्र

४६- हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास : हजारी प्रसाद द्विवेदी

४७- हिन्दी साहित्य का सर्वेक्षण (गद्य खण्ड) : विश्वम्भर 'मानव'

४८-हिन्दुस्तान की कहानी : जवाहर लाल नेहरू

(३) पत्रिकाएं

आलोचना , कल्पना , समीक्षा , नई कविता , क. ख. ग. , दिनमान , अणिमा , साप्ताहिक हिन्दुस्तान , धरातल ।

(४) अंग्रेजी पुस्तकें

१- रलीजन एण्ड एलिएनेशन - पैट्रिक मास्टर्सन

२- इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, खण्ड १

३- इनसाइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइंसेज, खण्ड १

४- एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमन इमोशंस - सार्त्र

५- कीवर्ड्स - रेमण्ड विलियम्स

६- मैन अलोन : एलिएनेशन इन द माडर्न सोसायटी - सं० एरिक और मैरी जोसेफसन

७- द इसेन्स आँव क्रिश्चियानिटी - फायरबाख, अनु० (जार्ज इलियट)

८- द आउट साइडर - कॉलिन विल्सन

९- इलाहाबाद युनिवर्सिटी मैगजीन

० ० ०